Ph.D THESIS

"पारिस्थितिक स्त्रीवाद के संदर्भ में समकालीन हिन्दी उपन्यासः एक अध्ययन"

PARISTHITIK STREEVAD KE SANDARBH MEIN SAMAKALEEN HINDI UPANYAS: EK ADHYAYAN

Thesis
Submitted to

Cochin University of Science and Technology

For the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

In

HINDI

Under the Faculty of Humanities

By

जी. सुजिदा

G. SUGIDA

Dr. K. VANAJA
Supervising Teacher
Professor & Head

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi - 682 022

December 2015

Certificate

This is to certify that this thesis entitled **"PARISTHITIK STREEVAD KE SANDARBH MEIN SAMAKALEEN HINDI UPANYAS: EK ADHYAYAN"** is a bonafide record of research work carried by **Mrs. G. Sugida** under my supervision for Ph.D (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university. All the relevant corrections and modifications suggested by the audience during the pre-synopsis seminar and recommended by the Doctoral committee of the candidate has been incorporated in the thesis.

Prof. & Head (Dr.) K. VANAJA
Department of Hindi
Cochin University of Science & Technology
Kochi - 682 022

Place: Cochin

Date : /12/2015

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis entitled **PARISTHITIK STREEVAD KE SANDARBH MEIN SAMAKALEEN HINDI UPANYAS: EK ADHYAYAN** based on the original work done by me under the guidance of **Dr. K. VANAJA**, Professor & Head, Dept. of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin - 682022 and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any other university.

G. SUGIDA
Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Kochi - 682 022

Place: Cochin

Date : /12/2015

पुरोवाक्

पुरोवाक्

साहित्य समाज का दस्तावेज है । इसलिए समाज का प्रत्येक जीता जागता, देखा अनदेखा, सच-झूठ इन सब की प्रतिध्वनि साहित्य की धमनियों से परखी जा सकती है । समाज में औद्योगिकीकरण ने विकास के नाम पर जो शोषण किया है, उसका ब्यौरा साहित्य में भली-भान्ति दिखाई देता है । औद्योगिकीकरण ने विकास के नाम पर पूरे परिवेश को अपने अधीन कर लिया है । जिसमें संस्कृति व सभ्यता भी अधीनस्थ हो गई हैं । हमारी संस्कृति सर्जनात्मक है, इसमें किसी के विनाश की सोच नहीं । वह सबको साथ लेकर चलने वाली है । लेकिन औद्योगिकीकरण की संस्कृति ने इस सोच पर पर्दा डाल दिया है । औद्योगिकीकरण की इस नीति में पुरुष समर्थ है । वह इस पुरुषवर्चस्ववादी समाज में और अधिक बलवान बन गया है । इसलिए आज प्रकृति और स्त्री दोनों एक साथ संकट की स्थिति से गुज़र रही हैं । दोनों का शोषण पुरुष खुलेआम कर रहा है । सत्य यह है कि यदि प्रकृति व स्त्री का अस्तित्व संकट में आ जाएगा तो अपने आप यह पृथ्वी विनाश के तांडव को जन्म देगी ।

स्त्री ने इस संकट पूर्ण अवस्था को समझ लिया है, क्योंकि स्त्री और प्रकृति दोनों समानधर्मी हैं । इसलिए वह अपने साथ शोषित हो रही इस प्रकृति को बचाने के लिए उठ खडी हुई है । उसने अपने आपको, पृथ्वी को, पृथ्वी की अन्य शोषित जातियों को, नस्लों, जीवन-जन्तुओं तथा गरीबों को इस पूँजीवादी सत्ता की गलत व्यवस्था से बचाने का यह एक आन्दोलन के

रूप में विश्व भर में ज़ोर पकडने लगा । लेकिन समकालीन दौर में यह विचार साहित्य में प्रतिबिंबित हुआ । यह स्त्री विमर्श और पारिस्थितिक विमर्श को मिलाकर एक नए विमर्श में परिणित हो गया । इसे **इकोफेमिनिज़म** अथवा **पारिस्थितिक स्त्रीवाद** नाम से अभिहित किया जाता है ।

इस प्रासंगिक विषय को लेकर हिन्दी साहित्य में आज चर्चायें शुरु हुई। इसलिए समकालीन उपन्यास में पारिस्थितिक स्त्रीवाद को खोजने की कोशिश है मेरा यह शोध प्रबंध ।

मेरा शोध विषय है **"पारिस्थितिक स्त्रीवाद के संदर्भ में समकालीन हिन्दी उपन्यास: एक अध्ययन।"** अध्ययन की सुविधा के लिए इसे पाँच भागों में विभक्त किया गया है ।

पहला अध्याय है **'पारिस्थितिक स्त्रीवाद का सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक सर्वेक्षण'** इसमें पारिस्थितिक स्त्रीवाद के स्वरूप व उसकी परिभाषा पर विचार किया गया है । साथ ही भारतीय व पाश्चात्य पारिस्थितिक स्त्रीवाद पर दृष्टि डाली गई है । साहित्य में पारिस्थितिक स्त्रीवाद के नए कदम पर गहराई से विचार हुआ है । साहित्य के अन्तर्गत कविता, कहानी व उपन्यास पर चर्चा की गई है । पहले अध्याय के अंत में प्रमुख उपन्यासों को परखने की कोशिश की गई है, जिसमें पारिस्थितिक स्त्रीवाद के लक्षण निहित हैं ।

दूसरा अध्याय **'पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में स्त्रीवाद है'**

इस अध्याय के अन्तर्गत लिंग भेद की राजनीति का प्रतिरोध जताने की कोशिश हुई है । साथ ही स्त्री अस्मिता की पहचान के विविध आयामों को भी समझने का प्रयास किया गया है । स्त्री की आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक अस्मिता को तलाशते हुए, उसे पारिस्थितिक सजगता से भी जोडा गया है ।

'समकालीन पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में पारिस्थितिकी' तीसरा अध्याय है । इस अध्याय में पारिस्थितिक विमर्श एवं पारिस्थितिक स्त्रीवाद के बीच के संबंध को पहचानने की कोशिश हुई है । इसमें पर्यावरण संकट में सामाजिक, जैविक एवं सांस्कृतिक संकट पर सूक्ष्मता से प्रकाश डाला गया है । पारिस्थितिकी पर विस्तार से चर्चा इस अध्याय में हुई है ।

चौथा अध्याय **'समकालीन पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में अन्य हाशियेकृतों की अस्मिता'** है । इस अध्याय के अन्तर्गत हाशियेकृतों के विभिन्न रूप जैसे आदिवासी, दलित, व अल्पसंख्यकों पर विस्तार से समझने का प्रयास किया गया है । साथ ही विस्थापितों की त्रासदी वृद्ध जनों की अस्मिता आदि के प्रति स्त्री की चिंता और उन्हें बचाने की कोशिश जाहिर है । हाशियेकृतों के उन्मूलन से लेकर अनुकूलन तक की यात्रा को भी विस्तार से इस अध्याय में विचार किया गया है ।

पाँचवाँ अध्याय **'पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों की हरित भाषा'** है। इस के अन्तर्गत प्रकृति और भाषा के आन्तरिक संबंध को परखने की कोशिश की गई है । इसमें स्त्री की भाषा और शोषण के खिलाफ उठती

भाषा को दर्ज किया गया है । साथ ही विकास के खिलाफ उठते शब्दों को भी इसमें स्थान दिया गया है । इस अध्याय में हरित भाषा की विशेषता पर प्रमुख रूप से विचार किया गया है ।

अंत में **उपसंहार** है । इस में इन पाँच अध्यायों के विश्लेषण के निचोड को रखा गया है । जो इस शोध का सारतत्व भी है ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष डॉ. के. वनजा जी के निर्देशन एवं निरीक्षण में तैयार किया गया । समय-समय पर मिले उनके बहुमूल्य सुझावों ने ही मेरे इस शोध कार्य को सुचारु रूप से संपन्न कराया । उनका इस विषय का गहरा पांडित्य ही मेरे इस शोध का मार्गदर्शन बना । मैं उन्हें विशेष रूप से हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करती हूँ ।

मानविकी संकाय के अध्यक्ष और मेरे डॉक्टरल कमिटि के विषय विशेषज्ञ डॉ. एन. मोहनन जी की प्रेरणा, मार्गदर्शन और प्रोत्साहन, मुझे निरन्तर मिलता रहा है । उनके प्रति भी मैं विशेष रूप से हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ ।

हिन्दी विभाग के अन्य आदरणीय गुरुजनों के प्रति भी मैं आभारी हूँ कि वे मुझे निरन्तर प्रोत्साहन देते रहे हैं ।

पुस्तकालय के कर्मचारियों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ ।

मैं अपने मित्रों एवं शुभचिंतकों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मेरी मदद की, विशेष रूप से सरिगा, गीतू, रश्मि और सजना के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ ।

इस अवसर पर मैं अपने माता-पिता और परिवार के अन्य सभी सदस्यों के प्रति विशेषकर अपने पति और अपनी बच्ची के प्रति कृतज्ञता अर्पित करती हूँ ।

यह शोध प्रंबंध मैं अपने सबसे अज़ीज मित्र शिल्पा पी.बी को समर्पित करती हूँ । जो आज भी हमारी यादों में ज़िंदा है और हमेशा ज़िंदा ही रहेगी । सर्वोपरी ईश्वर के प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिनकी कृपा से मेरा यह शोध कार्य बिना किसी रूकावट के संपन्न हुआ ।

मैं यह शोध प्रबंध सविनय विद्वानों के सामने प्रस्तुत कर रही हूँ । त्रुटियों एवं कमियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ ।

सविनय

सुजिदा

शोध छात्रा
हिन्दी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोच्चिन - 682 022

तारीख :

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय 1-77

पारिस्थितिक स्त्रीवाद का सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक सर्वेक्षण

पारिस्थितिक स्त्रीवाद का स्वरूप - पारिस्थितिक स्त्रीवादः अर्थ एवं परिभाषा-पारिस्थितिक स्त्रीवाद की रूप रेखा-पारिस्थितिक स्त्रीवाद के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण-प्रमुख पाश्चात्य इको फेमिनिस्ट- पारिस्थितिक स्त्रीवाद के प्रति भारतीय दृष्टिकोण - पारिस्थितिक स्त्रीवाद की दृष्टियाँ-अध्यात्मिक दृष्टि-नारीवादी दृष्टि (लिबरल फेमिनिज़्म, रेडिकल फेमिनिज़्म, सोश्यलिस्ट फेमिनिज़्म, मनोविश्लेषणात्मक स्त्रीवाद) पारिस्थितिक दृष्टि - (पारिस्थितिक दर्श -गहन पारिस्थितिकवाद - सामाजिक पारिस्थितिवाद - पारिस्थितिक समाजवाद-पारिस्थितिक स्त्रीवाद) - समकालीन साहित्य में पारिस्थितिक स्त्रीवाद - हिन्दी में पारिस्थितिक स्त्रीवाद - पारिस्थितिक स्त्रीवाद के संदर्भ में समकालीन हिन्दी कविता - समकालीन कहानी में पारिस्थितिक स्त्रीवाद - समकालीन उपन्यास में पारिस्थितिक स्त्रीवादी चिंतन

दूसरा अध्याय 78-161

पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में स्त्रीवाद

स्त्रीवाद और पारिस्थितिक स्त्रीवाद के बीच का संबंध - लिंगभेद की राजनीति का प्रतिरोध - स्त्री अस्मिता की पहचान - स्त्री अस्मिता की पहचान के विविध आयाम - वैयक्ति अधिकार और अस्मिता - व्यक्ति की स्वतंत्रता - लैंगिक अधिकार - वेशभूषा का अधिकार - वैयक्तिक

अस्मिता की पहचान - तलाक का अधिकार-वैयक्तिक स्वतंत्रता का अधिकार - देह बोध से मुक्ति का अधिकार - प्रेम की अवधारणा और स्त्री अस्मिता - मातृत्व का अधिकार - सामाजिक अधिकार एवं अस्मिता - स्त्री शिक्षा और अधिकार - स्त्री की सामाजिक प्रतिबद्धता - स्त्री पुरुष संबंध और अधिकार - पारिवारिक अस्मिता - शोषक व्यवस्था का विरोध - पूँजीवादी संस्कृति का विरोध - सांस्कृतिक वर्चस्व का विरोध - असमाजिक कूरीतियों का विरोध - शराब की रोकथाम का अभियान - बलात्कार का विरोध - आर्थिक अस्मिता और अधिकार - लिंग के आधार पर श्रम विभाजन - स्त्री श्रम का मूल्य - पारिवारिक श्रम - संपत्ति का अधिकार -अर्थ सत्ता और स्त्री मुक्ति - राजनैतिक अधिकार एवं अस्मिता - आरक्षण का प्रश्न - निर्वाचित होने का अधिकार- मत देने का अधिकार

तीसरा अध्याय 162-227

पारिस्थितिक स्त्रीवाद उपन्यासों में पारिस्थितिकी

पारिस्थितिक विमर्श एवं पारिस्थितिक स्त्रीवाद - जैविक संकट - जीव-जंतु का शोषण - वनस्पति जगत् की मृत्यु - सामाजिक संकट - फैक्टरी का विरोध-जंगल की सुरक्षा - वृक्षों का संरक्षण - बाँध के खिलाफ - औद्योगिकीकरण और पारिस्थितिकी - शोषित होती नदियाँ - सांस्कृतिक संकट - लोक से जुडी संस्कृति-सभ्यता और परंपरा में आए बदलाव - प्रकृति से घुली जीवन शैली - उत्सव व त्योहारों के विभिन्न रूप - लोक गीतों और हस्तकला का लोप - जनसंख्या एवं पर्यावरण संकट - प्राकृतिक आपदाएं - मानवीय मूल्यों का विघटन - जीवनदायिनी शक्तियों का संकट - प्राकृतिक और खनिज संपदाओं का संरक्षण

चौथा अध्याय 228-274

पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में अन्य हाशियेकृतों की अस्मिता

समकालीन हिन्दी उपन्यास और अन्य हाशियेकृत - हाशियेकृतों से अभिप्राय - हाशियेकृतों के विभिन्न रूप - आदिवासी - दलित - अल्पसंख्यक - सामाजिक अस्मिता का संकट - विस्थापन की त्रासदी - आदिवासी - दलित - वृद्ध जनों की अस्मिता का प्रश्न - अल्पसंख्यकों से जुडे प्रश्न - मछुआरों का संकट - कश्मीरि हिन्दू का संकट - वेश्या समाज से जुडे प्रश्न - अन्य अल्संख्यक वर्ग, सांस्कृतिक अस्मिता का संकट - कृषि भूमि से अलग होती संस्कृति - पुश्तैनी धंधों से अलगाव - लोक संस्कृति का ह्रास - उन्मूलन से अनुकूलन तक - धार्मिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में हाशियेकृतों की समस्या

पाँचवाँ अध्याय 275-314

पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों की हरित भाषा

हरित भाषा से अभिप्राय -समकालीन उपन्यासों में प्रकृति और भाषा का आंतरिक संबंध - उपन्यास में स्त्री की भाषा - विकास से उत्पन्न प्रकृति विरोधी भाषा - विकाश के खिलाफ उठते शब्द - स्त्री विरोध की भाषा -जातियों और जनजातियों के शोषण के लिए प्रयुक्त भाषा - नवमानवीय मूल्यों के रूपायन में हरित भाषा

उपसंहार 315-325

परिशिष्ट 326

सन्दर्भ ग्रंथ सूची 327-346

पहला अध्याय

पारिस्थितिक स्त्रीवाद का सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक सर्वेक्षण

पारिस्थितिक स्त्रीवाद का सैद्वान्तिक एवं ऐतिहासिक सर्वेक्षण

साहित्य समाज का दस्तावेज़ है । समाज की व्यवस्था, मूल्य पद्धति, सौन्दर्य-अनुभूति, जीवन-दर्शन, इतिहास-दृष्टि, मानवीय-अन्तर्संबंध यह सब पहलू साहित्य से जुडे हुए हैं । साहित्य की हर विधा में इन पहलुओं की चर्चा व्यापक है । समाज का प्रत्येक जीता-जागता, देखा-अनदेखा, सच-झूठ इन सब की प्रतिध्वनि साहित्य की धमनियों से परखी जा, सकती है । साहित्यकार का संबंध भी सीधे समाज से जुडा है, उसी में से वह जीवन सत्य और जीवन मूल्यों की खोज करता है । उसकी विसंगतियों और अन्तर्विरोधों से उसकी अनुभूति उद्धेलित होती है । वह हज़ारों तन्तुओं से जीवन से जुडा होता है, प्रकृति से, परिवेश से, सामाजिक बंधनों से, दायित्वों से, संस्कारों से, मान्यताओं से ।

समकालीन हिन्दी साहित्य भी इन्हीं तन्तुओं के संबंधों का परिणाम है। समकालीनता का अर्थ है समय के साथ चलना । समय के साथ चलकर, उस समय की असंगतियों को समझकर परखना ही समकालीन साहित्य है । समकालीनता की पहली कडी आधुनिकता है । आधुनिकता में केन्द्रीकरण की गूंज थी जो समकालीनता में विकेन्द्रीकरण के विस्फोट में तब्दील हो गई। समकालीनता ने हर विमर्श को अपनी आवाज़ दी है । समकालीन साहित्य का मुख्य स्वर मानवीयता की उज्ज्वलता है । नव मानवीयता ही

समकालीन साहित्य का उद्देश्य है अर्थात् अन्य हाशियेकृतों जैसे अल्पसंख्यक, पिछडे लोग, स्त्री, दलित, प्रकृति जो शोषण की अवस्था से गुज़र रहे हैं उनको शोषण से मुक्त कर नवमानवीयता की स्थापना करके, समाज में हर वर्ग के लोगों को समान अधिकार दिलवाना । डॉ. एन. मोहनन के अनुसार 'समकालीनता एक ठहरी हुई, गतिहीन और जड स्थिति नहीं है बल्कि ठहराव, गतिहीनता और जड़ता को सहती और निर्ममता से तोडनेवाली गतिमान ऐतिहासिक प्रक्रिया और चेतना है ।"[1]

समकालीनता में प्रतिरोध का स्वर है । यह प्रतिरोध समाज की विकट विषम परिस्थितियों में भी अपनी आवाज़ बुलंद रखता है । डॉ. उषा सिन्हा लिखती है कि "समकालीनता का तात्पर्य किसी भी काल विशेष में मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों और उलझनों का मात्र चित्रण नहीं करता बल्कि उन स्थितियों और समस्याओं के कारणों को समझकर विषम परिस्थितियों में भी उसका सामना करने का विवेक उत्पन्न करना है ।"[2] समकालीनता मात्र समसामयिक संदर्भ में जीना नहीं बल्कि अपने समय के स्पन्दनों की सही पहचान कर सार्थक प्रतिरोध करना भी है।

हिन्दी का समकालीन साहित्य अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों के साथ संघर्ष कर समाजिक सरोकार रखने वाला साहित्य है ।

---

1. डॉ. एन मोहनन - समकालीन हिन्दी उपन्यास, पृ. 21
2. डॉ. उषा सिन्हा - निर्वासन और समकालीन उपन्यास - पृ. 9

उपन्यास में इस समाजिक सरोकार की प्रतिबद्धता कहीं अधिक झलकती हुई दिखाई देती है । उपन्यास का व्यापक फलक इस सरोकार की पृष्ठभूमि को तैयार करने में सक्षम साबित होता है । उपन्यास के संबंध में मृदुला गर्ग लिखती हैं कि "उपन्यास वह शहर होता है, जिसका प्रवेश द्वार भीतर घूसने के बाद, बंद हो जाता है । बाहर निकलने के लिए दरवाज़ा ही नहीं, रास्ता भी तलाश करना पडता है । बल्कि, ज़मीन खोदकर, झाड-झंकार साफ करके, खुद बनाना भी पडता है । सीधे रास्ते से जाकर, सीधे रास्ते लौट आने का काम, पर्यटकों का होता है, उपन्यासकारों का नहीं।"[1]

उपन्यास जीवन की एक उज्ज्वल पुस्तक है । उपन्यास समूचे जीवन का सारतत्व भी हो सकता है । शशिकला राय लिखती हैं कि "उपन्यास मानव जीवन के स्वप्न की यथार्थ अभिव्यक्ति है जिसमें मनुष्य की अभिलाषाओं का संघर्ष है, भविष्य का आईना है । आज का युग प्रश्नों का युग है प्रश्नों का अंत नहीं है । जीवन के नित बदलते आयामों में नित-नए प्रश्न खडे हो जाते हैं, जिनका निदान रचे-रचाए, गढे-गढाए, पारंपरिक ढाचों के उत्तरों से संभव नहीं है अर्थात् युगीन प्रश्नों से जूझते हुए उत्तरों का संधान करने के लिए उपन्यासकार बने-बनाए औपन्यासिक फार्म को तोडता है ।"[2] उपन्यास में उभरते इन्हीं प्रश्नों को विमर्श के रूप में देखा जा सकता है । इनमें स्त्री

---

1. मृदुला गर्ग - चुकते नहीं सवाल, पृ. 13
2. शशिकला राय : कथा समय (सृजन और विमर्श) पृ. 90

विमर्श, आदिवासी विमर्श, दलित विमर्श, गांधी विमर्श, पारिस्थितिक विमर्श आदि कई विमर्श दर्ज हैं । समकालीन उपन्यास में हाशियेकृतों व अल्पसंख्यकों के अधिकारों की माँग भी निहित है । औद्योगिकीकरण व भूमंडलीकरण की नीति इस शोषण के पीछे अपना काम कर रही है । समकालीन उपन्यास में हाशियेकृतों व अल्पसंख्यकों के अधिकारों की मांग भी निहित है । औद्योगिकीकरण व भूमंडलीकरण की नीति इस शोषण के पीछे अपना काम कर रही है । समकालीन उपन्यास में हाशियेकृतों के इसी शोषण के खिलाफ प्रतिरोध की आवाज़ बुलंद होती है ।

समाज में औद्योगिकीकरण ने विकास के नाम पर पूरे परिवेश को अपने अधीन कर लिया है । जिसमें संस्कृति व सभ्यता भी अधीनस्थ हो गई है । हमारी संस्कृति सर्जनात्मक हैं इसमें किसी के विनाश की सोच नहीं है, वह सबको साथ लेकर चलने वाली है । लेकिन औद्योगिकीरण की संस्कृति ने इस सोच पर पर्दा डाल दिया है । इस कारण आज पृथ्वी विनाश के कगार पर खडी है । पृथ्वी व स्त्री दोनों समानार्थी है, दोनों का शोषण बडे पैमाने पर हो रहा है । औद्योगिकीकरण की इस संस्कृति में पुरुष समर्थ है, इस कारण पुरुषवर्चस्ववादी इस समाज में स्त्री व प्रकृति दोनों का अस्तित्व खतरे में आ गया है । ऐसी स्थिति में यदि पृथ्वी को विनाश से बचाना है तो स्त्री व प्रकृति के अस्तित्व को बचाना होगा । इस संदर्भ में स्त्री ने इस

संकटपूर्ण अवस्था को समझ लिया है, इसलिए उसने अपने आपको, पृथ्वी को, पृथ्वी की अन्य शोषित जातियों, नस्लों, जीवन-जन्तुओं तथा गरीबों को इस पूँजीवादी सत्ता की गलत व्यवस्था से बचाने का जिम्मा अपने ऊपर लिया है। पारिस्थितिक स्त्रीवाद के केन्द्र में स्त्री है वह अपने साथ शोषित हो रही प्रकृति को बचाना चाहती है । डॉ. के. वनजा इकोफेमिनिज़्म को इस प्रकार परिभाषित करती है "पृथ्वी और स्त्री को तथा अन्य उपेक्षित वर्गों को पितृसत्तात्मक पूँजीवादी शोषण से बचाने के लिए प्रकृति के साथ मिलकर जीने की जो नवीन विचारधारा फेमिनिज़्म और पारिस्थितिवाद दोनों के संयोग से रूपायित हुई उसे इकोफेमिनिज़्म कहा जाता है।"[1] परिणाम स्वरूप पारिस्थितिक स्त्रीवादी विमर्श अपने नए आयामों की राह तलाश रहा है । जिसमें वह एक हद तक सफल भी साबित हुआ है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद का स्वरूप

समसामयिक समाज में औद्योगिकीकरण व भूमंडलीकरण का जाल चारों ओर फैल चुका है । सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक इन सब क्षेत्रों में आधुनिकीकरण की नीति व्याप्त हो रही है । पुरुषवर्चस्ववादी इस समाज में, भूमंडलीकरण के दौर में पुरुष समर्थ है। पुरुष ने पहले तो स्त्री पर अपना अधिकार स्थापित किया और इस नीति में वह अब प्रकृति को भी अपने अधीन कर रहा है । अर्थात् पुरुष आज अपनी प्रकृत सहज संस्कृति

1. डॉ. के. वनजा, इकोफेमिनिज़म, पृ. 12

से बहुत दूर हो गया है । स्त्री व प्रकृति दोनों समानधर्मा है । दोनों ही एक दूसरे के पूरक है । एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना करना असंभव है । पुरुषवर्चस्ववादी इस व्यवस्था ने संपूर्ण पृथ्वी को विनाश के कगार पर खडा कर दिया है । स्त्री पृथ्वी के अस्तित्व को बचाना चाहती है अर्थात् पृथ्वी के समस्त लोग जो शोषित हैं, अल्पसंख्यक हैं, गरीब है, असहाय हैं, हाशियेकृत हैं इन सब को शोषण से मुक्त करवाने का आह्वान वह करती है । प्रकृति के शोषण के खिलाफ़ आज उसकी आवाज़ बुलन्द हो रही है । इकोफेमिनिज़म (पारिस्थितिक स्त्रीवाद) का मूल आधार यही है।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद पुरुष से स्त्री की समानता को तलाशने में नहीं, वह स्त्री के विमोचन की तलाश में है । स्त्री और प्रकृति के विमोचन से ही जैव व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था द्वारा मनुष्य जीवन में संतुलन स्थापित हो पाएगा । पारिस्थितिक स्त्रीवाद की शुरुआत पाश्चात्य देश में हुई । 19 वीं सदी में फ्रेंच महिला प्रान्स्वा द यूबोण ने पारिस्थितिक स्त्रीवाद को एक दार्शनिक रूप दिया । पुरुषवर्चस्ववादी समाज में प्रकृति का शोषण, स्त्री का शोषण, आदिवासी शोषण यह सब पुरुष की गलत व्यवस्था के उदाहरण है। यह उदाहरण समाज में कल भी व्याप्त थे और आज भी कायम है । स्त्री यदि इस अस्तित्व की लडाई लडना चाहती है और प्रतिरोध करना चाहती है तो उसे अपनी भूमि की ज़रूरत है, और उससे भी अधिक इस प्रकृति की।

मलयालम रचनाकार सारा जॉसफ लिखती है कि "स्त्री का विमोचन मात्र उसके अकेला का नहीं बल्कि इस संपूर्ण मनुष्य राशि का विमोचन है । स्त्री जब विमोचित होती है तो उसके साथ हाशियेकृत, अल्पसंख्यक, वर्ग-वर्ण से शोषित आदिवासी, संपूर्ण प्रकृति भी विमोचन की पात्र बनती है ।"[1] स्त्री के विमोचन के साथ दरिद्र जन, हाशियेकृत व शोषित होती प्रकृति भी जुडी है। यह उसके अस्तित्व की राजनीति है । इस अस्तित्व की राजनीति में प्रकृति को सहज बनाए रखना, उस प्रकृति को कायम रख कर पूर्ण जैविक व्यवस्था को बचाए रखना स्त्री का जिम्मा है । डॉ. के. वनजा लिखती हैं कि "आकाश के नीचे जो शोषण के शिकार बनते हैं, उन सबको बचाकर एक संतुलित जीवन शैली को बनाने का प्रयत्न स्त्री द्वारा किया जा रहा है । वहाँ द्वन्द्व को स्थान नहीं, वहाँ समन्वय की दृष्टि है । वह किसी को केन्द्र में प्रतिष्ठित नहीं करती । लेकिन आज के विकट राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक माहौल में स्त्री और प्रकृति को गठित करना है । उसके लिए स्त्री को नेतृत्व में आना चाहिए ।"[2]

पुरुष सत्तात्मक पूँजीवादी व्यवस्था में जो भी शोषण का शिकार है, उसे शोषण से मुक्त करवाना ही इकोफेमिनिज़्म का लक्ष्य है । जहाँ संपूर्ण दुनिया को शोषण से बचाने का जिम्मा स्त्री ने अपने ऊपर लिया है तो पुरुष को भी इस पूँजीवादी व्यवस्था के चंगुल से बचाने का दायित्व स्त्री पर ही है।

1. सारा जोसफ - आत्मरोषकलुम - पृ. 12
2. डॉ. के. वनजा - इकोफेमिनिज़म, पृ. 54

मार्क्स ने मज़दूर को जो दायित्व सौपा था आज वही दायित्व इकोफेमिनिज़्म की दृष्टि से नारी को सौंपा गया है । मौन बसंत, ग्रीन पीस बेल्ट चिपको आन्दोलन, नर्मदा बचाओं आन्दोलन, प्लाच्चिमडा में संपन्न आन्दोलन यह सब स्त्रियों के नेतृत्व में हुए हैं । इन आन्दोलनों में स्त्रियों ने मात्र प्रकृति की रक्षा का आह्वान नहीं किया बल्कि उससे जुडे हर वर्ग को मुक्त भी करवाया। मेधा पाटकर, वंदना शिवा, वंगारी मेथाई, रेचलकर्सन, महाश्वेता देवी, अरुधति रॉय मैल्लमा आदि को इकोफेमिनिस्ट कहा जा सकता है । इस प्रकार पाश्चात्य देश और भारत में इकोफेमिनिज़्म का स्वरूप दिन प्रति दिन निखर रहा है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवादः अर्थ एवं परिभाषा

पारिस्थितिक स्त्रीवाद जिसे इकोफेमिनिज्म भी कहा जाता है । इस इकोफेमिनिज़्म की विचारधारा पाश्चात्य देश में पनपी, यह शब्द अंग्रेज़ी का है । जिसे बाद में पारिस्थितिक स्त्रीवाद के नाम से हिन्दी साहित्य में स्वीकारा जाने लगा । इको-फेमिनिज्म शब्द दो शब्दों के योग से बना है । जैसे इको और फेमिनिज़्म । इस शब्द में इकोलॉजी (Ecology) का अर्थ है 'घर' जिसे 'OIKOS' नामक ग्रीक शब्द से लिया गया है । 'फेमिनिज्म' स्त्री विमर्श या स्त्रीवाद का अर्थ ग्रहण किए हुए है । अर्थात् स्त्री अपने विमर्श के साथ-साथ पर्यावरण या पर्यावरण से जुडे विमर्श पर भी विचार प्रस्तुत करें

। 19 वीं शताब्दी में प्रमुख पर्यावरणवादी एलन स्वार्ले नामक स्त्री ने घर एवं पर्यावरण के संबंधों पर सर्वप्रथम विचार किया । उनका मानना है कि पृथ्वी और घर ऐतिहासिक दृष्टि से स्त्री से ज़्यादा संबद्ध है । बच्चों का जन्म और उसका पालन पोषण आदि से स्त्री में जो मानसिक स्थिति उत्पन्न होती है, वह प्रकृति के साथ उसे मिला देती है ।

मेरी मेल्लारे के अनुसार 'इको फेमिनिज्म एक आन्दोलन है जो प्राकृतिक संसार के नाश एवं अवमूल्यन तथा स्त्रियों की अधीनता एवं गुलामी को संबद्ध करके देखता है । इकोफेमिनिज़्म एक एक्टिविस्ट और अकादमिक आन्दोलन है वह प्रकृति के ऊपर के आधिपत्य और स्त्री के शोषण को संबद्ध करके आलोचना करता है । इसने 1980 और 1990 के निरायुधीकरण, पर्यावरण और लेसबियन फेमिनिज्म आदि आन्दोलनों से विकास प्राप्त किया है ।

नेस्त्रा किंग के अनुसार इकोफेमिनिज्म संबंधों और संपूर्णता के सिद्धान्त का प्रयोग है । यह प्रत्येक जीवन की विशेष शक्ति और अस्मिता पर बल देता है । हम स्त्री केन्द्रित आन्दोलन पर विश्वास करते हैं । हमने पृथ्वी और पृथ्वी के जीव-जन्तुओं का जो नाश कॉरपोरेट शक्तियों द्वारा हुआ है उसे समझा और इसके साथ हुए आवणिक धमकियों पर भी गौर किया है। पुरुष मानसिकता का हमारे शरीर और लिंग पर जो अधिकार है, इसका निषेध करते है ।

अन्य परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है- Ecofeminism is based on the theory that the oppression of women and the oppression of nature are fundamentally linked. In Ecofemisist literature, ecofeminism is often described as the belief that environmentalism and Feninism are intrinsically connected.

पाश्चात्य कारन वारन इकोफेमिनिस्ट हैं, उनके अनुसार प्रकृति और स्त्री पर पुरुष के आधिपत्य की आलोचना तथा प्रकृति और स्त्री के संबंध में लिंगातीत एक नीतिशास्त्र है इकोफेमिनिज्म। स्त्री और प्रकृति को केन्द्र में प्रतिष्ठित एक वैश्विक विचारधारा है इकोफेमिनिज़्म ।

हिन्दी साहित्य की प्रमुख लेखिका कात्यायनी इकोफेमिनिज्म को स्त्री-प्रश्न की अगली कड़ी मानती है । उनके अनुसार इकोफेमिनिज़्म एक दूसरे ढंग का स्त्री विमर्श है । जिसमें एक नए विमर्श का एजेण्डा बदला गया है। उनका मानना है कि "एक ही साथ पुरुष वर्चस्वाद के भौतिक आधार और पर्यावरण विनाश के लिए जिम्मेदार सामाजिक शक्तियों की पहचान को धूमिल करते हुए पूँजीवादी नारीवादी चिंतन और सुधारवादी पर्यावरणवादी चिंतन को मिलाकर 'इकोफेमिनिज़्म' का माजून तैयार किया गया है ।"[1] वंदना शिवा और मारिया माईस जो इकोफेमिनिस्ट है उनका मानना है कि सर्वत्र स्त्री ही पारिस्थिति विनाश का विरोध करती है । पुरुष सत्तात्मक

1. कात्यायनी - दुर्गद्वार पर दस्तक, पृ. 55

समाज में पुरुष और प्रकृति तथा पुरुष और स्त्री के बीच में एक शोषण परक आधिपत्य का संबंध है । इकोफेमिनिज्म इस शोषण परक संबंध को शोषण से मुक्त करवाने का काम कर रहा है । इसलिए इकोफेमिनिज़्म एक नया पद है, यह प्राचीन पर विजय के लिए प्रस्तुत है । यह 1970 और 1980 में नारीवादी, शांति और पर्यावरण जैसे कई समाजिक आन्दोलनों से उभरा है। उत्तर भारत की वंदना शिवा ने स्त्री और प्रकृति को एक साथ रखकर जांचा व परखा है । अमेरिका व भारत में वंदना शिवा द्वारा पारिस्थितिक स्त्रीवाद पर काम हो रहा है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद पर विचार करते हुए डॉ. के. वनजा लिखती है "पृथ्वी और स्त्री को तथा अन्य उपेक्षित वर्गों के पितृसत्तात्मक पूंजीवादी शोषण से बचाने के लिए प्रकृति के साथ मिलकर जीने की जो नवीन विचारधारा फेमिनिज़्म और पारिस्थितिकवाद दोनों के संयोग से रूपायित हुई उसे इकोफेमिनिज़्म कहा जाता है ।"[1]

फ्रांस्वा द यूबोण ने इकोफेमिनिज्म को एक दार्शनिक रूप दिया वे इसे संपूर्ण मनुष्य के हित में रखकर देखती है । उनके अनुसार इकोफेमिनिज़्म का लक्ष्य स्त्री पुरुष भेद के बिना मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने, समझने और मानने वाले एक संसार के सृजन में है । यूबोण इस बात पर दृढ

---

1. डॉ. के. वनजा - इकोफेमिनिज़म. पृ. 12

विश्वास करती हैं कि स्त्रीवाद पर आधारित भूमि सबको सुरक्षा प्रदान करेगी।

उपर्युक्त परिभाषाओं या चिंताओं से यह बात साबित होती है पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था के आधीन समाज में पृथ्वी तबाह हो सकती है । संपूर्ण प्राणी मात्र को बचाना है तो स्त्री को यह जिम्मेदारी उठानी होगी । पूँजीवादी सत्ता के गल्त व्यवस्था से शोषित हो रही प्रकृति और उससे जुडे हाशियेकृतों को शोषण से मुक्त करवाने की आवाज़ इकोफेमिनिज़्म में बुलंद होती है, मुखरित होती है । स्त्री के समान प्रकृति भी स्त्रैण है, इसलिए पुरुष दोनों को अपने आधीन कर लेता है । स्त्रौणता पर बल देने के साथ पुरुषाधिपत्य उपासना-संप्रदाय का प्रतिरोध भी करता है । इसके लिए नारीवाद और पारिस्थितिकी के लोगों को एकत्र होना चाहिए । तभी इकोफेमिनिज़्म अपना लक्ष्य प्राप्त करेगा ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद की रूपरेखा

पारिस्थितिक स्त्रीवाद संपूर्ण दुनिया को बचाने का मंत्र लेकर पाश्चात्य देशों में पनपा और आज यह भारत में भी अपनी जडें कायम कर चुका है। विकास के नाम हो रहे अंधाधुंध शोषण के कारण इस सिद्धान्त की अनिवार्यता बढ गई है । पाश्चात्य देशों के साथ अन्य विकासशील देशों में भी आज विकास के नाम पर जो दोहन हो रहा है इसको समाप्त करना मनुष्य के लिए अनिवार्य हो गया है । जहाँ तक प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध

दुरुपयोग का सवाल है तो यह काम पूँजीवाद अपने जन्म के साथ कर रहा है, लगभग पांच सौ वर्षों से । 15 वीं सदी के यूरोप में जिस पूँजीवाद का आरंभ हुआ और बाद की सदियों में उपनिवेशवाद के रूप में उसका दुनिया के विभिन्न महादेशों और देशों में विस्तार हुआ, उस पूरी प्रक्रिया में प्राकृतिक संसाधनों की लूट, विनाश और अंधाधुंध दुरुपयोग का काम होता रहा और उसका प्रकृति पर दुष्प्रभाव भी पडता दिखाई देता रहा । इसके परिणामस्वरूप यूरोप के अनेक वैज्ञानिकों ने अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में पूँजीवाद द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के दुरुपयोग अर्थात् जंगलों, पहाडों, नदियों, आदि पर कब्जा और उनके विनाश से उपजने वाले खतरों के बारे में सावधान किया है । साहित्य भी अब इस खतरे की चेतावनी से सजग हो रहा है । दुनिया को इस खतरे से बचाने का उत्तरदायित्व स्त्री अपने ऊपर लेती है क्योंकि स्त्री की भाषा प्रकृति से मेल खाती है । स्त्री संपूर्ण चराचर को उस के जीव-जंतुओं को एक साथ समरसता की डोरी में बाँधने के लिए समर्थ हुई है । स्त्री व प्रकृति पर केन्द्रित इकोफेमिनिज़्म (पारिस्थितिक स्त्रीवाद) इस सिद्धान्त का परिणाम है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद के इतिहास की रूप-रेखा भारतीय व पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से खींची जा सकती है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण

पारिस्थितिक स्त्रीवाद की शुरुआत पाश्चात्य देशों की देन है ।

पाश्चात्य देशों में उपजी यह विचारधारा पूरे संसार में अपने लिए जगह बना चुकी है । 'सीमोन द बुआर' जो आधुनिक फेमिनिस्ट हैं । उन्होंने भी स्त्री और प्रकृति को एक साथ जोडकर विचार किया ।

फ्रेंच-फेमिनिस्ट प्रान्स्वा द यूबोण ने इस विचारधारा को एक दार्शनिक व्याख्या दी । इससे पहले एक पाश्चात्य विचारक शुलमिथ फररस्टेन ने फेमिनिज़्म पर आधारित पारिस्थितिकी पर विचार किया था । इससे पहले प्रास्वा द यूबोण ने पारिस्थितिक स्त्रीवाद के लिए एक दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की थी "उनका यह विश्वास था कि स्त्रीत्व पर आधारित भूमि सबको सुरक्षा प्रदान करेगी । 1974 में फ्रेंच भाषा में रचित (Le Feminisme Oula mort) (Feminism or Death) नामक रचना में इको-फेमिनिज़्म का काल (The time for Ecofeminism) नामक शीर्षक अध्याय से पारिस्थितिक स्त्रीवाद का प्रारंभ माना गया ।

1962 में रचित, रेचल कर्सन की किताब मौन वसंत (The silent spring) ने पारिस्थितिकी विमर्श में एक नया अध्याय जोड दिया । उन्होंने अपनी इस रचना में एक काल्पनिक शहर की तस्वीर खीचते हुए लिखा था, 'अमरीका में एक शहर था, जहाँ जीवन और प्राकृतिक संपदा के बीच पूरा तालमेल था, फिर पता नहीं क्या हुआ, सब कुछ बदल गया, नन्हे-मुन्हे बच्चे जो पल-भर खेल-खूद रहे थे अचानक कराह करते हुए दम तोडने लगे,

तमाम जानवर और चिडियाँ, दम तोडने लगीं ।

एक सुबह आई जब एक भी चिडिया ने चहचहाना शुरु नहीं किया । चारों ओर सन्नाटा हो गया, जब धूप निकली तो तलाब की सारी मछलियां मर गईं, पेड-पौधे सूख गए । यह दृश्य, इस पर्यावरण के दुरुपयोग का परिणाम है । 'रेचल कर्सन' ने अमेरिका को इस रचना के माध्यम से यह समझाने की कोशिश की थी कि, वह प्रकृति से युद्ध नहीं कर सकता । कीटनाशों के प्रयोग से पैदावार की बढाने का उपाय आखिर सर्वनाश तक ही पहुँचेगा ।

यह बात हमें माननी होगी कि प्रकृति और जीवन ऐसे अद्‌भुत और जटिल तत्वों से बने हैं कि उनके साथ, किसी भी तरह की जबरदस्ती नहीं की जा सकती । कीटनाशों का प्रयोग हमारे अधूरे ज्ञान के स्पष्ट करता है। हमें जैवकीय तरीकों से अपने पैदावर को बढाना होगा, वही भविष्य के लिए रोशन होगा । इस संदर्भ में रेचल कर्सन की यह रचना पारिस्थितिक स्त्रीवाद की नई दिशा के रूप में सामने आती है ।

फ्रास्वा द यूबोण ने यह महसूस किया कि भूमि के नाश का प्रमुख कारक तत्व पुरुष ही है । पुरुषों के आक्रमण से ग्रसित इस भूमि और उस की मानवता को बचाने में स्त्री समर्थ है । यूबोण पारिस्थितिक स्त्रीवाद को संपूर्ण मानवीयता के रूप में देखती है । वे पुरुष के बदले स्त्री की प्रतिष्ठता

नहीं करना चाहती बल्कि उनका मकसद पुरुष केन्द्रित सत्ता और संरचना को शिथिल करना है । प्रान्स्वा ने लिखा कि स्त्रीत्व पर आधारित भूमि सबको सुरक्षा प्रदान करेगी । (And the planet placed in the Feminine will flourish for all)

बीसवीं शती के सातवें दशक में अमेरिका में भी इको-फेमिनिज़्म शुरू हुआ । ऐसा माना जाता है कि 'इको-फेमिनिज़्म' शब्द का अंग्रेज़ी में प्रथम प्रयोग सामाजिक इकोलॉजी के प्रवर्तक मुरे बुक्कचिन्न के जन्मस्थान वेरेमेंड में स्थापित 'Institute of Social Ecology' ने किया । उस संस्था ने 1976 में 'इको-फेमिनिज़्म' का पाठ्यक्रम चलाया । इसे चलाने का दायित्व पारिस्थितिक स्त्रीवाद की एक मुख्य दार्शनिक मेड़म नेस्त्रा किंग (Ynedra King) का था ।

1988 में 'ग्रीन बेल्ट' नामक योजना के तहत पारिस्थितिक स्त्रीवाद को एक नई दिशा देने का काम अफ्रीका की वान गारी मैथाय (Wan Gari Maathai) ने किया । अफ्रीका जैसे शहर में पारिस्थितिक के प्रति सजग होने का और महिलाओं को एकत्रित कर पौधों को रोपने का काम मैथाय ने बखूबी निभाया । (Green Belt) ग्रीन बेल्ट योजना का उद्देश्य महिलाओं की आर्थिक स्थिति को मज़बूत बनाने के साथ-साथ पारिस्थितिक वातावरण को भी संतुलित करना था । पारिस्थितिक स्त्रीवाद की मुख्य दार्शनिक नेस्त्रा किंग

(Ynestra King) ने 1981 में 'Feminism and Art' नामक रचना की। उन्होंने इको-फेमिनिज़्म को फेमिनिज़्म की तीसरी लहर माना ।" किंतु इको-फेमिनिज़्म एक साथ फेमिनिज़्म की पारिस्थितिक आलोचना और पारिस्थितिकी की नारीवादी अलोचना भी है ।

इकोफेमिनिज़्म के आंदोलन को आगे बढ़ाने के लक्ष्य में कई संगठन एवं संस्थाएं रूपायित हुईं । उनमें एक संस्था है 'फेमिनिस्ट इंस्टिट्यूट एंड़ वूमन एर्थ।' इसने इको-फेमिनिज़्म संबंधी बुनियादी चीज़ों के कई संग्रह प्रकाशित किए हैं । वे हैं स्टीफानी लीलान्ड और लियोनिक कालडीकोट द्वारा संपादित रीवयेंम द एर्य विमन स्पीक और फॉर लैफ ऑन एर्थ (1983), जूडिथ प्लेंट द्वारा संपादित 'हिलिंग द बूकः द प्रोमिस ऑफ इको-फेमिनिज़्म (1989), इरीन डयमेंड और ग्लोरिया ओरिस्टेन द्वारा संपादित 'रिवीविंग द वेल्डः द एमेरजेंस ऑफ इको-फेमिनिज़्म (1990)।

संपूर्णतः देखा जाए तो पाश्चात्य देशों ने पारिस्थितिक स्त्रीवाद को एक मज़बूत नींव प्रदान की है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद के इतिहास की भूमि पाश्चात्य देशों की विचारधारा से उर्वर हुई ।

प्रमुख पाश्चात्य इको-फेमिनिज़्म

पाश्चात्य इकोफेमिनिस्टों ने समय-समय पर अपने विचारों का संशोधन किया और पारिस्थितिक स्त्रीवादी विचारधारा को रूपायित किया । अमेरिका, अफ्रीका, फ्रांस, आदि राष्ट्रों में इस विचारधारा को एक नई दिशा मिली ।

प्रमुख पाश्चात्य इको फेमिनिस्ट विचारक हैं - मेरी रोस राडफोर्ट (Rosemary Radfort) इवोन गिबारा (Ivone Geebara) सूसन ग्रिफिन (Susan Grifin) आलीस वाकर (Alice Walker) स्टारहॉक (Starhawk) साली माकफॉग (Salle Mefague) लूइसाह टीश (Laisah Teish), सन अई ली-पार्क (Sun Ali Lee Park) पोला गन अलन (Paula Gunn Alle, मोनिका स्जू (Monica Sjoo), ग्रेटा गार्ड (Goeta Gard) करन वारेन (Karen Warren), आन्टी स्मिथ (Anti Smith) वंदना शिवा (Vandana Shiva) आदि।

अन्य इकोफेमिनिज्म लेखकों में रेचल कर्सन (Rachel Carson), पेट्रा कैल्ली (Petra Kelly), मेरी मेल्लोर (Maxy Mellor) बंगारी मेथाई (Wangari Maathai), मेरी माईस (Mary Mies) वल पल्मवुड (Val plumwood) प्रमुख हैं ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति प्रकृति की अवस्थिति से निर्मित है । यह संस्कृति मानव को प्रकृति के पास ले जाती है । जन-वन की सोच को एक करता है । भारतीय विश्वास में पृथ्वी को माता माना गया है । इसलिए पुराणों में माताःभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः कहा जाता है । डॉ. सुजाता बिष्ट लिखती है कि "पृथ्वी कोई एक वस्तु का नाम नहीं है । वह भूमि मात्र नहीं है; वह भूमा

है; एक पूरा परिवार है; एक पूरे परिवार की माँ है । जब वैदिक कार्यों ने कहा कि पृथ्वी हमारी माँ है और हम उसके पुत्र हैं तो उसके पीछे एक पूरी पारिवारिक अवधारणा थी । आज का पारिस्थितिकी विज्ञानी जब उसे एक समुदाय (Community) कहकर पुकारता है तो वहीं संकल्पना कार्य कर रही है ।"[1]

भारत में पारिस्थितिक स्त्रीवाद का महत्व कई गुणा बढ जाता है क्योंकि हमारी संस्कृति या परंपरा इस बात का सबूत प्रदान करता है कि स्त्री प्रकृति का ही एक रूप है । महाभारत में नदियों को विश्व की माता कहा गया है । दूसरी ओर मोहनजोदडों की खुदाई से प्राप्त एक मूर्ति स्त्री की कुक्षी-से उग आनेवाला वृक्ष है । यह पृथ्वी और स्त्री के आपसी संबंध का द्योतक है ।

भारत में पारिस्थितिक स्त्रीवाद चिंतन की धारा चिपको आंदोलन से शुरु होती है । 1973 में चिपकों आन्दोलन का उदय माना जाता है । चिपको का अर्थ आलिंगन करना है । इस आन्दोलन में पेडों को गले लगा कर स्त्रियों ने पेडों को कटने से बचाया । भारत में पारिस्थितिक स्त्रीवाद की यही शुरुआत मानी जाती है । गौरी देवी नामक स्त्री के प्रयासों से ही यह आंदोलन संपूर्ण माना गया है । टिहरी गढवाल की ग्रामीण स्त्रियों ने 1974

---

1. डॉ. सुजाता बिष्ट : पर्यावरण प्रदूषण और इक्कीसवीं सदी: पृ. 24

को सरकार द्वारा काटे जाने वाले पेडों को राखी बॉध उन्हें अपना भाई बनाया और सुरक्षा का वादा भी किया । सुन्दरलाल बहुगुणा का भी इस क्षेत्र में योगदान प्रशंसनीय है ।

"क्या है जंगल के उपकार
मिट्टी, पानी और बयार !
मिट्टी पानी और बयार
ËVÉnÉ ®ÝxÉÉ + ËVÉÉ"[1]

अप्पिको आन्दोलन भी पारिस्थितिक सजगता को रेखांकित करता है । चिपको की तरह ही इसका अर्थ भी आलिंगन करना है । कर्नाटक में उपजे इस आन्दोलन का मूल लक्ष्य भी पारिस्थितिक संतुलन था । यह आंदोलन भी पारिस्थितिक स्त्रीवाद के तहत गिना जाता है। क्योंकि इस आंदोलन में संपूर्ण जनता ने भाग लिया था । यह मानवता के लिए लडा गया आंदोलन था ।

केरल के प्लाच्चिडा नामक स्थान में आदिवासी मैलम्मा द्वारा चलाया गया आंदोलन भी पारिस्थितिक स्त्रीवाद की एक अलग कडी है । 2002 में इसकी शुरुआत मानी जाती है । केरल में सैलेंटवाली आंदोलन से लेकर प्रकृति संरक्षण तथा स्त्रियों, अनाथों के लिए काम करने वाली प्रमुख कवियत्री सुगतकुमारी भी इकोफेमिनिस्ट हैं । केरल के ही एक अन्य जिले

---

1. सुंदरलाल बहुगुणा - धरती की पुकार, पृ. 42

में हुए एन्डोसल्फान के उपयोग के खिलाफ लीलावती अम्मा ने अवाज़ उठाई। केरल जैसे राज्य में ऐसे कई उदाहरण है जो पारिस्थितिक स्त्रीवाद के अध्याय के रूप में जुड सकते हैं ।

1989 में हुआ नर्मदा बचाओ आंदोलन भी प्रकृति की सुरक्षा के लिए किया गया आंदोलन था । मेधा पाटकर ने इस आंदोलन में अपनी विशेष भूमिका निभाई । उनका यह आंदोलन संपूर्ण दुनिया में फैला और नर्मदा को बचाने की यह जदोजहद कुछ हद तक पूरी हुई । पारिस्थितिक स्त्रीवाद की इस विचारधारा में मेधा पाटकर की जदोजहद प्रमुख मानी जाती है ।

भारत में वंदना शिवा द्वारा इको-फेमिनिज़्म पर लगातार प्रयास किए जा रहे हैं । इससे जुडे कई आंदोलनों में इनकी भूमिका सक्रिय है । देश-विदेशी चर्चाओं में, सम्मेलनों में वंदना शिवा इको फेमिनिज़्म के सकारात्मक पक्षों पर टिप्पणी दे रही हैं । मारिया मैस (Maria Mies) से जुडकर इन्होंने 'इको-फेमिनिज़्म' नामक पुस्तक लिखी । वे विकास के नाम पर हो रहे विनाश की ओर संकेत करती हैं । विकास के नाम पर बांधों, खदानों और विद्युत निलय (Energy Plant) को आधार बनाया जा रहा है । उनके अनुसार मानव और प्रकृति का आपसी संबंध सरोकार समाप्त हो चुका है ।

---

1. आलोचना - अंक - 12, जन-मार्च 2003, पृ. 150

स्त्री की तन्मयता, सहजता और अहिंसा ही प्रकृति को मानव के करीब ला सकती है, ऐसी इनकी धारणा है जो पारिस्थितिक स्त्रीवाद की आधारशिला भी है ।

भारत में पारिस्थितिक स्त्रीवाद की आवश्यकता को रेखांकित किया जा रहा है । विकास के नाम पर विस्थापित जनता के लिए, शोषित-दमित और पीडित वर्ग के लिए पारिस्थितिक स्त्रीवाद की भूमिका सक्रिय है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद पूँजीवाद और युद्ध के खिलाफ है । वर्तमान में पारिस्थितिक स्त्रीवाद की जडें भारत में अपनी ज़मीन ढूँढ चुकी है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद की दृष्टियाँ

पारिस्थितिक स्त्रीवाद मुख्य रूप से तीन दृष्टियों में कार्य करता है । इन तीनों दृष्टियों के सहयोग से पारिस्थितिक स्त्रीवाद का रूपायन संभव होता है । आध्यात्मिक दृष्टि, नारीवादी दृष्टि, और पारिस्थितिक दृष्टि ये तीनों अलग-अलग रूप से विकसित हो कर पारिस्थितिक स्त्रीवाद से मिल जाते हैं । आगे इन तीनों दृष्टियों का विस्तार से विश्लेषण किया जाएगा ।

आध्यात्मिक दृष्टि

आध्यात्मिक दृष्टि पारिस्थितिक स्त्रीवाद का पहला चरण माना गया है । आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार संसार की सृष्टि जन्म-प्रक्रिया के समान

है, जिस प्रकार स्त्री बच्चों को जन्म देती है उसी प्रकार संसार ने भी सुन्दर, उर्वर, प्रकृति और प्राकृतिक संपदा की सृष्टि की है । इस प्रकार संसार की इस जीवन-प्रक्रिया में अहम् भूमिका स्त्री की है । स्त्रियाँ पृथ्वी की तरह ही जीवन को बुनती हैं । अतीत में, पृथ्वी और स्त्री के बीच के संबन्ध को स्वीकार किया गया था । इसका प्रभाव लगभग छः हज़ार वर्ष पूर्व मिलता है, उस समय मातृसत्तात्मक परिवार की संकल्पना थी । देवियों की उपासना भी प्रमुख थी । यह समाज युद्ध में विश्वास नहीं करता था । समाज में स्त्री और पुरुष समान थे । इस समाज में पुरुष मानसिकता भिन्न थी, वे स्त्रियों को अपने अधीन नहीं मानते थे । पृथ्वी को अपने आधीन करने की इच्छा भी उनमें नहीं थी । यह समाज स्वर्ण युग कहलाने का अधिकारी था । लेकिन बाद में पुरुष वर्चस्वाद ने सामाजिक व्यवस्था को अपने अधीन कर लिया और परिणाम स्वरूप पृथ्वी व स्त्री दोनों विनाश की स्थिति में खडी है ।

जिस पृथ्वी को देवी मान कर पूजा गया, पुरुष वर्चस्ववादी समाज में उस प्रकृति के साथ बलात्कार हो रहा है । वैज्ञानिक शक्तियों ने विकास के नाम पर पृथ्वी की आत्मा तक को रौंद डाला है । दूसरी ओर प्रौद्योगिकी के विकास से प्रकृति असंतुलित हो गई । औद्योगिक विकास ने नाना प्रकार के प्रदूषण को जन्म दिया है ।

धरती पर जीवन प्रकृति के संतुलन से ही संभव हो सका है । पहले

प्रकृति के विभिन्न तत्वों में संतुलन था । पहले धरती वनस्पतियों से भरी थी। यह धरती वनस्पतियों से पूरी तरह ढक न जाए, इसलिए घास खाने वाले जानवर पर्याप्त संख्या में थे और इन जानवरों की संख्या अधिक बढ न जाए, इसलिए हिंसक जंतु भी थे । इन तीनों का अनुपात संतुलित और नियंत्रित था । आधुनिक युग में वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण बडे पैमाने पर उद्योग धंधे पनपे हैं, जिनका प्राकृतिक पर्यावरण पर बडा असर पडा है । भारतीय विश्वास के अनुसार पृथ्वी माता है । पृथ्वी का प्रत्येक जीवन ईश्वर द्वारा निर्मित है । पृथ्वी ने ही सब जीवों को प्राण दिया है । इनके संतुलन से ही पृथ्वी का अस्तित्व बना रहेगा । ऋग्वेद में भी जीवों की रक्षा करने की बात पर जोर दिया गया है । भारतीय आस्था के अनुसार यह बात भी सामने आती है कि प्राचीन समय का मानव पृथ्वी से हर वस्तु की माँग करता था, उससे प्रार्थना करने के पश्चात ही उस वस्तु का ग्रहण करता था । अथर्ववेद में भी इस बात का उदाहरण मिलता है । जैसे पृथ्वी से खनिज लेने से पहले पृथ्वी से अनुरोध किया जाता था कि यदि हम पृथ्वी से खनिज खोंदे तो बाद में पृथ्वी पुनः खनिजों से भर जाए । मैं जो क्षति तुम्हें पहुँचाने जा रहा हूँ वह तुम्हारे हृदय तक न पहुँचें । उसी प्रकार वृक्षों से भी अनुमति ली जाती थी कि यदि मैं तुमसे एक पत्ता भी तोडूं तो मुझे क्षमा कर देना । इस प्रकार भारतीय विश्वास प्रकृति की सत्ता के रक्षक हैं । लेकिन आज विकास की नीति ने संपूर्ण नस्लों व जातियों को नष्ट कर दिया है या कर रहा है । दुनिया

भर में बडी तादाद में भूमि नष्ट हो रही है । वनों का कटाव भूमि पर जल का दुरुपयोग, तालाबों को विषलिप्त किया जा रहा है । पृथ्वी संकट की अवस्था तक पहुँच चुकी है । जिस पृथ्वी को देवी माना गया था आज वह देवी अपनी ही संतानों के कर्मों से दुखी है । पृथ्वी की पवित्रता नष्ट हो रही है । विकास ने पृथ्वी को मात्र वस्तु की संज्ञा दे दी है । आध्यात्मिक दृष्टि पर विचार करते हुए डॉ. के. वनजा लिखती हैं "भूमि केन्द्रित इस विश्वास के ज़रिए भूमि को बचाकर रखा जा सकता है । इसके लिए दो तरह का काम करना है । पहला है प्रकृति के साथ एक सामूहिक अवस्थिति को बनाना । स्त्रियों को समझना चाहिए कि पृथ्वी उनकी माँ है और उसके साथ निरंतर संबंध में रहना है । माँ के पोषण के लिए ऋतुओं की शास्त्रविधियों के ज़रिए एकता का नवीकरण किया जा सकता । हमें तो देखना चाहिए कि पक्षीगण और वृक्ष प्राकृतिक दुनिया में बहुत खुशी के साथ जिंदा रहते है । नगर जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था का केन्द्र है वहाँ भी पृथ्वी की उपासना करने का हृदय दिखाई देंगा । पर स्त्रियों को यह खुद अनुभव करने के साथ उसको दूसरी स्त्रियों के साथ बाँट देना चाहिए । इस प्रकार संपूर्ण विश्व में बहनाये का जाल बुनना ज़रूरी है ।"[1]

पाश्चात्य देशों की आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार पृथ्वी एक पवित्र जीव है । इसे देवता या गइया (Gaia) कहते हैं । गइया का संबंध प्राचीन

1. डॉ. के. वनजा, इको फेमिनिज़्म, पृ. 26

मध्य-पूर्व यूरोप, चैश्ना (चीन), दक्षिण एशिया के देवताओं की मूर्ति से है। गाइया (Gaia) के मिथक अनुसार पहले शून्य की स्थिति थी । यह स्थिति जन्म-मरण से रहित, स्थल-काल से रहित, रूप या स्थिति से रहित थी । इस, अनश्वर शून्यता में गइया नृत्य करती हुई आई और स्वयं वृत्ताकार के (गोल) रूप में रूपायित हो गई । उसने पर्वतों को अपने स्पैनल कॉड से, उसके माँस के शून्य से तराई और इस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग से संसार के सभी साधनों की सृष्टि की। अंत में उसके पेट से छ स्त्रियों और छः पुरुषों ने जन्म लिया । इस मिथक में स्त्री पृथ्वी है । इसलिए पृथ्वी को धात्री कहा गया ।

भारतीय और पाश्चात्य आध्यात्मिक दृष्टि में स्त्री प्रकृति है और प्रकृति स्त्री है । पाश्चात्य देशों में आध्यात्मिक दृष्टि की खूब चर्चा है । ऐरेन डयमंड (Irene Diamond) ग्लोरिया फेमान ओरिनस्टैन (Gloria Faman orinstan) अलेन स्मिम्मे स्प्रेटनेक, अबेट किंग आदि इस दृष्टि के समर्थक हैं ।

नारीवादी दृष्टि

नारीवादी दृष्टि में सभी जीव-जन्तुओं को तथा प्रकृति को समान अधिकार दिलाने की सोच सामने आती है । किंतु नारीवादी दृष्टि में नारी को भी शोषण से मुक्त करवाने का आह्वान है । नारीवादी दृष्टि में सबसे पहले

नारी को न्याय मिलना चाहिए तभी संपूर्ण प्रकृति या परिवेश मुक्ति की सांस ले सकेगा । विकास ने पुरुष को सबसे पहले स्त्री से अलग किया और अब वह प्रकृति से दूर होता जा रहा है । स्त्री और प्रकृति ने मिलकर पुरुष के अस्तित्व की नींव रखी थी लेकिन पुरुष वर्चस्ववाद ने इस नींव को हिला कर रख दिया है । इस प्रकार आज पूरी दुनिया का अस्तित्व खतरे में पड गया है ।

पृथ्वी का शोषण सीधे स्त्रियों को प्रभावित कर रहा है । इसकी वजह साफ है कि पुरुषाधिपत्य समाज ने बडे पैमाने पर स्त्रियों को अपनी निर्ममता का शिकार बनाया है । स्त्रियाँ हर तबके से शोषण की शिकार हैं जैसे गरीबी नस्ल, शिक्षा वर्ग-वर्ण आदि हर स्थिति में वह दिन-ब-दिन शोषित हो रही है।

स्त्रीवादी दृष्टि नारीवाद के लिबरल, रेडिकल, सामाजिक एवं समाजवादी रूपों से व्यवस्थित है । स्त्रीवादी दृष्टि के अनुसार अर्थकेन्द्रित विकासाधिष्ठित भौतिक व्यापार में स्त्रियाँ एवं बच्चे अरक्षित है यानि दोनों का अस्तित्व खतरे में है । परिणामस्वरूप मनुष्य को विमोचित करने के लिए पृथ्वी का अस्तित्व अनिवार्य है । स्त्रियाँ पृथ्वी के आगे के शोषण के खिलाफ सशक्त कार्य करने में समर्थ है । चिपको और अप्पिको जैसे आंदोलनों से जुडी स्वयं-सेवी संस्थाओं ने, एक बात बडी शिद्धत से महसूस की है कि पुरुषों के मुकाबले, स्त्रियां अपने आस-पास के पर्यावरण को सहेज कर रखने में

ज़्यादा दिलचस्पपी लेती हैं । इस बात से कतई इन्कार नहीं किया जा सकता कि पुरुष ऐसी विकास प्रणाली के आदी हो चुके हैं, जो सरकारी खर्चे पर जनता को कोई अधिकार या जिम्मेदारी दिए बिना, चलाई जाती है । लेकिन वहीं पर स्त्रियाँ बिना किसी सरकारी खर्चे के, बिना किसी विकास प्रणाली के, प्रकृति या पर्यावरण को बचाना अपनी जिम्मेदारी समझती हैं और उसे शोषण से मुक्त करवाने के लिए संघर्ष भी करती हैं ।

दूसरी ओर ग्रामीण औरतें पर्यावरण पर अपनी निर्भरता को पहचानती हैं और इस तथ्य से भी वाकिफ है कि अगर पर्यावरण का प्रबंध ठीक से हो तो अब से कई गुना खाना, पानी, ईंधन और कच्चा माल प्राप्त किया जा सकता है । मृदुला गर्ग भी स्त्री व पर्यावरण को एक साथ रखकर विचार करती हैं । प्रकृति व पर्यावरण को संतुलित करने की अहम भूमिका के रूप में वे स्त्री को ही केन्द्र में रखती हैं । वे फेमिनिस्ट के लक्ष्ण के रूप में लिखती है कि "वह औरत, जो अपने घर का कचरा, बाहर सड़क पर नहीं फेंकती । कारगर फेमिनिस्ट वह है, जो सड़क पर अपना कचरा तो फैकती ही नहीं, दूसरों का फेंका कूड़ा भी साफ करवा लेने का माद्दा रखती है ।"[1]

पाश्चात्य ढंग के विकास ने विकासशील देशों की स्त्रियों की स्थिति शोचनीय कर दी है । वंदना शिवा इस समस्या को Mal development के नाम से अभिहित करती हैं । पाश्चात्यीकरण ने स्त्रियों की जीवन प्रणाली को गल्त दिशा दे दी है । लेकिन पारिस्थितिक स्त्रीवाद के ज़रिए इस समस्या

1. मृदुला गर्ग- चुकते नहीं सवाल, पृ. 79

का हल ढूँढा जा रहा है । इकोफेमिनिस्ट वंदना शिवा लिखती हैं "You are not atlas carrying the world on your shoulder. It is good to remember that the planet is carrying you." यूरोप एवं अमेरिका के स्त्रीवादी प्रान्स्वा द यूबोण, नेस्त्रा किंग, मेरी डाली, सूसन प्रफन, बारबरा डेंमिग आदि ने 'विमन पीस मूवमेंट' (Women peace movement) में शामिल होकर स्त्रियों, पर हुए शोषण को 'रेप ऑफ द एर्थ' (Rape of the "Earth') नाम से अभिहित किया । पूँजीवादी व्यवस्था की गलत नीतियों से पर्यावरण को बचाने की जिम्मेदारी स्त्री पर है । स्त्रियाँ पर्यावरण के स्वपोषित नवीनीकरण को प्राथमिकता देती है ।

मार्क्स ने प्रकृति को मानव शरीर के रूप में स्वीकार किया । बाद में, मनुष्य ने प्रकृति को अपनी इच्छानुसार उपयोग दिया । उसका नियंत्रण भी मनुष्य ने अपने लिए किया । प्रकृति के ऊपर आधिपत्य के चलते वर्गों का जन्म हुआ । उसी वर्ग में पुरुष वर्चस्ववादी समाज ने संपूर्ण प्रकृति को अपने नियंत्रण में लिया । विकास की इस दौड में पुरुष प्रकृति से दिटक कर दूर चला गया । जिसके परिणामस्वरूप आज पृथ्वी का अस्तित्व विनाश की कगार पर खडा है । इकोफेमिनिस्ट वंदना शिवा, मर्चेन्ट, रूथर आदि ने इस मार्क्सवादी विचारधारा का विरोध किया है । नारीवाद दृष्टि, प्रकृति के साथ एक सुदृढ रिश्ता कायम करने की असीम इच्छा इसमें निहित है ।

उत्तर भारत में वनों के कटाव के खिलाफ काम करने वाली अरुंधती राय, बांधों के निर्माण के खिलाफ आवाज़ उठाती मेधा पाटकर और 'माल डेवल्पमेंट' के खिलाफ और आदिवासी, दलित, गरीब एवं दुखितों के लिए संघर्ष करती महाश्वेता देवी भी इसी कोटि में गिनी जाती हैं । दूसरी ओर 'मृदुला गर्ग' यह मानती हैं कि पर्यावरण के प्रबंध का अधिकार स्त्रियों को दिया जाना चाहिए । वे लिखती है कि "स्त्री के प्रभाव का दायरा बढाना होगा, जिसमें घर-गृहस्थी से आगे बढकर वह परिवेश और पर्यावरण को भी समेट सके । उसके लिए ज़रूरी है कि सरकार स्थानीय पर्यावरण के रख-रखाव प्रबन्ध और नवीनीकरण का अधिकार महिलाओं को दे दें।"[1] वर्तमान दुनिया की इस्टाबिलिशमेंट के विरुद्ध खुले युद्ध का आह्वान करने वाले सैनिक है इकोफेमिनिस्ट । इसलिए पारिस्थितिक स्त्रीवाद एक क्रान्तिकारी विचारधारा का सिद्धान्त बन गया है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद को परखने व समझने से पहले स्त्रीवाद की चर्चा अतिअवश्यक है । क्योंकि यह विचारधारा स्त्रीवाद की अगली कडी भी मानी जा सकती है, इसमें कोई टीक-टिप्पणी की ज़रूरत नहीं है । इसलिए स्त्रीवाद के मुख्य धाराओं को समझना भी अवश्यक है ।

बीसवीं सदी में बुद्धिवादी चिंतन केन्द्र में आया । इस चिंतन ने पंपरावाद के सभी विचारों को चुनौती दी । समाज का हर हिस्सा इससे

1. मृदुला गर्ग - औरत की कहानी - सं. सुधा अरोडा, पृ. 75

अछूता नहीं रहा । स्त्रियाँ भी इस चिंतन से प्रभावित हुई । स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति सजग हुईं । उनके प्रश्न खुलकर नए-नए रूपों में उभरने लगे । मेरी वुलस्टण क्राप्ट, वर्जीनिया वुल्फ, सिमोन द बोउवर, ब्रेटी प्रीडन, केट मिल्लर आदि स्त्रीवादियों ने स्त्रियों की स्थिति पर गहरा असन्तोष प्रकट किया । मेरी वुलस्टण क्राप्ट ने अपनी रचना 'ए विन्डिकेषण ऑफ दि राइट्स ऑफ विमण' में इस बात पर ज़ोर दिया कि स्त्रियाँ बुद्धि के मामले में कतई भी पुरुषों से कमज़ोर नहीं हैं । उनका मानना था कि स्त्रियाँ मात्र भोग की वस्तु नहीं बल्कि बौद्धिक स्तर पर समर्थ एक स्वतन्त्र मानषी है ।

फ्रेंच महिला लेखिका सिमोन द बोउवार ने अपनी रचना 'सैकण्ड सेक्स' में यह स्वीकार किया कि औरत पैदा नहीं होती, बल्कि बनाई जाती है । इस रचना में स्त्री के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर पैनी दृष्टि डाली गई। वे मानती है "स्त्री के स्वभाव विश्वास, मान्यताएं, नैतिकता रुचि और व्यवहार का विमोचन उसकी स्थिति द्वारा होता है । चूंकि वह जानती है कि वह सर्वोपरी स्थान नहीं प्राप्त कर सकती, इसलिए वह वीरता, विद्रोह सृजन और कल्पना के ऊंचे आदर्शों से अलग रहती है।"[1] दूसरी ओर वर्जीनिया वुल्फ मानती हैं कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था के स्त्री-विषयक औरत वचनों को शक की निगाह से देखा जाना चाहिए, क्योंकि वे 'भावना के लाल प्रकाश' में लिखी गयी उक्तियाँ हैं, 'सत्य के श्वेत प्रकाश में नहीं । सिमोन द

1. प्रभा खेतान - स्त्री उपेक्षित, पृ. 287

बोउवार वर्जीनिया वुल्फ की इस बात पर अपनी सहमति प्रकट करती हैं और यह मानती भी हैं कि अब तक औरत के बारे में पुरुष ने जो कुछ भी लिखा, उस पूरे पर शक किया जाना चाहिए क्योंकि लिखने वाला न्यायाधीश और अपराधी दोनों हैं ।

1963 में, निकले बेट्टी प्रीडन की रचना 'द फेंमिनिन मिस्टिक' ने द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमेरिकी महिलाओं की असंतोषजनक स्थिति पर प्रकाश डाला । इस रचना ने अमेरिकी समाज के स्त्री-पुरुष समता के मुखौटे का पर्दाफाश किया । इससे पहले नारी मुक्ति चेतना के इतिहास की शुरुआत, अमेरिका क्रान्ति के दौरान 'अबिगेल एडम्स' और 'मर्सी वारेन' के नेतृत्व में मताधिकार और संपत्ति के अधिकार सहित सामाजिक समानता की मांग और प्रांसीसी क्रान्ति के दौरान 'ओलिग्य द गाउजेस' द्वारा 1791 में राष्ट्रीय असेम्बली में प्रस्तुत स्त्रियों और स्त्री नागरिकों के अधिकारों की घोषणा' से मानी जाती है । इसके अलावा अमरीका के 'सिविल राइट्स' और न्यू लेटट आंदोलन' और ब्रिटेन के ट्रेड यूनियनिस्ट मार्क्सिस्ट आंदोलन भी स्त्रियों में नया आत्मविश्वास जगाने में सफल हुए ।

स्त्रीवादी चिंतन की मुख्य धाराएं

स्त्री विमर्श को समग्रता से जानने के लिए इसकी मुख्य धाराओं पर गहराई से विचार किया जाना चाहिए । स्त्री विमर्श की व्यापकता पर प्रकाश

डाला जाए तो ज्ञात होगा कि यह विमर्श संपूर्णतः अपनी अलग-अलग दिशा में अपनी जडें मज़बूत कर चुका था । लिबरल फेमिनिज़म, रेडिकल फेमिनिज्म, समाजवादी स्त्रीवाद और मनोविश्लेषणात्मक स्त्रीवाद इसके प्रमुख उदाहरण हैं ।

लिबरल फेमिनिज़्म (उदारवादी संप्रदाय)

लिबरल फेमिनिज़्म के उन्नायकों में जॉन स्टुअर्ट मिल (1869), सीमोन द बउवार (1949) तथा बैटी प्राइडन (1963) प्रमुख है । इस दिशा में सार्थक पहल (1961) जॉन एफ. कैनेडी की ओर से हुई थी - 'कमीशन ऑन द स्टेट्स ऑफ विमेन के संगठन के बाद इसकी कार्यवाची धीमी पड गई । तत्पश्चात् बैटी प्राइडन ने महिलाओं के समूह के साथ मिलकर 'सिविल राइट्स संगठन' और 'नेशनल आर्गेनाइज़ेशन फॉर विमेन' संगठन का निर्माण किया । इस संगठन में सबसे अधिक मध्यवर्गीय कामकाजी महिलाएँ थी और इनकी राजनीति लिबरल फेमिनिज़्म थी । जॉन स्टुअर्ट ने अपनी रचना के माध्यम से यह बताने की कोशिश की, कि जैविक विषमताओं के बावजूद स्त्री व पुरुष में नैतिक के लिए पुरुष में स्त्रियोचित गुणों तथा स्त्रियों में पुरुषोचित गुणों का विकास किया जाना चाहिए । इसी की व्याख्या करते हुए जेम्स स्टर्वा लिखते हैं कि उभयलिंग व्यक्तित्व का जो आदर्श स्टुअर्ट लिखते हैं, उसमें विकास के समान अवसर मिले बिना लक्ष्य तक पहुँचना असंभव है । इस संदर्भ में वे माता-पिता दोनों को महत्व देते हैं ।

वे दफ्तरों-कारखानों में काम के कुछ घंटों को लचीला बनाने की माँग रखते हैं ताकि शिशु पालन गृहों में माँ-बाप दोनों बच्चों की देखभाल कर सके । स्टुअर्ट और जेम्स स्टर्वा का अभिप्राय यहाँ स्पष्ट हो जाता है जहाँ मिल ने स्त्रियों की कल्पना कार्यस्थली पर की थी, वहीं पर जेम्स स्टर्वा ने मर्दों की कल्पना नर्सरी में कर डाली । लिबरल फेमिनिज़्म, स्त्रियों के मूलभूत मानवीय अधिकारों के लिए लडाई करता है । इनके अनुसार परिवार, शिक्षा संस्थान में कारगर परिवर्तन लाए तो नारी की समस्याएँ सुलझाई जा सकती है ।

दूसरी ओर इंग्लैंड में पाँचवें दशक की इसी शती में 'न्यूक्लियर डिसआर्मामेण्ट' के पक्ष में इन फेमिनिस्टों ने जबरदस्त पहल की । इसमें प्रमुख रचना के रूप में सीमोन द बोआर की द सेकेंड सेक्स (1949) और ब्रेटी प्रायडन की 'द फेमिनीन मिस्टीक (1963) हैं । रोहिणी अग्रवाल लिखती है "भारत में नवजागरण आंदोलन स्त्री मुक्ति के संदर्भों में उदारवादी संप्रदाय से प्रभावित रहा है ।"[1] लिबरल फेमिनिस्टों में स्टैनली, ग्लोरिया, स्टीनेम, सूसन ऐथेनी, लूसी स्टोन, इलिज़ाबेद हूकर, इलिज़ाबेद कैडी स्टैटन प्रमुख भूमिका अदा करती हैं ।

रेडिकल फेमिनिज़्म (उग्र उन्मूलनवादी संप्रदाय)

1968 में टाइ-ग्रेस ऐटकिन्सन के नेतृत्व में लिबरल ग्रूप से रैडिकल ग्रूप अलग हो गया क्योंकि इसका मानना था कि छिटुपुट अधिकारों एवं

---

1. रोहिणी अग्रवाल - साहित्य की ज़मीन और स्त्री मन के उच्छवास, पृ. 22

सुधारों द्वारा स्त्री की स्थिति में वांछित परिवर्तन नहीं आ सकता । इनके अनुसार योजनाबद्ध ढंग से समाज के बुनियादी ढांचे में अंतर लाना चाहिए। खासकर परिवार, शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में संरचनात्मक परिवर्तन की मांग होनी चाहिए । यह संप्रदाय स्त्री की पराधीनता का कारण उसकी प्रजनन शक्ति को मानता है । इसलिए प्रमुख फेमिनिस्ट 'शुलमिथ फायरस्टोन' ने अपनी रचना 'द डायलेक्टिक ऑफ सेक्स' में गर्भधारण को दंडनीय करार दिया और मातृत्व का भी निषेध किया । इसके फलस्वरूप पेरिस में, कुछ स्त्री संगठनों ने अपने अन्तर्वस्त्रों का दहन कर अपने आक्रोश को समाज के सामने व्यक्त किया । इस फेमिनिज़्म की प्रमुख मांग थी कि स्त्रियों को स्वतन्त्रता दी जाए, ताकि वे गर्भपात एवं गर्भधारण संबंधी सारे निर्णय स्वयं ले सके । दूसरी ओर इनका यह भी मानना था कि स्त्री को देह मानने के संस्कार के कारण ही समाज में बलात्कार, यौन शोषण, वेश्यावृत्ति जैसी अमानुषिकता व्याप्त है । इसलिए देह से आगे बढकर लेसबियन प्रवृत्ति पर जोर दिया गया । स्त्री-पुरुष संबंध को जैविक के बदले सामाजिक दृष्टि मानने तथा समलैंगिकता को स्वभाविक सिद्ध करने की लैंगिक क्रान्ति तक की ओर इनका रुख बढ गया । जो बाद में रेडिकल लेसबियनिज़्म के रूप में उभरा । पुरुष के आधिपत्य और शोषण के शिकार बनती स्त्री शरीर की वर्तुलता को तोडने का काम इनका प्रमुख ऐजेडा था । स्त्री-पुरुष सेक्स संबंधों के संदर्भ में होती जबरदस्ती और उनकी आड में होने वाले बलात्कार

के खिलाफ लेस्बियन फेमिनिस्ट ने आक्रोश प्रकट किया । अनामिका लिखती है 'पोर्नोग्रैफी, वेश्यावृत्ति, बलात्कार, मारपीट, सती, पर्दा, डायनदहन, इन बहुत सारे शोषणों की आधारभूमि चूंकि नारी-देह है - बहुत सारे सेक्स-स्टीरियोटाइप तोडने की कोशिशें रेडिकल फेमिनिज़्म ने की और स्त्रियों के लिए कोमार्य, आत्मवृत्ति (Autocraticism) या लेस्बियनिज़्म का औचित्य भी प्रमाणित किया।"[1]

रेडिकल फेमिनिज़्म में लेसबियन सोसाइटी को तथा लेसबियन राइट्स की बातों को प्रमुखता दी गई । विजय के श्री. के.वी. लिखती हैं "उन्होंने सेक्स को पुरुष की हिंसा, स्वायत्तता के हनन और पशुत्व के चिन्ह के रूप में देखते हुए स्त्रियों को उससे मुक्त होने का आह्वान किया।"[2] समाज में रेडिकल फेमिनिज़्म की कमज़ोरी यह थी कि उसने पितृसत्तात्मक व्यवस्था में निहित अलगाववाद के समानान्तर स्त्री अलगाववाद की रचना की जो स्त्री-पुरुष के बीच दूरियां बढाती है और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के स्वस्थ विकल्प की तलाश भी नहीं करती । किंतु इस फेमिनिज़्म का सकारात्मक पक्ष यह रहा कि, 1971 में 'मेडिकल टर्मीनेशल ऑफ प्रेग्नेसी' ऐक्ट पास हुआ जिसमें स्त्री को यह अधिकार प्राप्त हुआ कि वह अपनी आर्थिक स्थिति व स्वास्थ्य को मदे नज़र रखते हुए अपने परिवार का आकार निश्चित कर सके ।

---

1. अनामिका - स्त्री विमर्श की उत्तर - गाथा, पृ. 54
2. विजय श्री के.वी. - स्त्री का प्रतिरोध, पृ. 19

सोश्यलिस्ट फेमिनिज़्म (समाजवादी स्त्रीवाद)

सोश्यलिस्ट फेमिनिज़्म के अनुसार स्त्री की पराधीनता का कारण आर्थिक क्षेत्र में उसकी निष्क्रियता है । एंग्लेस के विचारों को मान्यता देते हुए इनका सोचना है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था, स्त्री-पुरुष की जैविक संरचना की भिन्नता के कारण अस्तित्व में नहीं आई बल्कि जैविक भिन्नता के आधार पर निर्मित सांस्कृतिक-राजनीतिक अवधारणाओं के कारण स्त्री-पुरुष के संस्कार, दृष्टि और कार्यशैली निर्धारित हुई । फलस्वरूप समाज की परंपरागत सोच का परिवर्तन ही स्त्रियों की मुक्ति का आधार है ।

सोश्यलिस्ट फेमिनिस्ट्स यह नहीं मानती कि औरतों का कामकाजी होना ही उन्हें पुरुषों के समकक्ष बना देगा । अनामिका लिखती है 'पितृसत्तात्मक समाज के मूल में है पूँजीवाद और यदि हर वर्ग, हर समुदाय की स्त्रियों का अभ्युदय होना है - सिर्फ वर्ग विशेष की चुनी हुई स्त्रियों का नहीं - तो पूँजीवादी व्यवस्था ही ध्वस्त कर देनी होगी ।"[1] दूसरी ओर मार्क्स और एंगेल्स ने यह पहले ही सूचित कर दिया था कि निजी संपति और वर्गीय समाज के संघटन की प्रक्रिया शुरु होने के साथ ही स्त्री की दासता की शुरुआत हुई । कात्यायनी पूंजीवादी शोषण की व्यवस्था पर लिखती हैं "पूँजीवादी समाज में मेहनत वश स्त्रियों की समस्याओं का समाधान असंभव है और स्त्री समुदाय की सच्ची मुद्रित की दिशा में पहला कदम पूँजीवादी

1. अनामिका - स्त्री विमर्श की उत्तर गाथा, पृ. 57

शोषण की व्यवस्था का खात्मा है ।"[1] कुल मिलाकर सोशलिस्ट फेमिनिज़्म के अनुसार एक मिश्रित तकनीक का उपयोग होना चाहिए जिसमें सोशलिस्ट फेमिनिज़्म और रेडिकल फेमिनिज़्म के तरीकों को आज़माया जाए । उनकी दृष्टि में आर्थिक उत्पादन में स्त्रियों की सक्रियता बढ़ाने के साथ-साथ प्रजननात्मक एवं यौन शोषण के विरुद्ध आंदोलन छेडा जाए तो स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन लाना संभव है । इस फेमिनिज़्म के अनुसार, स्त्रियों की लडाई के दो मोर्चे होने चाहिए - एक, घर में पितृसत्तात्मक व्यवस्था से लडाई और दूसरी बाहर पूँजीवादी व्यवस्था से संघर्ष । क्योंकि इन दोनों का गठबंधन ही स्त्री को भौतिक और मानसिक रूप से आधीन बनाता है . जहाँ तक मार्क्सवादी विश्लेषण का सवाल है, उसकी आलोचना 'हिन्दी हार्टमैन' अपने आलेख 'The unhappy marriage of markism and Feminism में करती है और मानती है कि जो रिश्ता मज़दूरों का पूँजीपतियों से होता है, कमोवेश वही रिश्ता स्त्रियों का पुरुषों से होता है । 'वर्ग', रिज़र्व आर्मी ऑफ लेबर, वेज लेबर आदि अवधारणाएं भी इसकी व्याख्या नहीं कर पातीं कि स्त्रियाँ अधीनस्थ कैसे हुई ।

मनोविश्लेषणात्मक स्त्रीवाद

मनोविश्लेषणात्मक स्त्रीवाद की मूल प्रपतियाँ प्रायडीय मनोविश्लेषण के विरोध में है । प्रायड यह मानते है कि पुलिंग होने का अहम्मन्य बोध होते

---

1. कात्यायनी - दुर्ग द्वार पर दस्तक, पृ. 97

ही पुरुषों में प्राक-एडिपीय अवस्था के मातृमोह से मुक्त होने की कठिन प्रक्रिया शुरु हो जाती है । इस कारण उन्हे कठोर निर्णय लेते हुए सायास अपने ऊपर आत्मनिर्भर, सामाजिक, बहिर्मुखी, अनुशासनप्रिय एवं निर्णयकुशल व्यक्ति की उर्जावान छबि आरोपित करनी पडती है । लेकिन स्त्रियों को इस प्रक्रिया से गुज़रना ही नहीं पडता, इसलिए वे कम अनुशासित, कम सामाजिक, कोमल और कमज़ोर रह जाती है ।

प्रसिद्ध महिला-मनोविज्ञानविद 'नैन्सी शोदोराव' अपने सूक्ष्म अध्ययन के दौरान इस नतीजे तक पहुँचती है कि 'स्त्रियों को माँ से अलग अपना व्यक्तित्व स्थापित करने की ज़रूरत नहीं पडती (शारीरिक तादात्म्य-बोध के कारण) इस कारण इसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर अच्छा ही पडता है, जिनसे भी वे जुडती हैं उसका जुडाव बहुत गहरा हो जाता है । किसी भी तरह के भावात्मक स्खलन का वे जल्द शिकार नहीं होती । लेकिन कई बार उनकी यह समर्पित और विलीन होने की यह क्षमता, उसके स्वतंत्र अस्मिता के विकास में बाधक बन जाती है । देरिदा के संरचनावाद और लकॉ के मनोविश्लेषणवाद को आधार बना कर मनोविश्लेषणात्मक स्त्रीवादी यह प्रतिपादित करती है कि स्त्रियों के यौन शोषण का सबसे बडा कारण स्वयं 'भाषा है जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था के संस्कारों, सिद्धान्तों और लक्ष्यों पर आधारित हैं । इसलिए इरिगरे, सिक्सू, जूलिया, क्रिस्तोबा आदि नारीवादी चिन्तक स्त्रियों द्वारा स्वयं अपनी भाषा आविष्कृत किये जाने पर बल देती

है। मनोविश्लेषणात्मक स्त्रीवाद के विकास में प्रांसीसी स्त्रीवादियों की महत्वपूर्ण भूमिका है ।

संक्षेपतः नारीवाद का केन्द्रीय मुद्दा है उन समस्याओं को अभिव्यक्त करना है जिन्हे अब तक इतिहासकार केवल पुरुष संदर्भ में ही देखते रहने के अभ्यस्त है । जिसका परिणाम यह हुआ कि इतिहास और दर्शन द्वारा किए गए अन्याय का ठप्पा स्त्री चेतना पर हमेशा के लिए अंकित हो गया । प्रभा खेतान लिखती है "नारीवादी एक आधुनिक के उन चुनौतियों का प्रतिनिधित्व करता है जो चुनौतियां पूँजीवादी आधिपत्य को दी गई थी।"[1] नारीवाद को कई प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है । उपर्युक्त इन चारों स्त्रीवादों में स्त्री की मुक्ति का ही लक्ष्य प्रमुख हैं । विश्लेषण का रूप कैसा भी हो, इसमें स्त्री की मुक्ति ही मायने रखती है । मृदुला गर्ग लिखती है "फेमिनिज़्म का मतलब नारी मुद्रित नहीं, सोच की मुक्ति है । अगर स्त्री मौजुदा राजनीतिक, आर्थिक नीति और इतिहास को उन मानदंडों के अनुसार परख सकती है, जो उसने खुद ईजाद किए हैं तो वह फेमिनिस्ट है।"[2] दूसरी ओर रोहिणी अग्रवाल स्त्रीवादी विमर्श को मानवीय अस्मिता की रक्षा का हवाला देती है । कहती हैं "स्त्रीवादी विमर्श स्त्री की मानवीय अस्मिता की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध है । वह स्त्री की उपस्थिति को लक्षित करने वाली इस कालाजयी मान्यता को स्वीकारती है कि स्त्री आधी दुनिया है, लेकिन तराजू

1. प्रभा खेतान - बाज़ार के बीचः बाज़ार के खिलाफ, पृ. 233
2. सुधा अरोडा - औरत की कहानीः आवरण पृष्ठ (फ्लैप)

और पैमाना लेकर स्त्री-पुरुष की परस्पर पूरकता या विलोम जैसी अन्तहीन बहस में माथा पच्ची करने की बजाय दोनों को मनुष्य समझना-समझाना चाहता है जिन्हे निजी स्तर पर बराबर भौतिक स्पेस की ज़रूरत है तो पारस्परिक स्तर पर भावनात्मक सहयोग की।"[1] यद्यपि स्त्रीवाद की विचारधारा ने अपनी कई मीलों की यात्रा तो लय कर ली है लेकिन इतना ज़रूर है कि चौका उसने छोडा नहीं है क्योंकि कोख के साथ संरक्षण, नेह के साथ जिम्मेदारी, समर्पण के साथ स्वतंत्रता उसे संबंधों के साथ-साथ वर्तमान और भविष्य के प्रति भी आशान्तित करती है ।

अंततः आज के समय में, नारीवादी सिद्धांत में उदारवादी नारीवाद, रेडिकल नारीवाद, समाजवादी नारीवाद से लेकर नस्लविरोधी मनोविश्लेषण और उत्तर आधुनिक नारीवाद शामिल है भले ही उनमें स्पष्ट सीमा रेखाएं न उजागर हो । स्पष्ट रूप से कहे तो "नारीवादी वह है जो महिलाओं का सशक्तीकरण चाहता चाहती है और जिसके लिए सशक्तीकरण के इस रास्ते में पितृसत्ता सबसे बडी बाधा है । महिला अधिकार के हिमायतीयों का उदार नारीवादी, रेड़िकल और सांस्कृतिक नारीवादी या समाजवादी तथा मार्क्सवादी नारीवादी में वर्गीकरण न केवल इस एकता की अहमियत को कम करके आंकता है बल्कि यह गलत प्रस्तुति भी करता है कि नारीवाद की विचारधारा उदारवाद और समाजवाद की महज सहायक है ।"[2] संपूर्णतः नारीवाद की

1. रोहिणी अग्रवाल - साहित्य की ज़मीन और स्त्री मन के उच्छवास, पृ. 30
2. सं. साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता - नारीवादी राजनीति (संघर्ष एवं मुद्दे) पृ. 29

विचारधारा कोई भी हो उसमें स्त्री की मुक्ति ही सर्वप्रथम मायने रखती है ।

पारिस्थितिक दृष्टि (Ecology)

पारिस्थितिक दृष्टि के अन्तर्गत संतुलित पर्यावरण की माँग निहित है। पर्यावरण को, अपनी जीवन व्यवस्था के अनुरूप ढालने के बजाय, अपनी जीवन व्यवस्था को पर्यावरण के अनुरूप ढालने की ज़रूरत ही, वर्तमान समय के भविष्य को सुनहला बना सकती है । अतीत में मनुष्य प्रकृति के साथ मिलकर संतुलित जीवन बीताता था किंतु विकास की इस पद्धति ने पारिस्थितिक संतुलन को नष्ट कर दिया है । पारिस्थितिक दृष्टि, अध्यात्मिक दृष्टि और नारीवादी दृष्टि के बीच केन्द्र बिन्दु का काम करती है । आज पृथ्वी का शोषण बडे पैमाने पर हो रहा है । वनों की कटाई, संसाधनों का दुरुपयोग, जल का दुरुपयोग आदि इस शोषण के कुछ प्रमुख उदाहरण है । पारिस्थितिक संतुलन के बिगडने का कारण प्रकृति को मानव के लिए उपयोगी मानना है ।

पाश्चात्य देश में प्रकृति को मानव अपने आधीन मानता है इसके पीछे यह विश्वास है कि इस सृष्टि में हर वस्तु मानव के लिए है । इसलिए मनुष्य ने अपने को सबके केन्द्र में रखा और खुद को ईश्वर माना । संपूर्ण प्रकृति को अपने आधीन मान कर उसका शोषण करने लगा । जिससे संपूर्ण जैविक-अजैविक व्यवस्था का संतुलन बिगड गया । पुरुष आधिपत्य इस

समाज में पुरुष ने संपूर्ण धरती पर कब्जा कर लिया है ।

विस्तार से देखें तो 'मानव' ही पारिस्थितिकी तंत्र के चक्र को बनाता और बिगाडता है । 'मानव' पर्यावरण में परिवर्तनकारी सक्रिय कारक है । एक तरफ वह स्वयं में बदलाव लाता है जैसे भोजन, शैली, विचार, जाति, धर्म, भाषा आदि बदलते हैं तो दूसरी ओर वह पारिस्थितिकी तंत्र में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर बदलाव करता है । कहीं अनावश्यक पौधों जैसे खर पतवार, झाडियां आदि को विनष्ट करता है तो कहीं वनस्पतियों का संरक्षण करता है । वह कभी विध्वंशक कार्य करता है तो कभी निर्माणकारी कार्य भी करता है । वह कभी निवास्य में बदलाव लाता है तो कभी औद्योगिक ईकाइयों की स्थापना करता है । मानव के सभी क्रिया-कलापों का सीधा असर पारिस्थितिकी तंत्र पर पडता है । वर्तमान में उपभोग संस्कृति को इतनी प्रमुखता मिली है कि पारिस्थितिकी के सभी घटक असंतुलित हो रहे हैं । विकास की इस कूटनीति में पुरुष समर्थ है, क्योंकि पुरुषवर्चस्ववादी इस समाज में वही केन्द्र में है । इस कारण वह स्त्री व प्रकृति दोनों को अपने आधीन कर उसका शोषण कर रहा है । स्त्री का शोषण और प्रकृति से बलात्कार दिन-ब-दिन बढता ही जा रहा है । इसके खिलाफ स्त्री आगे आई है । अर्थात् स्त्री अपनी और प्रकृति की वेदना को समझने में सक्षम है । स्त्री और प्रकृति की संवेदना एक ही है ।

प्रौद्योगिकी और वैज्ञानिकी के यांत्रिक तरीके से संपूर्ण प्रकृति पर खतरा मंडरा रहा है । शुभु पाटवा का कथन है "पर्यावरण की दृष्टि स्व-संतुलक, स्व-सामायोजक और स्व-शोधक होनी चाहिए । प्रकृति में तो यही खूबी सहज विद्यमान है । विज्ञान और प्रौद्योगिकी में यह दृष्टि सहज विद्यमान नहीं हो सकती । तब यह तय करना ज़रूरी है कि वैज्ञानिक अनुसंधानों की दिशा ऐसी होनी चाहिए जो मानव को हिंसा की बनिबस्त अहिंसा की ओर ले जाए और प्रकृति के साथ नाहक संघर्ष की जगह उसके साथ एक सामंजस्य और सहयोग की और आकर्षित करे । हमें यह मानना चाहिए कि जागतिक और जैविक तौर पर हम प्रकृति की व्यवस्था के ही अंग हैं और इसके साथ हम जीवंत और अहिंसक रूप से सहयोग करें।"[1] यानि कि प्रकृति के संतुलन के लिए प्रौद्योगिकी और वैज्ञानिकता से विवेकपूर्ण संबंध जोडने की आवश्यकता है । लेकिन इस कार्य में पुरुष पीछे है, वह विवेकता पूर्ण व्यवहार भुला कर मात्र विकास की ओर अग्रसर हो रहा है, परिणाम स्वरूप प्रकृति का स्वरूप बदलता जा रहा है । विकास ने 'विस्थापन' के कई संकटों को जन्म दिया है जिससे सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है । 'विस्थापन' की इस अवस्था में व्यक्ति का अस्तित्व खतरे में पड गया है । विकासशील देशों की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक स्थितियों पर भी विस्थापन की त्रासदी का गहरा असर पड रहा है ।

संपूर्ण संसार पर्यावरण संकट की इस मार को झेल रहा है । इससे

1. शुभु पाटवा - पर्यावरण की संस्कृति, पृ. 29

समाज को उभारने के लिए हर मानव को प्रयास करना चाहिए । लेकिन पारिस्थितिकी तंत्र को बचाने का याने बनाए रखने का जिम्मा स्त्री ने आज अपने ऊपर लिया है । डॉ. के. वनजा लिखती हैं "पृथ्वी के अनुकूल जीने के लिए एक स्वस्थ सामूहिक जीवनशैली को बनाना है । इसका फल इको-घर होगा । वहाँ चीज़ों का अवशिष्ट कम होगा और इसके रीसाइक्लिंग से उर्जा एवं जैविक खाद्यान्नों का निर्माण संभव हो जाएगा । इससे जो भी मिलता है वह भूमि की रक्षा के लिए बचा कर रखा जा सकता है।"[1]

अर्थ स्पष्ट है कि स्त्री प्रकृति के सबसे करीब है । वह पृथ्वी से मिलकर उसके शोषण के खिलाफ संघर्ष कर सकती है । स्वस्थ पारिस्थितिक व्यवस्था के लिए पुरुष और स्त्री को एक साथ संघर्ष करना होगा यानी कंधे से कंधा मिलाकर परिस्थितिकी के तंत्र को बचाए रखना होगा ।

इकोलौजी का विस्तार से पठन करना यानि उस के विज्ञान का निरीक्षण करना है । इकोलौजी ग्रीक शब्द 'Oikas' से बना है जिसका अर्थ रहने की जगह (Place to live) या गृह (Household) से माना जाता है। इस प्रकार पारिस्थितिकी विज्ञान (Ecology) वह विज्ञान है जो जीव या प्राणी जगत (Organism) तथा उनके पर्यावरण का अध्ययन करता है । स्पष्ट रूप में कहें तो वनस्पतियों और प्राणियों के पर्यावरण के साथ संबंधों को समझने का प्रयास ही पारिस्थितिकी है ।

---

1. डॉ. के. वनजा - इको-फेमिनिज़्म, पृ. 32

पारिस्थितिकी के लिए (Ecology) शब्द का प्रयोग सबसे पहले जर्मन जीव विज्ञानी अन्र्स्ट हैकेल द्वारा (1869) किया गया । हैकेल पारिस्थितिकी के अर्थ को गहराई से व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि पारिस्थितिकी प्रकृति की अर्थव्यवस्था से संबंधित ज्ञान है । अर्थात् यह प्राणियों के कार्बनिक एवं अकार्बनिक पर्यावरण के साथ संपूर्ण संबंधों का अध्ययन है । इससे प्राणियों के कार्बनिक एवं अकार्बनिक पर्यावरण के साथ संपूर्ण संबधों का अध्ययन है । इससे प्राणियों के उन सभी अन्य प्राणियों और वनस्पतियों के साथ, जो उनके संपर्क में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से आते हैं, मैत्रीपूर्ण अथवा शत्रुतापूर्ण संबन्धों का भी समावेश है । पारिस्थितिकी (Ecology) को विस्तृत रूप से समझने के लिए यों कहा जा सकता है कि एक ही परिवार (समूह) तथा उसके प्रत्येक सदस्य (Individual) तथा अन्य परिवार एवं उसके सदस्य के बीच संबन्धों का अध्ययन वातावरणीय पारिस्थितिकी अध्ययन कहलाता है ।

"It is a study of relationship between individuals within population and between individuals of different population'

पारितंत्र (Eco-system) पर एन्साइक्लोपिडिया ब्रिटानिका में लिखा है "The study of the inter relationship between organism and their environment and each other is called the Bilogy of Eco-system."[1] जैसे-जैसे यह स्पष्ट होता गया कि जीवों को उनके

1. Encyeclopaedia Britanica, Vol. 1

पर्यावरण से पृथक नहीं किया जा सकता, पारिस्थितिकी का क्षेत्र भी बढता गया । पृथ्वी को समस्त जीवों और वायुमण्डल सहित एक इकाई माना जाता है जिसे जैव-मण्डल (Biosphere) या पारिस्थितिकी मण्डल कहा गया । डॉ. हरिश्चन्द्र सिंह लिखते है "जैव मण्डल को सुविधानुसार छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त किया जा सकता है । जहाँ जीवन व पर्यावरण निरन्तर आपस में तथा एक दूसरे के साथ पारस्परिक प्रक्रियारत रहते हैं । इन छोटी इकाइयों को पारिस्थितिकी तंत्र की संज्ञा दी गई । इन्हीं पारिस्थितिकी तन्त्रों के अध्ययन को ही पारिस्थितिकी कहा गया है।"[1] यानि पारिस्थितिकी, सामान्य रूप से उस विज्ञान को कहते हैं जिसके अन्तर्गत किसी पारिस्थितिक तंत्र में सभी जीवों तथा उनके भौतिक पर्यावरण में तथा दूसरी ओर विभिन्न जीवों के मध्य पारस्परिक अन्तक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है । रमाकांत पाण्डे लिखते हैं कि पारिस्थितिकी अध्ययन से मानव का हित संभव हैं । वे अपना मत यों देते हैं "पारिस्थितिकी अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य मानव का कल्याण करना है ।इसके अध्ययन से संसाधनों के संरक्षण, पर्यावरण अवनयन व प्रदूषण को दूर करने, पर्यावरण प्रबंधन आदि में सहायता मिलती है जो मानव हित में हैं ।"[2] पारिस्थितिकी के गहन अध्ययन के तौर पर 'पारिस्थितिक दर्शन' पर विचार किया गया । पारिस्थितिक दर्शन (Eco-philosophy) में पारिस्थितिक को व्यापकता से परखा व समझा जा सकता है । इस पर आगे गहराई से विचार किया जाएगा ।

---

1. डॉ. हरिश्चन्द्र सिंह, पर्यावरणीय अध्ययन, पृ. 53
2. रमाकांत पाण्डे, जैवमंडल, पृ. 48

पारिस्थितिक दर्शन (Eco-philosophy)

1970 के बाद 'पारिस्थितिक दर्शन' यानि इको-पिलॉसफी का विकास आरंभ हुआ । इस दर्शन की बुनियादी संकल्पनाएँ हैं - भौम सदाचार (Earth Ethics), साकल्यता (Halism) हरित आध्यात्मिकता (Green Spirituality)। मुख्य तौर पर इस दर्शन की चार शाखाएँ हैं - 1. गहन पारिस्थितिवाद (Deep Ecology) 2. सामाजिक पारिस्थितिवाद (Social Ecology) 3. पारिस्थितिक मार्क्सवाद (Eco-Marxism) 4. पारिस्थितिक स्त्रीवाद (Eco-Feminism) इन चार शाखाओं के माध्यम से पारिस्थितिक दर्शन का विकास बहुआयामी हो जाता है । 1981 में रोड्रिक प्रेसियर नैश की 'Rights of Nature' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई उन्होंने इसमें भौम सदाचार (Earth Ethics) पर अपना विचार प्रकट किया । भौम सदाचार पारिस्थितिक चिंतन की आधारशिला मानी जाती है । इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह कही जाती है कि भूमि का यथार्थ अधिकारी कौन है, भूमि पर मात्र मनुष्य का ही अधिकार है, या फिर जैव-अजैव सत्ता का भी भूमि पर अधिकार मनुष्य समान है । इन सभी बातों पर केन्द्रित है भौम सदाचार की संकल्पना ।

दूसरी ओर डॉ. के. वनजा पारिस्थितिक दर्शन पर लिखती हैं "पारिस्थितिक दर्शन की संकल्पना के केन्द्र में आध्यात्मिकता है।"[1] पारिस्थितिक

---

1. डॉ. के. वनजा - साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, पृ. 14

दर्शन में धर्मनिरपेक्ष हरित आध्यात्मिकता (Green Spirituality) पर भी विचार किया जाता है । पारिस्थितिवाद की मुख्य शाखाओं का विस्तार से यहाँ विचार किया जाएगा ।

गहन पारिस्थितिवाद (Deep Ecology)

नौर्वे के चिन्तक 'आर्ननेस' ने इस विचार को पहले सतही पारिस्थितवाद (shallow Ecology) नाम दिया था जो बाद में, 1973 में गहन पारिस्थितिवाद (Deep Ecology) नाम से नये दर्शन के रूप में सामने आया । गहन पारिस्थितिवाद के आधारभूत तत्व दो प्रकार के हो सकते हैं। पहले तत्व के अनुसार मनुष्य के समाज इस प्रकृति की सभी वस्तुओं का अपना मूल्य है और वह अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए संघर्ष कर सकते हैं । प्रत्येक वस्तु का अपना मूल्य है, इस कारण मनुष्य को यह अधिकार नहीं कि वह प्रकृति की हर वस्तु का (संसाधनों) का प्रयोग अपनी ज़रूरत के अनुसार इच्छानुरूप करें । दूसरे तत्व के अनुसार दर्शन को मनुष्य केन्द्रित तत्व से जैव केन्द्रित बनाना है । इसके परिणाम स्वरूप भूमि में प्रत्येक सत्ता को अपना अस्तित्व प्राप्त हो जाएगा । यूँ तो गहन पारिस्थितवादियों में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो हिंसात्मक मार्ग से प्रकृति को बचाना चाहते हैं । किंतु वर्तमान समय की इस संकट घडी में जहाँ मनुष्य को नीति, अर्थशास्त्र कर्मप्रणाली में परिवर्तन लाना चाहिए वहाँ अहिंसात्मक मार्ग से ही प्रकृति को सुरक्षित किया जा सकता है ।

गहन पारिस्थितिकवाद का मुख्य भाव शमन (Healing) है । इस शमन का संबंध सीधे मन, शरीर और भूमि से है । अज्ञानता से संतुलन नष्ट हो जाता है और इस कारण मन रोगग्रस्त बन जाता है । रोगीमन की वृत्ति से मिट्टी विषलिप्त बन जाती है । इस प्रकार मन से शरीर, शरीर से भूमि दूषित होती है । पारिस्थितिक विनाश का मूल कारण भी मनुष्य की गलत धारणाएँ हैं । नए भौम सदाचार (Earth Ethics) से हम प्रकृति का पुनःनिर्माण कर सकते हैं । डॉ. के वनजा के शब्दों में कहें तो "सहअस्तित्व और करुणा पर केन्द्रित नए भौम सदाचार (Earth Ethics) से नाशोन्मुख मन, शरीर, प्रकृति और भूमि को हम पुनःगढ सकते हैं ।"[1] शमन को मुख्य स्थान देने से ही पारिस्थितिक शोषण के खिलाफ नए सिरे से संघर्ष किया जा सकता है । आधुनिक पारिस्थितिकवाद की प्रारंभिक दशा में गहन पारिस्थितिवाद को एक परिष्करणवाद माना जाता था ।

सामाजिक परिस्थितिवाद (Social Ecology)

1962 में रचित कर्सन ने जब मौन वसन्त (Silent Spring) लिखा, तब उसी वर्ष मुरे बुक्कच्चिन नामक एक अमेरिकी दार्शनिक ने कृत्रिम पारिस्थितिक नामक एक रचना की । इस रचना के माध्यम से सामाजिक पारिस्थितिवाद को एक अलग परिभाषा और दार्शनिक विचारधारा मिला । 'बुक्किच्चन' के अनुसार गहन पारिस्थितिवादियों ने मानव केन्द्रित

1. डॉ. के. वनजा - साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, पृ. 15

प्रकृति पर शोषण का सारा दोष मढ़ दिया । उन्होंने रोग लक्षणों पर चर्चा की, किंतु सामाजिक कारणों की ओर ध्यान नहीं दिया । इस बात को विश्लेषित करते हुए 'बुक्कच्चिन' लिखते हैं कि शुरुआती दौर में मनुष्य ने अन्य मनुष्यों के ऊपर अधिकार ज़माने का कार्य किया था क्योंकि अधीनस्थ बनाना इनकी सहज प्रवृत्ति थी । बाद में जब मनुष्य गोत्र में रहता था तब वह प्रकृति का अनुसरण कर उसके नियमों का पालन कर जीता था । किंतु धीरे-धीरे गोत्र में पुरुष का अधिकार हो गया । परिणामतः पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्रियों को आधीन बनाया गया । इस सामाजिक प्रभुत्व का स्वाभाविक परिणाम है प्रकृति पर अधिकार ज़माने की प्रणाली । इस प्रभुत्व को समाज से दूर करने का प्रयत्न ही 'बुक्कच्चिन' का सामाजिक पारिस्थितिवाद है ।

साथ ही मार्क्सवादी दर्शन पर विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि मार्क्सवादी दर्शन वर्गभेद पर ध्यान देता है । वर्गभेद के परे, मनुष्य को वंशभेद, लिंगभेद, वर्णभेद, धर्मभेद, सांस्कृतिक भिन्नता, आवासीय व्यवस्था के वैविध्य एवं सीमाओं का भी सामना करना पडता है । दूसरी ओर पारिस्थितिक समस्याओं को मात्र वर्ग भेद तक सीमित रखकर विश्लेषित करना असंभव है । उदाहरण के लिए यदि एक कारखाने से विष सर्वत्र फैल रहा है तो उस कारखाने के खिलाफ जनता आन्दोलन ज़रूर चलाएगी किंतु उस कारखाने के मज़दूर संगठन इसके खिलाफ अपनी आवाज़ नहीं उठाएगें। क्योंकि मज़दूरों के लिए उनकी मज़दूरी सर्वप्रमुख है । इसलिए सामाजिक

पारिस्थितिवाद के संदर्भ में मार्क्सवादी दृष्टिकोण के पुर्नमुल्यांकन की ज़रूरत है । पूँजीवाद ने प्रकृति और सामाजिक संरचना में समान रूप से आघात पहुँचाया है इसको आधार बना कर 19 वीं शताब्दी के अंत में, मार्क्सवादी दृष्टिकोण से पीटर क्रोपोटकीन, चाल्स फेरिपर, विलियम मॉरीस जैसे विद्वानों ने लिखना शुरु किया ।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम तीन दशकों तक आते-आते पारिस्थितिक दर्शन और मार्क्सवाद परस्पर एक हो गए । तब पारिस्थितिक दर्शन को एक नई राह मिली । यह 'अरुण हरित संगम' मुख्यतः दो धाराओं से आगे बढ़ाः Social Ecology और Ecological Socialism या Marxism. इन दोनों की मुख्य समानता यह है कि गहन पारिस्थितिवाद से अलग होकर ये पारिस्थितिक संकट के सामाजिक-सांस्कृतिक एवं आर्थिक कारणों पर ध्यान देते हैं । इन धाराओं ने संकट के जैवरूप को पहचान लिया है । लेकिन इनका मानना है कि संकट का हल जैव अध्यात्मिक एवं सदाचार के मार्गों से संभव नहीं है ।

पारिस्थितिक समाजवाद (Eco-Marxism)

पारिस्थितिक समाजवाद 'बुक्कच्चिन' के सामाजिक पारिस्थितिवाद से भिन्न राजनैतिक अर्थशास्त्र का विश्लेषण है । इसके अनुसार शोषण, उत्पादन, मुनाफे की दर, पूँजी का बंटवारा और केन्द्रीकरण जैसे मुख्य मुद्दों

के अध्ययन से ही पूँजीवाद के आधीन उत्पन्न होने वाले प्राकृतिक नाश पर विचार किया जा सकता है । गहन पारिस्थितिवादियों और सामाजिक पारिस्थितिवादियों के समान ये भी प्रकृति की सत्ता और जैव वैविध्य को मानने के साथ ही इसको इक्कीसवीं शती में मनुष्य के अस्तित्व के आधारभूत विज्ञान के रूप में मान्यता देते हैं । जर्मन हरित संगठन के संस्थापकों में प्रमुख 'रूडोल्फ बाहरोय' की रचना (From red to Green) लाल से हरित की ओर) इस संदर्भ में विशेष महत्व रखती है । इसमें परिस्थिति की ओर मुडने का संकेत मिलता है ।

डेविड पेप्पर, पीटर डीकनस जैसे कई चिन्तकों ने पारिस्थितिक समाजवाद की व्याख्या को स्पष्ट करने की कोशिश की ।

पारिस्थितिक-स्त्रीवाद (Eco-Feminism)

नारीवादी आंदोलन को नवजीवन प्रदान करते हुए बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में पारिस्थितिक स्त्रीवाद अथवा इको-फेमिनिज़्म विकसित हुआ। इको-फेमिनिस्ट 'प्रान्स्वा द यूबोण' ने प्रस्तुत की । इसके पहले शुलभिथ फयरस्टेन ने फेमिनिज़म में निहित पारिस्थितिकी पर विचार किया था । लेकिन इसे एक दर्शन का रूप प्रान्स्वा ने दिया । 1974 में उनके द्वारा फ्रेंच भाषा में रचित 'फेमिनिज़्म अथवा मृत्यु' नामक रचना में 'इको फेमिनिज़्म का काल' (The time for Eco-Feminism) शीर्षक अध्याय में पारिस्थितिक स्त्रीवाद का आरंभ माना जाता है ।

आधुनिक फेमिनिस्टों में सबसे पहले 'सीमोन द बुआर' में स्त्री और प्रकृति को साथ रखकर विचार प्रस्तुत किया । पुरुषसत्तात्मक समाज में स्त्री और प्रकृति की समानता को पहचान कर दोनों का वस्तुकरण किया । इसलिए पुरुष ने स्त्री और प्रकृति को अपनी शक्ति के आधीन बनाकर नई संस्कृतियों का निर्माण करना शुरु कर दिया । जिस प्रकार पुरुष माँ से अलग होकर उसके ही शोषण के लिए उठ खडा होता है उसी प्रकार प्रकृति रूपी माँ के लाड-प्यार को भूल कर वह (पुरुष) उसके शोषण के लिए तैयार हो जाता है । स्त्री और प्रकृति से भी बढकर श्रेष्ठ सृष्टि करने की व्यग्रता में पुरुष प्रकृति को खाकर औद्योगिक संस्कृति के निर्माण में लगा हुआ है । बुआर यह मानती है कि पुरुष द्वारा निर्मित औद्योगिक संस्कृति में आर्थिक पहलू ही नहीं, मनोवैज्ञानिक पहलू भी काम करता है । 1971 में, अमेरिकी फेमिनिस्ट शेरी आरनर ने यह सवाल सामने रखा कि संस्कृति के लिए प्रकृति के समान है पुरुष के लिए स्त्री? (Is female to male as nature is to culture) बुआर के चिन्तन एवं शेरी के सवाल में पारिस्थितिक स्त्रीवाद (Eco-Feninism) नामक दर्शन का बीजरूप विद्यमान है ।

फ्रेंच फेमिनिस्ट 'प्रान्स्बा द यूबोण के अनुसार भूमि के नाश का दायित्व पुरुषों पर है यानि भूमि के शोषण का कारण पुरुष की गलत मानसिकता है । इनके शोषण से भूमि को मनुष्य की भलाई के लिए बचाने में स्त्री समर्थ है । आरंभिक काल में यानी पाँच हज़ार वर्ष से पूर्व खेती स्त्रियों

के नियंत्रण में थी । बाद में पुरुष ने इसे अपने अधीन कर लिया । मिट्टी की उत्पादन क्षमता के साथ-साथ स्त्री की उर्वरता को भी पुरुष ने अपने आधीन कर लिया । इसलिए आज की प्रमुख दो समस्थाएँ-सीमारहित जनसंख्या और प्राकृतिक संसाधनों का नाश । पुरुष द्वारा, पुरुष के लिए निर्मित समाज के भौम नियम, स्त्री के ऊपर पुरुष के अधिकार ज़माने में सहायक सिद्ध हुआ । आज का पारिस्थितिक संकट पुरुष लिंगाधिपत्य की सृष्टि है। पूँजीवाद और समाजवाद दोनों समान रूप से इस पारिस्थितिक नाश के कारण हैं । यदि पूँजीवाद मुनाफे के नाम पर काम करता है तो समाजवाद प्रगति के नाम पर । प्रान्स्वा इको-फेमिनिज़्म को मानवीयता के रूप में देखती है । स्त्री-पुरुष भेद के बिना मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने, समझने और मानने वाले एक संसार के सृजन में इको-फेमिनिज़्म काम कर रहा है । मार्क्स ने जो दायित्व मज़दूर को दिया वही दायित्व इस संदर्भ में स्त्री को है । (And the planet placed in the Feninine will flourish for all)

बीसवीं सदी के सातवें दशक में अमेरिका में भी इको-फेमिनिज़्म शुरु हुआ । ऐसा माना जाता है कि 'इको-फेमिनिज़्म शब्द का अंग्रेज़ी में प्रथम प्रयोग सामाजिक इकोलॉजी के प्रवर्तक 'मुरे बुक्कच्य' के जन्मस्थान बेरमेंड में स्थापित 'Institute of Social Ecology' ने किया । उस संस्था ने 1976 में इको-फेमिनिज़्म का पाढ्यक्रम चलाया । इसे चलाने का दायित्व

पारिस्थितिक स्त्रीवाद के मुख्य दार्शनिक 'मेडम नेस्त्रां किंग (Ynestra King) का था । 1981 में इन्होंने फेमिनिज़्म और प्रकृति की कला नामक प्रमाणिक पुस्तक प्रकाशित की । इको-फेमिनिज़्म का मकसद प्रकृति और स्त्री के ऊपर पुरुषसत्तात्मक समाज के शोषण को समाप्त करना है । यह प्रतिरोध सैद्धांतिक होने के साथ-साथ राजनैतिक भी है । इको-फेमिनिज़्म फेमिनिस्ट सिद्धांन्त और पारिस्थितिक दर्शन दोनों को आधार बनाकर आगे बढा ।

साहित्य में पारिस्थितिक स्त्रीवाद

पारिस्थितिक स्त्रीवाद एक अन्तर अनुशासनात्मक आंदोलन है जो प्रकृति, राजनीति, स्त्री एवं अध्यात्मिकता के संबंध को नए ढंग से सोचने पर विचार करता है । Dr. Prathibha V. Eco-Feminism के अर्थ को स्पष्ट करती हुई लिखती है 'Eco-Feminism is a Social/Political movement which points go the co-existence of considerable common ground between environmentalism and feminism."[1] पारिस्थितिक स्त्रीवाद सभी पितृसत्तात्मक व्यवस्थाओं को नकारता है और पुरुष द्वारा स्त्री के शोषण को पर्यावरण (प्रकृति) से भी जोडता है। जहाँ तक नारीवादी विमर्श का सवाल है, इसमें केवल पुरुष और स्त्रियों के बीच की भेदनीति पर विचार किया गया लेकिन पारिस्थितिक स्त्रीवाद में स्त्री

1. डॉ. प्रतिभा जी (C tude Amuli discipi Research Journals) पृ. 13

के साथ-साथ प्रकृति को भी विचार का केन्द्र बनाया गया । फलस्वरूप विज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास, राजनीति जैसे विभिन्न क्षेत्रों के विचारकों ने पर्यावरण के प्रति नारीवादियों की परंपरागत धारणा की आलोचना की ।

पाश्चात्य साहित्य

साहित्य के क्षेत्र में पारिस्थितिक स्त्रीवाद की शिरकत पाश्चात्य देशों से मानी जाती है । अमेरिका में पारिस्थितिक स्त्रीवाद सत्तर के दशकों में आरंभ हुआ । 1990 में अमेरिका साहित्यिक विभागों में, साहित्य में पृथ्वी केन्द्रित पारिस्थितिक दर्शन का अध्ययन शुरू हुआ । पारिस्थितिक दर्शन के अध्ययन में साहित्य और पर्यावरण के बीच का संबंध है । प्रकृति पर केन्द्रित स्त्री साहित्य सबसे ज़्यादा उन्नीसवीं सदी में इग्लैंड और अमेरिका के साहित्यों में मिलता है । इन्होंने समकालीन पुरुष रचनाकारों से भिन्न नज़रिए को अपनाया । इन साहित्यों में प्रकृति और जानवरों को शोषण से मुक्त करवाने का आवाहन था । अमेरिका की कई महिला रचनाकारों ने अपनी यात्राओं का अनुभव लिख कर स्त्री को प्रकृति से जोडने की जदोजहद की । इनमें 'सूसन फेनीमोर कूपर' द्वारा लिखित 'रूरल हवेरस' प्रकृति पर केन्द्रित उल्लेखनीय रचना मानी जाती है । अमेरिका की एक अन्य उपन्यासकार साराह ओर्न जवेट (Sarah Orne Jewett) का उपन्यास 'द कंट्री ऑफ द पोइन्टिंग फिरस' भी इस संदर्भ में विशेष महत्व रखता है । 19 वीं

शताब्दी के स्त्री लेखन में विविधता पाई जाती है । इन साहित्य की खूबी यह मानी जाती है कि इसमें मनुष्य और प्रकृति के बीच के संबंध को बारीकी से चित्रित किया गया । दूसरी ओर महान् रचनाकार वेड्सवर्थ की बहन डोरती बेड्सवर्थ की रचनाओं में भी इको-फेमिनिज़्म संबंधी विचारधारा देखने को मिलती है । 1903 में प्रकाशित मेरी ओस्टिन की रचना 'द लैंड ऑफ लिटिल रेन' भी (The land of little rain) भी पारिस्थितिक स्त्रीवाद के पुख्ता उदाहरणों में एक है । 1991 में लोरेन आन्डेर्सन द्वारा संपादित 'पृथ्वी की बहनें' (Sister of the Earth) पारिस्थितिक स्त्रीवाद के साहित्य से जुडी एक अनुठी रचना है ।

साहित्य में पारिस्थितिक स्त्रीवाद एक आंदोलन के रूप में उभरा । संपूर्ण साहित्य में इसकी शिरकत हो चुकी है । यह अपने अलग-अलग आयामों के साथ संपूर्ण साहित्य में मौजूद है । साहित्य में प्रमुख रूप से गिने जाने वाले पारिस्थितिक स्त्रीवाद रचनाकार मारगेट आखुड, स्टॉर हौक, लरली मोरमण डीलको, लूसी तापहोन्सी, विल्ला कातेर, उरसुला लेम्बिन, एनी दिल्र्लाद है । हाल ही में पारिस्थितिक स्त्रीवाद के आधार पर साहित्य की आलोचना करने वाले कई आलोचक भी नज़र आते हैं जैसे ग्लेरिया, अलसान दुवा, होगा हारवे, पाट्रीक मार्फी आदि ।

चूंकि पारिस्थितिक स्त्रीवाद की शुरुआती दौर में पाश्चात्य देशों के

साहित्य का सहयोग रहा था लेकिन बाद में भारत के साहित्य में भी इस वाद की पहचान हो गई । पहले पारिस्थितिकी चिंतन के तौर पर विचार-विमर्श किया गया और फिर प्रकृति और स्त्री दोनों के शोषण के विचार पर पारिस्थितिक स्त्रीवाद का रूपायन हुआ । फलस्वरूप पारिस्थितिक स्त्रीवाद ने संपूर्ण साहित्य में अपनी अलग जगह बना ली है ।

हिन्दी में पारिस्थितिक स्त्रीवाद

हिन्दी में सर्वप्रथम पारिस्थितिक स्त्रीवाद पर लिखने व परखने का काम डॉ. के. वनजा ने किया । उनकी इकोफेमिनिज़्म पुस्तक इस संदर्भ में विशेष महत्व रखती है । अपनी पुस्तक के दौरान वे स्त्री व प्रकृति को एक सूत्र में बांधने की कोशिश करती है । उन दोनों की संवेदना को वे एक रूप देती है । उनका मानना है कि स्त्री में वह शक्ति है जिससे वह प्रकृति के साथ-साथ शोषित व पीडितों को भी शोषण की गलत व्यवस्था से बचा सकती है। वैसे तो हिन्दी साहित्य का पारिस्थितिक स्त्रीवाद की दृष्टि से अध्ययन नहीं हुआ है लेकिन फिर भी अनामिका की रचनाएँ स्त्री को प्रकृति से यानी लोक से जोडती हैं । वह स्त्री की भाषा को प्रत्येक भाषा की संपत्ति मानती है । वे लिखती हैं "स्त्रियाँ न हो तो भाषा की जातीय अनुगुंजे ही गायब हो जाएँ। अकारण नहीं है कि नानी-दादी घर या मुहल्ले की वृद्धाओं की संगति में पलनेवाले बच्चों की भाषा में एक अलग अनुगूंज होती है । भाषा के साथ

'मातृ' का प्रयोग उसे एक अलग तरह की ताकत देता है -माँ के दूध की ताकत बतरस की लहक ! आंचल का दूध, आँखों का पानी और बतरस- तीनों मिलझुल कर भाषा का दसमूलारिष्ट और गाइपवाटर पिला देते हैं । नवजातक की तरह अपनी जंघा पर उलट-पलट कर भाषा की तेल मालिश करती है । स्त्रियाँ अनौपचारिक सी उमंग और संवादधर्मिता डेमोक्रेट के गुण है । कंधे पर हाथ रखकर घरेलू बिंबों में सहज ढंग से कोई डेमोक्रेट ही बतिया सकता है। इससे यह सहज प्रमाणित होता है कि स्त्री दृष्टि एक प्रजातांत्रिक दृष्टि है और आज प्रजातांत्रिक दृष्टि और प्रजातंत्र की ज़रूरत स्वयं सिद्ध है।"[1] अनामिका की स्त्री आंदोलन संबंधी परिकल्पना पारिस्थितिक स्त्रीवाद से जुडी है । अनामिका जी इस संदर्भ में स्त्री आंदोलन से जुडे दलित, पर्यावरण आदि की ओर इशारा भी करती हैं । मृदुला गर्ग और प्रभा खेतान भी इस पारिस्थितिक स्त्रीवाद की पक्षधर है। निर्मला पुतुल की कविताएँ भी पारिस्थितिक स्त्रीवादी विचारधारा से जुडी है । 'अपने घर की तलाश' नामक काव्य संग्रह में निर्मला जी जंगल, पहाड, स्त्री, पृथ्वी के शोषण का खुले रूप में प्रतिरोध करती है । समकालीन हिन्दी साहित्य में ऐसे कई उदाहरण हैं जो पारिस्थितिक स्त्रीवाद की ज़मीन को उपजाऊ बनाते हैं। समकालीन साहित्य में पारिस्थितिक स्त्रीवाद ने अपनी जडें जमा ली हैं और अब वह भविष्य में हर क्षेत्र पर अपना अधिकार ज़माना चाहता है । क्योंकि

---

1. अनामिका - स्त्री विमर्श का लोकपक्ष, पृ. 29-30

औद्योगिकीकरण व पूँजीवादी इस सत्ता के खिलाफ एक हथियार पारिस्थितिक स्त्रीवाद ही है । गोया कि पारिस्थितिक स्त्रीवाद साहित्य के ज़रिए दुनिया को शोषण से मुक्त करवाने का मूल मंत्र है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद के संदर्भ में समकालीन हिन्दी कविता

समकालीन हिन्दी कविता में पारिस्थितिकी को लेकर कई विचार उभर कर सामने आ रहे है । समकालीन कवियों ने पारिस्थितिक चिंता को कई रूपों में प्रकट भी किया है । आज का दौर, भूमंडलीकरण, बाज़ारीकरण, नवउपनिवेशवाद का है । इस दौर में एक ओर मानव विकास नए आयामों को छू रहा है तो दूसरी ओर पर्यावरण की समस्या दिन-ब-दिन विकराल होती जा रही है । साहित्य पारिस्थितिकी विमर्श की महत्ता एवं अनिवार्यता बढती जा रही है । बी.एल. गर्ग के शब्दों में 'जन्तुओं अथवा पादपों या जीव संख्याओं या समुदायों और उनके वातावरण के परस्पर संबंधों के अध्ययन को ही पारिस्थितिकी कहते हैं।"[1] प्रकृति या पर्यावरण को पूँजीवादी सत्ता के शोषण से मुक्त करवाने का काम पारिस्थितिकी स्त्रीवाद के तहत संपन्न होने की विचारधारा आज जोर पकड रही है । स्त्री द्वारा प्रकृति को शोषण से मुक्त करवाने की मुहिम पारिस्थितिक स्त्रीवाद के अंतर्गत निहित है । समकालीन रचनाकार सुषमा चौहान की कविता 'महक प्रकृति की' में प्रकृति के नष्ट होते सौन्दर्य व औद्योगिकीकरण की बढती साजिशों पर जोर दिया गया है ।

1. बी. एल. गर्ग - पर्यावरण प्रकृति और मानव, पृ. 18

स्त्री व प्रकृति की संवेदना एक हैं । वह जान चुकी है कि मनुष्य राशि की रक्षा हेतू स्त्री और प्रकृति के अस्तित्व को बचाए रखना ही भविष्य के लिए अनिवार्य है ।

"कोयल की लंबी सी कूक
चिडियों का चहचहाना
गायों का रम्भाना
शरीर को/हल्की सी / ठंडी सी
हवा का गुदगुदाना
वर्षों बाद महसूस कर रही थी
तभी शोर उठा
आ गई, आ गई
बिजली आ गई
और प्रकृति
अपने तमाम सौन्दर्य
व उपासनों के साथ
न जाने कहाँ
खो गई ।"[1]

स्त्री और प्रकृति का संबंध अटूट है । प्रकृति स्त्री से बनी है और स्त्री प्रकृति से । स्त्री में मिट्टी की खुशबू है । 'प्रियंका पंडित' अपनी कविता 'कत्थई मिट्टी' में लिखती हैं

इस कत्थई मिट्टी में
मेरा भीना-भीना पसीना

1. मधुमती - अंक 12, दिसंबर 2011

जमीनी हदों से बाहर आना चाहता है
जब भी ये बैजनी फूल खिलते हैं
मैं पेड हो जाना चाहती हूँ....

'रंजना जायसवाल' अपनी कविता में स्त्री को नदी मानती हैं । नदी स्त्री का ही एक रूप है । स्त्री की तरह ही नदी भी संस्कृतियों की थाती है। जिस ओर बहती है रास्ता बनाकर बहती है और साथ में लाती है संस्कृति व सभ्यता की धरोहर।

"मैं नदी हूँ
रास्ता बनाना जानती हूँ।
उत्तर आती हूँ ऊँचे पहाडों से।
ढकेल देती हूँ
शिलाओं को
गिराती हूँ, ऊँचे प्रपातों से
वनों और कंदराओं में
भूल जाती हूँ रास्ते
पर रुकती नहीं
बढती रहती हूँ निरन्तर
कोई नहीं आता
मुझे राह दिखाने
रास्ता खुद बनाती हूँ
और अपने बनाए
रास्तों से पहुँचती हूं समुद्र तक।"[1]

प्रकृति को बचाने की जदोजहद में लगी 'मेधा पाटकर' पर कविता

1. आलोचना - अंक 51, अक्तूबर - दिसंबर, 2013

करते हुए 'एकांत श्रीवास्तव' लिखते है कि वह जंगल की हरियाली हैं और चिडियों का गीत भी है । 'श्रीवास्तव' मेधा पाटकर की काबिले तारीफ करते हैं और उन्हें सत्ता के खिलाफ लडने वाली योद्धा भी मानते हैं ।

सत्ता के सीने में तनी हुई बंदूक है
धरती की माँग का
दिप-दिप सिंदूर है मेधा पाटकर।

''निर्मला गर्ग' पेड-पौधों की नस्ल को पहचानती है, और यह दावा भी करती है कि स्त्री की नस्ल भी उन्ही पेड-पौधो से जुड़ी है । प्रकृति के साथ स्त्री का जो सरोकार है उस संबंध की जड इन्हीं नस्लों में छिपी हुई है। अपनी कविता 'पेड-पौधों की नस्ल' में वे इस बात को स्पष्ट रूप देती हैं ।

"जब भी तुम्हे देखती हूँ
भीतर से खुलती हूँ
बाहर से सिमटती हूँ
मैं पेड-पौधों की नस्ल की हूँ।"[1]

स्त्री प्रकृति की तरह उन्मुक्त है, उसका जीवन सदा स्वतंत्र होना चाहिए । उसे मुक्त होना चाहिए रूढिवादी परंपराओं से, दकियानूसी विचारों से । आसमान की तरह साफ और स्वतंत्र होना चाहिए उसका जीवन । 'सविता सिंह' अपने जैसा जीवन नामक कविता में लिखती हैं ।

1. निर्मला गर्ग - कबाडी का तराजू,

'उन्मुक्त हूँ देखों,
और यह आसमान
समुद्र यह और उसकी लहरें
हवा यह
और इसमें बसी प्रकृति की गंध सब मेरी
और मैं हूँ अपने पूर्वजों के शाप और अभिलाषाओं
से दूर पुर्णतया अपनी।"[1]

"विवेक कुमार मिश्र' स्त्री और पृथ्वी को एक समान माँ का दर्जा देते हैं । वे यह मानते हैं कि स्त्री ही इस पृथ्वी पर सभ्यता और संस्कृति को बचाए रख सकती है । क्योंकि मनुष्य और पृथ्वी का निर्माण स्त्री ही कर सकती है । इसलिए स्त्री ही इस जिम्मेदारी को बखूबी निभा सकती है । 'स्त्री और रंग' नामक कविता में वे इस बात का जिक्र करते हैं।

"पृथ्वी और स्त्री का गर्भधारण
एक भूमि पर समान रंग रूप
जीवन धर्म रखता है
मुझे स्त्री बराबर अपने गर्भ में
पृथ्वी सी ही लगी
कोई स्त्री पृथ्वी या पृथ्वी
स्त्री के रंग रूप में बार-बार
जीवन धारण करती है....

पृथ्वी फूलों से, तितली से रंग जाती
ठीक वैसे ही स्त्री के रंग में

---

1. सविता सिंह - अपने जैसा जीवन

सभ्यता का रंग पढता हूँ
जब तक स्त्रियों में रंगों के प्रति आकांक्षा है
इस पृथ्वी पर सभ्यता और संस्कृति को
कोई खतरा नहीं है ।"[1]

'वृक्ष था हरा भरा' नामक कविता में 'ममता किरण' लिखती है कि स्त्री और प्रकृति का रूप एक है । प्रकृति का हर एक रूप चाहे वह नदी हो पेड हो, धरती हो, जंगल हो सब स्त्री के रूप से मेल खाते हैं

"स्त्री बसा लेना चाहती है
समूचा का समूचा संसार नदी का
अपने गहरे भीतर
जलाती है दीप आस्था के
नदी में प्रवाहित कर
करती हैं मंगल कामना सबके लिए
और
अपने लिए मांगती है....
सिर्फ नदी होना
सिर्फ नदी होना।"[2]

निर्मला पुतुल की कविताओं में पारिस्थितिक स्त्रीवाद प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता है । उनकी कविता में आदिवासी, स्त्री, पृथ्वी और जंगल के शोषण का प्रतिरोध खुले रूप में दर्ज हुआ है । अपने घर की तलाश' नामक कविता संग्रह में वे इस प्रतिरोध को एक नई ओजपूर्ण वाणी प्रदान करती है। देखिए-

---

1. विवेक कुमार मिश्र - स्त्री और रंग) मधुमती - अंक 10, अक्तूबर 2004
2. ममता किरण - वृक्ष था हरा भरा, पृ. 12

वे करती हैं प्रेम जंगलों से नदियों से, पहाडों से
मिट्टी से, गीतों से, फसलों से
उनके नाते-रिश्ते की परिधि में आते
गाय, बकरी, सुअर भी
घर की परिधि से बाहर भी
दूर क्षितिज तक फैली होती
उनकी दुनिया
जहाँ होता पहाड-सा दुख पहाड सा धीरज
जंगल की सी वीरानियाँ "[1]

'माई की विशाल छाती पर अग्निवृक्ष उडते है' नामक कविता में देवताले जी स्त्री और प्रकृति को मिलाकर देखते हैं । वे स्त्री व प्रकृति को एक मानते है । यानी पेड को कुलहाडी से काट डालने का मतलब स्त्री को काटना है । देवताले जी ब्राह्मांड की समस्त खुशियों में स्त्री व पृथ्वी की भागीदारी मानते हैं ।

हज़ार तरीकों से प्यार किया है हमने
पृथ्वी से
और
स्त्री से
दोनों के भीतर है ब्राह्मांड की खुशियों के झरने।

संक्षेपतः समकालीन हिन्दी कविता में पारिस्थितिक स्त्रीवाद की कई मिसालें देखने को मिलती हैं । युवा कवियों या कवियत्रियों में स्त्री व प्रकृति

1. निर्मला पुतुल - अपने घर की तलाश, पृ 6

के शोषण के खिलाफ एक नई आवाज़ या नये प्रतिरोध का स्वर देखने को मिलता हैं । किंतु आज की कविता में कहीं न कहीं कोई कसर तो बाकी है क्योंकि आज की कविता में व्यापक समाज शामिल नहीं है । 'मेनेजर पांड़ेय' लिखते हैं "आज की अधिकांश हिन्दी कविता का जन-जीवन पर कोई खास प्रभाव नहीं है और उससे व्यापक समाज का कोई लगाव भी नहीं है क्योंकि उसका स्वभाव अभिजन समुदाय की अभिरुचि के अनुकूल है, व्यापक समाज की आकांक्षा के अनुरूप नहीं ।"[1]

यानी समकालीन हिन्दी कविता में व्यापक समाज की हिस्सेदारी होनी चाहिए । पारिस्थितिक स्त्रीवाद संपूर्ण समाज को केन्द्र में रखकर विचार करता है । समकालीन कविता में भी पारिस्थितिक स्त्रीवाद की यही भूमिका विद्यमान है ।

समकालीन कहानी में पारिस्थितिक स्त्रीवाद

समकालीन हिन्दी कहानी का फलक व्यापक है । समकालीन कहानी कई विमर्शों को साथ ले कर आगे बढ रही है ।स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, पारिस्थितिक विमर्श, आदिवासी विमर्श को केन्द्र में रखकर आज कई कहानियाँ लिखी जा रही है । 'पारिस्थितिक स्त्रीवाद' रूपी नए विमर्श को हिन्दी कहानी में अपना विशेष स्थान प्राप्त हुआ है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद एक अन्तर अनुशासनात्मक आंदोलन है जो प्रकृति, राजनीति, स्त्री और

1. मैनेजर पांडेय - हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान, पृ. 214

आध्यात्मिकता के संबंध में नए ढंग से सोचने के लिए प्रेरित करता है । समकालीन कहानियों में पारिस्थितिक स्त्रीवाद की विचारधारा को रेखांकित किया जा सकता है । हालांकि इस मुद्दे पर अधिक बहस हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में नहीं हुई है फिर भी इस विचारधारा को कहानियों के द्वारा विश्लेषित किया जा रहा है ।

समकालीन कहानीकार मृदुला गर्ग की कई कहानियों का पारिस्थितिक स्त्रीवाद' के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण एवं मूल्यांकन करना समीचीन होगा। "इक्कीसवीं सदी का पेड इस संदर्भ में विशेष महत्व रखने वाली कहानी है। कहानी में गर्ग जी लिखती है कि किस तरह आज का मानव इतना स्वार्थी और दरिन्दा बन गया है कि अपने आस-पास के पेडों को देखने तक का समय उसके पास नहीं है । चीन से आई चिडियों की ओर भी लेखिका इशारा करती हैं । उनका यहाँ अपनी नई नस्ल के साथ बसना कितना कष्टदायक है । इक्कीसवीं सदी का पेड यानी पेडों को नए सिरे से लगाने की माँग । इक्कीसवीं सदी का पेड बुजुर्ग पेड है वह गवाह है जवान पेडों की मौत का। मृदुला जी ने आबादी से बढते प्रकृति शोषण पर भी विचार किया है । इन्सानों व प्रकृति के बीच का सांझा-संबंध नष्ट हो चुका है । इस पर लिखती है "चिडियाँ कह रही थीं, शहर के बारिशों को पेडों की ज़रूरत नहीं रही । ठंडी गाडियों में चलनेवालों को पेडों से क्या काम ? फिर ये इंसानी

टिड्डियाँ किस शहर से आयी है ? इस शहर के अंदर कितने शहर बसते हैं ? नहीं, लोगों को पेडों की ज़रूरत तो है, पर उनसे इंसानियत नहीं रही। इस कदर बेदिली । ऐसी बेमुख्वत मौत । इतना बेदर्द इस्तेमाल।"[1] मृदुला जी की 'करार' नामक कहानी में प्रकृति और स्त्री के आपसी बहनापे को दर्शाया गया है । कहानी में अमरीकी महिला 'चेरी यूनिसेफ' है जो पर्यावरण और पानी संचयन के सेमिनार में भाग लेने के लिए जोधपुर आई है । वह चिडियों को 'दूत' का दर्जा देती हैं । चिडियों से ही पेडों का अस्तित्व है और पेडों से ही चिडियों की अस्मिता कायम रह सकती है । गोया वह (चेरी यूनिसेफ) दोनों को बचाने का प्रयास करती है ।

'तीन किलो की छोकरी' भी गर्ग की एक ऐसी कहानी है जिसमें जंगल के नष्ट होने की वेदना है । कहानी में जब शारदाबने की लडकी लकडी काटने जंगल जाती है तो उसे जलावन लकडी कहीं नहीं मिलती । सारा जंगल पूँजीवादी सत्ता के अधिकार के तहत साफ हो चुका है । आम जनता का जंगल के साथ सरोकार नष्ट हो गया है । शारदाबेन कहती है । "क्या करे मनुष ! रहा कहाँ जंगल जो जलावन मिले । सब काट कूटकर तम्बाकू उगा लिया पटेलों ने। गरीब-गुरबा का क्या, लो तेंदु का पत्ता और फीलों बीडी । क्या मरद, क्या औरत, क्या बूढा, क्यान बच्चा ।"[2] आगे पर्यावरण को शोषण से मुक्त करवाने की माँग करने वाली उनकी कहानियां बर्फ बनी

1. मृदुला गर्ग - इक्कीसवीं सदी का पेड, पृ. 107
2. मृदुला गर्ग - इक्कीसवीं सदी का पेड, पृ. 29

बारिश, मेरे देश की मिट्टी, कली में सत आदि प्रमुख है । उनकी संपूर्ण कहानियों में स्त्री के माध्यम से पूँजीवादी सत्ता के कारण शोषित हो रही प्रकृति को मुक्त करवाने का आह्वान है ।

राजेश जोशी की कहानियों में भी कहीं न कहीं पारिस्थितिक स्त्रीवादी विचार को परखा जा सकता है । उनकी कहानी 'कपिल का पेड' में स्त्री और पेड को समान दर्जा देकर उनके शोषण की कथा को पेश किया गया है । कहानी में लडकी और पेड को एक समान दर्जा देने की सोच है । दोनों ने धरती की उर्वरता के लिए अपना समर्पण किया लेकिन इस पूँजीवादी सत्ता ने इन दोनों (प्रकृति, स्त्री) का शोषण कर इन्हें विनाश की कगार पर खड़ा कर दिया है । कहानी इन दोनों के शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाती है ।

'स्वयं प्रकाश की 'बली' नामक कहानी उपर्युक्त दृष्टि से विचारणीय है । कहानी में लडकी के माध्यम से गांव में आए बदलाव का कच्चा-चिट्टा है । गांव में शहरों से आए लोगों द्वारा जीव-जन्तुओं को मारना और सुगंधित गांवों का दुर्गन्धित होना इस कहानी की दर्दनाक व्यथा है । लडकी जब गाँव आती है तो उसे एहसास होता है "वहीं कोयल-मैंना, केले-कटहल, आम-महुआ, गाँव-डवार, खेत-मैदान, पेड़-गाँछ, तालाब झरने, नदी-पहाड, वही ठंडी हवा,.. वैसी ही मादक सुगन्ध... अचानक उसे लगा, वह आपने आपको बहला रही है । सुगंध नहीं दुर्गंध... कहीं कुछ सड रहा है - हवा में कुछ सड

रहा है...जैसे कहीं किसी जानवर की लाश सड रही हो ...।" विकास ने कैसे स्त्री और प्रकृति को समान रूप से बर्बाद किया इसका पर्दाफाश है इस कहानी में बटरोही की 'कही दूर जब दिन ढल जाए' कहानी भी इस संदर्भ में प्रमुख मानी जाती है । कहानी में बुआ के माध्यम से ग्रामीण संस्कृति को बचाए रखने की जदोजहद पारिस्थितिक स्त्रीवादी विचारधारा को रेखांकित करती है । क्षमा शर्मा की कहानियों में भी हम स्त्री और प्रकृति के बीच के सहज संबंध को पहचान सकते हैं । उनकी कहानी संग्रह 'लडकी जो देखती पलट कर' में कई ऐसी कहानियों हैं जिन्हें उदाहरण के तौर पर परख सकते है । जिसमें ईको फ्रेन्डली, माँ सेम्ल डॉट कॉम, धूप है कि खिल उठी आदि कहानियाँ प्रमुख है । इको फ्रेन्डली नामक कहानी में क्षमा शर्मा ने नदियों के प्रदूषण पर विचार किया है । यमुना नदी के प्रदूषित जल पर शोध किया गया है । कहानी के अंत में कहती है "अच्छा हुआ जो मछलियाँ भी मुझसे दूर चली गयीं क्योंकि अब यहाँ कोई जिन्दा रहने लायक नहीं बचा।"[1] सेमल का पेड कट गया, विकास के मार्ग की बाधा का यह पेड सेमल कट कर प्रकृति से दूर हो गया । क्षमा शर्मा इस बात पर व्यंग्य करती है "जहाँ सेमल था, वहाँ पार्किंग बनेगी । सेमल की राह पता नहीं, अब और कितने पेड जायेंगे। थोडे दिन बाद हम सब, क्या धरती, क्या आकाश सब भूल जायेंगे कि कोई सेमल भी वहाँ था । लोग सेमल को भूलें, तो क्यों न इससे पहले इसकी एक

1. क्षमा शर्मा, इकोफैडली, पृ. 14

साइट बना दी जाये उस पर इसके बारे में सारी जानकारी डाल दी जाये, जिससे कि आज से सौ साल बाद भी कोई इस सेमल के बारे में जान सके।"[1]

विद्यासागर नौटियाल का कहानी संग्रह 'पर जा पंचधार' भी पहाडी स्त्री व प्रकृति पर आधारित है । जिसमें तेईस कहानियाँ है । ये कहानियाँ भी इस संदर्भ में विशेषतः विचारणीय है ।

संक्षेपतः में समकालीन हिन्दी कहानी में नए विमर्श की आवाजाही है। पारिस्थितिक स्त्रीवाद का स्थान इसमें श्रेष्ठ है क्योंकि इसका लक्ष्य आज के विकट राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक माहौल में स्त्री व प्रकृति को गठित करना है । मृदुला गर्ग, राजेश जोशी, स्वयं प्रकाश, बटरोही, विद्यासागर नौटियाल और क्षमा शर्मा की कहानियाँ इस विमर्श से जुड़ कर साहित्य जगत में एक नई राह को खोलने में समर्थ हो रही हैं ।

समकालीन उपन्यास में पारिस्थितिक स्त्रीवादी चिंतन

समकालीन हिन्दी उपन्यास यथार्थ की उपजाउ भूमि में अपनी रचना को पैदा करता है । आज के समय और उसकी समस्याओं को पेश करने के लिए रचनाकार को यथार्थता की कसौटी में उतरना ही पडता है । गोया कि आज का उपन्यास यथार्थ की भूमि पर खडा है । हाशियेकृतों के शोषण

1. क्षमा शर्मा, इकोफैडली, पृ. 184

और उसकी मुक्ति की चाह समकालीन उपन्यास की सबसे बडी चुनौती है । उपन्यास ने सामाजिक व्यवस्थाओं, विचारधाराओं, पितृसत्ता से अपनी पराधीनताओं, जाति-व्यवस्था, गुलामी, नस्लभेद, उपनिवेशवाद आधिपत्य, अस्मिता, सांप्रदायिकता, लोकतंत्र और यहाँ तक कि अपने स्वरूप के बारे में प्रश्न करते हुए पाठकों की चेतना और सहानुभूतियों का विस्तार किया है। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं "उपन्यास ने साहित्य की संस्कृति का स्वरूप बदला है । भारतीय समाज के जो हिस्से, समुदाय और व्यक्ति मुख्यधारा से अलग हाशिए पर रहने के लिए मज़बूर थे, वे साहित्य-संसार के भी हाशिए पर ही रहने के लिए अभिशप्त थे । मुख्यधारा से प्रायः बहिष्कृत, उपेक्षित, अदृश्य और बेजुबान जन को उपन्यास में जगह मिली है ।"[1] कुल मिलाकर कहा जाए तो उपन्यास जीवन की एक उज्ज्वल पुस्तक है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद विमर्शों की अगली कडी मानी जा सकती है और इसका व्यापक प्रतिफलन उपन्यासों के माध्यम से स्पष्ट हो रहा है । हिन्दी उपन्यासों में ऐसे कई उपन्यास हैं जिन्हे हम पारिस्थितिक स्त्रीवाद के कवच के अंदर बांध सकने की कोशिश कर सकते हैं । समकालीन उपन्यासों में मृदुला गर्ग का उपन्यास 'कठगुलाब' इसी विमर्श के तहत विचारणीय है । उपन्यास में संपूर्ण मानव जाति के शोषण के विरुद्ध आवाज़ बुलंद की गई है । स्त्री द्वारा प्रकृति एवं स्त्री की रक्षा को लक्ष्य करते हुए उपन्यास अंत में मानव जाति की रक्षा हेतू निर्मित गोधड गाँव में समाप्त होता

1. मैनेजर पांडे - उपन्यास और लोकतंत्र, पृ. 36

है । कठगुलाब जो बंजरता का प्रतीक है नायिका स्मिता और असीमा के प्रयत्नों से वह भी खिल उठता है । गोधड गाँव के निर्माण से आदिवासी स्त्रियों के विकास और उनकी खुशहाली, प्रकृति के साथ जुडकर प्रकृति को अपना बना कर संपूर्ण मानवराशी को बचाने की अगाध मेहनत उपन्यास में स्त्री और प्रकृति के संबंध को गहरा बना देती है । स्पष्ट रूप से देखा जाए तो इस उपन्यास में पारिस्थितिक स्त्रीवाद आरंभ से अंत तक पाठक को स्त्री व प्रकृति के सांझे संबंध से जोड कर रखता है ।

समकालीन उपन्यासकार संजीव के उपन्यासों में भी पारिस्थितिक स्त्रीवाद के प्रतिमानों को देख सकते हैं । धार, रह गई दिशाएँ इसी पार, पॉब तले की दूब इसमें प्रमुख हैं ।

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास चाक, अल्मा कबूतरी, बेतवा बहती रहे, इदन्नमम् भी इसी संदर्भ में विचारणीय है । सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव का उपन्यास 'वनतरी' भी इसका अनूठा उदाहरण है । दूसरी ओर कमलेश्वर के 'अनबीता व्यतीत' में भी पक्षियों और मनुष्यों के बीच की धनिष्ठता को रेखांकित किया गया है जो इसके (पारिस्थितिक स्त्रीवाद) अन्तर्गत गिना जा सकता है । कृष्णा सोबती के उपन्यास 'समय सरगम' में भी वृद्धों को साथ लेकर चलने की जो बात है वह आज के समय की माँग साबित होती है । क्योंकि पारिस्थितिक स्त्रीवाद शोषित, दमित हर नस्ल को बचाने का आह्वान करती हैं जिसमें समाज से पिछडे, अलग होते बूढे भी शामिल हैं । विकास

ने आदिवासियों को, गाँव की भोली-भाली जनता को विस्थापित कर दिया है, उन्हें शोषण से मुक्त करवाने की जदोजहद् सुभाष पंत के उपन्यास 'पहाड चोर' में दिखाई देती है । नासिरा शर्मा का 'कुइयांजान' भी इससे भिन्न नहीं। कश्मीरी 'पंडितों के अपने घर से निष्कासित होने की व्यथा और कश्मीरी समस्या से जूझते स्त्री-पात्र क्षमाकौल के उपन्यास 'दर्दपुर' और मनीषा कुलश्रेष्ठ के उपन्यास 'शिगाफ' में है । स्त्री-पात्रों की दारुण अवस्था और उससे जूझते हुए संपूर्ण मानवराशी की रक्षा का ब्यान इन उपन्यासों में देखने को मिलता है । क्योंकि पारिस्थितिक स्त्रीवाद के अन्तर्गत विस्थापन संबंधी रचनाओं को विश्लेषित किया जा सकता है । गोया कि समकालीन हिन्दी उपन्यासों में पारिस्थितिक स्त्रीवाद के प्रतिमानों को व्यापक रूप से परखा जा सकता है । आगामी अध्यायों में समकालीन उपन्यासों पर विस्तार से चर्चा की जा रही है ।

निष्कर्ष

समकालीन हिन्दी साहित्य विमर्शों की भूमि है । इस भूमि पर कई विमर्शों ने जन्म लिया और संपूर्ण समाज में परिवर्तन और विकास का नाश भी बुलंद किया । इसी के तहत प्रकृति को बचाने, उसे सुरक्षित रखने की माँग भी सामने आई । किंतु मात्र प्रकृति का संरक्षण ही काफी नहीं है, प्रकृति से जुडे दलित, दमित, शोषित, पीडित हर वर्ग को प्रकृति के साथ रखकर

शोषण से मुक्त करवाना ही सही मायने में विकास का असली अर्थ है । 'पारिस्थितिक स्त्रीवादी' विमर्श इसी विचारधारा का परिणाम है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद पुरुषवर्चस्ववादी समाज में स्त्री और प्रकृति के ऊपर होने वाले आमानवीय हरकतों पर सख्त विद्रोह जाहिर करता है और प्रकृति एवं संपूर्ण समाज को शोषण से मुक्त करने में स्त्री को काबिल बनाता है । यही नहीं पारिस्थितिक स्त्रीवाद समस्त जैव वैविध्यों के साथ सहिष्णुता एवं स्नेह के व्यवहार को मुख्य स्थान देता है।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद के स्वरूप, उसकी परिभाषा और तत्वों के विश्लेषण से इस विमर्श का सैद्वान्तिक सर्वेक्षण संपन्न होता है । इस संदर्भ में पारिस्थितिक स्त्रीवाद के आरंभिक क्रियाकलापों पर चर्चा भी हुई है । इस विषय पर गहन तौर से चर्चा आगे के अध्यायों के दौरान की जा रही है । यह विमर्श मानव हित के लिए है क्योंकि इस विमर्श की अंतर्दृष्टि मानव को विनाश से बचाने की है जिसमें स्त्री की सहजता व सहिष्णुता का सहारा ले कर प्रकृति को शोषण से मुक्ति दिला कर, उससे जुडी हाशियेकृतों की भलाई शामिल है ।

❖ ❖ ❖

दूसरा अध्याय

पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में स्त्रीवाद

दूसरा अध्याय

स्त्रीवाद और पारिस्थितिक स्त्रीवाद के बीच का संबंध

साठ के दशक में जो स्त्रीवादी आंदोलन पहले अमेरिका और फिर पूरे पश्चिम जगत में फैला, वह मुख्यतः नारी उत्पीड़न के विरुद्ध एक अंधविद्रोह था । बाद में इसकी कई शाखाएँ व उपशाखाएँ फलीं फूलीं । आधुनिक नारीवाद का पहला मील का पत्थर सिमोन द बोउवा की कृति 'द सेकेण्ड सेक्स' थी । 1946 में यह कृति प्रासीसी में और 1953 में अंग्रेज़ी भाषा में प्रकाशित हुई ।

वर्तमान में स्त्रीवाद की चर्चा हर क्षेत्र में मुखरित हो रही है । साहित्य के क्षेत्र में खासकर उपन्यास के क्षेत्र में इस विचारधारा का बोलबाला है । स्त्रीवादी विमर्श स्त्री की मानवीय अस्मिता की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध है । प्रभा खेतान लिखती हैं "नारीवाद पारंपरिक ज्ञान और दर्शन को चुनौती देता है । ऐतिहासिक रूप से हम पुरुष प्रधान समाज में रहते आये हैं, जहाँ स्त्री ज्ञाता नहीं बल्कि ज्ञान की विषय वस्तु है । हम जिसे यथार्थपरक ज्ञान या वस्तुपरक ज्ञान कहते है । वास्तव में वह पुरुषों द्वारा निर्मित एवं उत्पादित ज्ञान है । इसी ज्ञान को पुरुष सत्ता ने समाज के केन्द्र में अधिष्ठित किया । इसके विपरीत नारीवाद सिद्धांत स्त्री-केन्द्रित ज्ञान की चर्चा करता है ।"[1] स्त्रीवाद मुख्यतः स्त्री की मुक्ति की राह को प्रकाशित करता है । रोहिणी

---

1. प्रभा खेतान - अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, पृ. 181

अग्रवाल स्त्रीवाद पर विमर्श करती हुई लिखती हैं ।

"स्त्रीवादी विमर्श इस तथ्य को रेखांकित कर देना चाहता है कि देह पर अधिकार का अर्थ देह की तिजारत का अधिकार नहीं, देह में स्थित मस्तिष्क और हृदय, विवेक और विश्लेषण के सामर्थ्य पर अपना नियंत्रण है । स्त्री मुक्ति आंदोलन की यह सबसे बडी उबलब्धि है । अलबत्ता खेत में खरपतवार उग आये तो घबरा कर किसान खेत जोतना बंद नहीं कर देता।"[1]

वैसे देखा जाए तो हिन्दी में नारी विमर्श की चर्चा का आयाम विस्तृत है । किंतु सिमोन द बुआर, केट मिलेट, जर्मेन ग्रियरे आदि लेखिकाओं के जैसे गंभीर और व्यवस्थित काम हिन्दी में लगभग नहीं के बराबर हुए हैं । हिन्दी में नारीवाद की वैचारिकी का मूल स्त्रोत वस्तुत ये ही लेखिकाएं हैं । हिन्दी की प्रमुख लेखिका प्रभा खेतान लिखती हैं "अमानवीय विकास के प्रतिमानों को खारिज करना और जनोन्मुख नज़रिये को विकसित करना नारीवाद का पहला उदेश्य होना चाहिए । "[2] स्त्रीवाद ने स्त्री की अस्मिता को तलाशने में उसकी मदद की है । यही वह इकलौता दर्शन है जो गरीब बहनों से प्रखर सरोकार रखता है, उनकी विशिष्ट (वर्ग-सापेक्ष) समस्याओं के प्रति अतिरिक्त सजग है और इससे बंधुत्व और सखी-भाव की अवधारणा नए सिरे से जी उठती है । स्त्री विमर्श की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह प्रतिशोध पीडित नहीं है । इसका मानना है कि एक दमन-चक्र का जबाब

1. रोहिणी अग्रवाल - स्त्री साहित्य की ज़मीन और स्त्री-मन के अश्वास - पृ. 34
2. प्रभा खेतान - उपनिवेश में स्त्री , पृ. 14

दूसरा दमन-चक्र बिल्कुल नहीं होना चाहिए । इससे यह स्पष्ट है कि स्त्रीवाद की नींव शोषण-दोहन-मुक्त एक एगैंलिटेरियन समाज है ।

आधुनिक स्त्रीवाद पर प्रकाश डाला जाए तो यह ज्ञात होगा कि उस समय का स्त्रीवाद केवल स्त्री की शोषण अवस्था तक ही सीमित था यानी कि स्त्री के अकेलेपन से लेकर उसके जीवन के उदासीन तथ्यों पर ही विचार किया गया था । लेकिन समकालीन तक आते-आते स्त्रीवाद के आयामों को एक नई दिशा मिली । समकालीन स्त्रीवाद स्त्री के अकेलेपन से चलकर उसे समाज से सामुहिकता से जोडने व समुदायों के शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाने पर ज़ोर देता है । हाशियेकृतों की दमित आवाज़ को बुलंद करने में समकालीन स्त्रीवाद का अपना विशेष महत्व है । अनामिका लिखती है "पहले दौर का स्त्रीवाद एक अलग छत्तरी में खड़ा था या इस भावबोध के साथ कि "मैं यहाँ छत्तरी में खडी हूँ और मेरा अकेलापन वहाँ बारिश में भीग रहा है ।"[1] समकालीन स्त्रीवाद ने मात्र स्त्री की शोषण अवस्था पर ही उंगली नहीं उठाई बल्कि स्त्री से जुडी हर शोषित वर्ग को शोषण से मुक्त करवाने का प्रयास किया है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद भी इसी प्रयास की एक अगली कडी के रूप में मानी जा सकती है । दरअसल पारिस्थितिक स्त्रीवाद स्त्री के ही संघर्ष का एक अलग रूप है ।

---

1. अनामिका - मन मांझने की ज़रूरत, पृ.115

पारिस्थितिक स्त्रीवाद से तात्पर्य उस पवित्र संबंध से माना जा सकता है जो पारिस्थितिकी और स्त्रीवाद के बीच बना है । स्पष्टीकरण करें तो 'Ecofeminism describes movement and philosophies that links feminism with ecology"[1] पारिस्थितिक स्त्रीवाद नई मानवता की सृष्टि की माँग करता है । इसमें स्त्री अपने साथ-साथ शोषित हो रही प्रकृति की मुक्ति की इच्छा रखती है, प्रकृति के साथ जुडे हाशियेकृतों यानी दलित, पीडित, आदिवासी, शोषित हर तबके के शोषण के खिलाफ भी आवाज़ उठाती है । जाहिर सी बात यह है कि स्त्री और प्रकृति समानधर्मी हैं दोनों की संवेदनाएँ एक है । यदि प्रकृति पर शोषण हो रहा है तो उसका सीधा प्रभाव स्त्री पर पडता है और यदि स्त्री पर शोषण हुआ तो प्रभावित प्रकृति ही होगी । इसका (पारिस्थितिक स्त्रीवाद) मूलमंत्र संपूर्ण प्राणीमात्र की रक्षा है । प्रान्स्वा द यूबोण जिन्होंने सबसे पहले पारिस्थितिक स्त्रीवाद पर अपना विचार प्रकट किया था, उनका विश्वास था कि 'स्त्रीत्व पर आधारित भूमि सबको सुरक्षा प्रदान करेगीं। डॉ. के. वनजा लिखती है 'इको फेमिनिज़्म के अनुसार एक स्त्री द्वारा दूसरी स्त्री और उसके द्वारा तीसरी स्त्री के समान श्रृंखला की एक-एक कडी को जागृत एवं परिमार्जित कर अपने लिए और औरों के लिए समर्थ बनाना है ।"[1] पारिस्थितिक स्त्रीवाद का लक्ष्य अहिंसा के मार्ग को अपनाते हुए समन्वय की भावना के साथ मुक्ति की राह को तलाशना है ।स्त्री और प्रकृति की अस्मिता पर ही संपूर्ण प्राणी मात्र का

1. डॉ. के वनजा, इकोफेमिनिज्म, पृ. 100

अस्तित्व टिका हुआ है । गोया दोनों को शोषण से मुक्त करवाना आज अनिवार्य हो गया है। इस तथ्य को पारिस्थितिक स्त्रीवाद समझ चुका है और आगामी प्रयत्नों में कार्यरत भी हो रहा है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद, स्त्रीवाद का अगला कदम है ऐसा मानने में कहीं भी कोई संदेह की गुन्जाइश नहीं है क्योंकि स्त्रीवाद ने यह साबित करने की कोशिश की है कि यदि स्त्री की अस्मिता को बनाए रखा गया तो संपूर्ण परिवेश खुद-ब-खुद व्यवस्थित हो जाएगा । स्त्रीवाद मूलतः स्त्री की मानवीय अस्मिता को बनाए रखने पर बल देता है । स्त्रीवाद पर विचार करते हुए परमानन्द श्रीवास्तव लिखते हैं "स्त्रीवाद, स्त्री-अस्मिता को ठीक से पहचाने, तभी उसकी सार्थकता है।"[1] स्त्री अस्मिता माने स्त्री की स्वतन्त्रता। उसकी (स्त्री) स्वतंत्रता जुडी है उसकी वैयक्तिक अस्मिता से, समाजिक अस्मिता से, आर्थिक और राजनीतिक अस्मिता से, इन्ही क्षेत्रों से गुज़रते हुए जब उनकी स्वतंत्रता छिन जाती है तब स्त्री का अपना अस्तित्व मिट जाता है । लिंग राजनीति में स्त्री की अस्मिता कहीं खो गई है । वह मात्र दूसरे दर्जे की है, उसका दूसरे दर्जे से उठ कर समान अधिकार तक पहुँचने की दूरी, उसे अस्मिता के यथार्थ के करीब लाता है । पुरुष सत्तात्मक इस समाज में पुरुष ने स्त्री को अपने आधीन बनाए रखने के लिए सबसे पहले उसने स्त्री अस्मिता पर चोट की । स्त्री का अस्तित्व मिटाने का, उसकी स्वयं की पहचान को मिटाने का प्रयास किया । हर क्षेत्र में (परिवार, समाज,

1. परमानन्द श्रीवास्तव, आलोचना जनवरी-मार्च, वर्ष 2009

राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक) उसने स्त्री के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है । स्त्रीवाद स्त्री की अस्मिता को बनाए रखने की जदोजहद करता है।

लिंग भेद की राजनीति का प्रतिरोध

आधी दुनिया यानी आधी आबादी जो महिलाओं से जुडी है। इस आधी आबादी का यथार्थ काफी भयानक है । पुरुषसत्तात्मक इस समाज में स्त्री दोयम दर्जे की है । लिंग भेद की नीति में वह पीछे है। लिंग राजनीति में स्त्री को हमेशा से दूसरे और अंतिम स्थान की संज्ञा दी जाती है । स्त्री की मुक्ति और उसे समान दर्जा देने की माँग ही स्त्रीवाद का प्रमुख लक्ष्य है । स्त्रीवाद इस लिंग राजनीति के खिलाफ आवाज़ उठाता है । सीमोन द बोआर के अनुसार 'औरत अभी तक पैदा नहीं होती थी । बनाई जाती रही है । यानि जन्म से लेकर मृत्यु तक उसे औरत होने के क्रियाकलापों से गुज़रना पड़ता है और यह क्रियाकलाप उसे बार-बार यह एहसास दिलाते रहते हैं कि वह मात्र एक औरत है । विडंबना का एक बहुत बडा इतिहास स्त्री के आगे है। स्त्रीवाद स्त्री को 'व्यक्ति की गरिमा' और गौरव दिलाने की सोच है । स्त्री की अस्मिता को पहचानना और उसे बनाए रखने का श्रम ही स्त्रीवाद का लक्ष्य है । दूसरे शब्दों में कहे तो स्त्रीवाद एक सत्ता में स्त्री के बलीकरण का विचार है और इस तरह वह अब तक के सत्ता विमर्श में निहित बलीकरण की प्रक्रिया को उलटता है । उसका आधार देह है और यौनता उसका केन्द्र

है । स्त्री की मुक्ति ही स्त्रीवाद का अंतिम चरण है । स्त्री की मुक्ति तभी संभव है । जब स्त्री अपनी अस्मिता को समझ पाए । स्त्रीवाद ही एक ऐसा नज़रिया है जिससे स्त्री की मुक्ति के प्रयास संभव है । स्त्रीवाद ने ही हमें पितृसत्तात्मक मूल्यों, दोहरे नैतिक मापदंडों, 'अंतर्विरोधों को समझने व पहचानने की अन्तर्दृष्टि दी ।

लिंग भेद की राजनीति का प्रतिरोध स्त्रीवाद ने विभिन्न तरीकों से किया है । लिंगाधिपत्य इस समाज में शोषण के विभिन्न आयामों से, स्त्रीवाद हमें अवगत करवाता है । लिंग भेद की राजनीति में स्त्री चाहे पश्चिम की हो या अपने देश की उसकी शोषण प्रक्रिया में कोई अंतर नहीं है । लिंग भेद की राजनीति में स्त्री के प्रति गहरी असंवेदनशीलता, अभद्रता, असामनता का भाव निहित है, साथ ही इस राजनीति में स्त्री एक उपनिवेश भी है । पितृसत्तात्मक राजनीति का एक मात्र उद्देश्य स्त्री को उसके स्वत्व अधिकारों से वंचित रखना है । लिंग भेद की राजनीति चाहती है कि स्त्री स्वत्व हीन, अस्तित्वहीन, अस्मिताविहीन रहे, ताकि वह उस पुरुष वर्चस्व के खिलाफ कभी आवाज़ न उठा सके । राकेश कुमार लिखते हैं "जब कोई औरत पुरुष मूल्यों को कटघरे में खडा करती है, उनके अंतर्विरोधों, वर्चस्ववाद को सामने लाकर उसे खारिज करती है तो पुल्लिंगी विमर्शों का उनके प्रति असंवेदनशील, हिंसक होना कोई नई बात नहीं है । उन्हें अनुशासित, नियंत्रित, अनुकूलित करना पितृसत्तात्मक समाज की सबसे बडी लिंग भेद

1. राकेश कुमार - नारीवादी विमर्श, पृ. 24

की राजनीति का परिणाम कहा जा सकता है।"[1] इस राजनीति में स्त्री की स्थिति शोचनीय है । सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनीति क्षेत्रों में लिंग भेद की राजनीति ने स्त्री को विभिन्न आयामों से शोषित किया है । स्त्रीवाद इस राजनीति का प्रतिरोध करती है, वह इन सब क्षेत्रों में स्त्री के स्वत्व की तलाश में सहायक भी है । दूसरी ओर पुरुष वर्चस्व की, लिंग भेद की राजनीति में स्त्री की यौन शुचिता पर बल दिया गया है । स्त्री की पवित्रता और यौन शुचिता का पैंतरा भी इसी राजनीति का परिणाम है । डॉ. प्रीति प्रभा गोयल लिखती हैं "पुरुष-स्त्री में पारस्परिक लिंग विभेद की धारणा का एक और पक्ष स्थापित करने के लिए स्त्री की यौन शुचिता के प्रति प्रबल आग्रह समाज में पैढता गया । पुरुष स्वामी है स्त्री उसकी संपत्ति है अतः कोई दूसरा उसका उपभोग नहीं कर सकता । इसके लिए स्त्री की पवित्रता, स्त्री शुचिता आदि का अत्यधिक प्रचार हुआ ।"[1]

इस समाज में लिंग भेद सदियों से उसी प्रकार काम कर रहा है जिस प्रकार भारतीय समाज में जातिभेद, पश्चिम में रंगभेद और वर्ग भेद काम करता है । नारीवाद इन चुनौतियों को स्वीकार रहा है, वह अब स्त्री में यह विश्वास जगाने का काम कर रहा है कि स्त्री को अपना हक खुद ही हासिल करना होगा । शिक्षा प्राप्ति इस लक्ष्य तक पहुँचने का पहला कदम है जो उसे उसके स्वत्व की पहचान में उसका सहायक होगा । लिंग भेद की राजनीति

---

1. डॉ. प्रीति प्रभा गोपाल - भारतीय नारी विकास की ओर, पृ. 24

स्त्री को जकडने, उसे चुप करवाने के कई पैंतरे अपना चुका है लेकिन स्त्रीवाद इस पूरे चक्रव्यूह को तोडता है और स्त्री मुक्ति की कामना भी करता है । लिंगाधिपत्य को तोडने की एक अलग सोच लिंग संवेदना की है । प्रमीला के.पी. लिखती है "समाज में लिंग के नाम पर होने वाले सभी प्रकार के भेदभावों व अत्याचारों को रोकने के सिलसिले में लिंग-संवेदना की ज़रूरतों पर चर्चा मिलती है । शंका नहीं कि जिस समाज में लिंगाधिपत्य की मज़बूत व वर्चस्ववादी परंपरा ज़ारी है वहाँ की सरकारी व सार्वजनिक योजनाओं को लिंग संवेदित होना चाहिए ।"[1]

गोया लिंग भेद की राजनीति में यदि कोई बदलाव या हेर-फेर होगा भी तो उसके पीछे नारीवाद की शक्ति ही काम करेगी । लिंग भेद में जहाँ स्त्री को उपनिवेश की वस्तु बना दिया है वहाँ नारीवाद उसके लिए मुक्ति की राह तलाशने में लगा हुआ है । नारीवाद लिंग भेद की राजनीति का खुले तौर पर प्रतिरोध करता है । आज स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति सजग हो चुकी हैं। वे यह समझ चुकी हैं कि स्वत्व व अस्मिता के लिए संघर्ष करना ज़रूरी है। पुल्लिंगी विमर्श स्त्री विमर्श को उठने नहीं देना चाहता, क्योंकि उनका मानना है कि स्त्रीवादी विमर्श का अर्थ पश्चिमी की बिगडी संस्कृति की औरतों का विचार है । लेकिन इस धारणा को झूठा साबित किया जा चुका है क्योंकि स्त्रीवाद मात्र पश्चिम की स्त्रियों की मुक्ति नहीं चाहता बल्कि नारीवाद में संपूर्ण शोषित महिलाओं के लिए मुक्ति का आह्वान है । नारीवाद स्त्री को

1. प्रमीला के.पी. स्त्री योनिकता बनाम, अध्यात्मिकता, पृ. 15

लिंग भेद की राजनीति से अलग करना चाहता है, इसका सीधा उपाय स्त्री द्वारा अपने अस्तित्व व अस्मिता की सच्चाई को पहचानना है । तभी लिंग की समानता संभव है ।

स्त्री अस्मिता की पहचान

आधी आबादी का अस्तित्व आज भी संकट की अवस्था से गुज़र रहा है । आधी आबादी की पहचान आज भी एक सवालिया निशान बन कर रहा गयी है । इसका सीधा और सरल कारण यह है कि स्त्री ने अपनी अस्मिता की पहचान को सही आधार नहीं दिया । स्त्रियों की अस्मिता का प्रश्न आज तक हाशिए पर है, स्त्रीवाद स्त्री की इसी खोई हुई अस्मिता को तलाशने में उसकी मदद करता है । स्त्री की मुक्ति, उसकी स्वतंत्रता पर स्त्रीवाद का हस्तक्षेप है । पुरुष वर्चस्व ने स्त्री की वाणी को कुचला, उसे दबाया, उसे शोषित किया लेकिन आज स्त्रीवाद के माध्यम से उसे अपनी पहचान की कसौटी मिल चुकी है । राकेश कुमार लिखते हैं "आज तक तो वह अपने वर्चस्व, प्रभुत्व के द्वारा उन्हें दबाता, कुचलता, रौंदता, वाणीहीन करता आया था, लेकिन अब तक की दबी-कुचली, खामोश दुनिया जब अपने स्वत्वाधिकारों अस्मिताओं के बारे में पूरी प्रखरता के साथ सोचने-विचारने लगी है तो उसका आक्रमक हिंसक, उत्तेजक चिंतित होना भी लगभग स्वाभाविक है । अब तक उसके रहे उपनिवेश अब अपनी स्वतंत्रता, सत्ता, अस्मिता को चाहते हैं ।"[1] स्त्री आज भी अपनी अस्मिता को कायम

1. राकेश कुमार - नारीवादी विमर्श, पृ. 49

रखने के लिए संघर्ऱत है । उसकी अस्मिता और अस्तित्व का क्रान्तिकारी मानवीय कार्य सर्वप्रथम सीमोन द बोउवार ने किया । सीमोन द बोउवार ने अपनी रचना The second sex (स्त्री उपेक्षिता) में स्त्री की समाज में स्थिति, उसके अधिकार, उसकी अस्मिता को अंकित किया । यह स्त्री के अधिकारों को ब्यान करने वाली पहली रचना मानी जा सकती है ।

स्त्री की अस्मिता को समाप्त करने वाला, सबसे बडा घटक, उसका भोग्या होना है । देह की नीति उसकी अस्मिता को तहस-नहस करने में सहायक होती है । समाज के हर क्षेत्र में उसकी अस्मिता को देह से आंका जाता है । डॉ. वीणा रानी यादव लिखती है "एक ओर स्त्री का अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष है तो दूसरी ओर उसे अस्मिता रहित बनाए रखने का षड्यंत्र है । स्त्री सर्जक है, उत्पादक है परन्तु उसकी अस्मिता को स्वीकार न कर समाज में उसका भोग्य रूप ही स्वीकृत है जो उसके मानवीय स्तर को गिराता है ।"[1] स्त्री की अस्मिता को हर तबके में चुनैतियों का सामना करना पडता है । इसकी सर्वप्रथम शुरुआत परिवार से होती है । परिवार जो स्त्री की कर्मभूमि का केन्द्र है । उसी परिवार के दायरे से बाहर आ कर ही स्त्री की अस्मिता की पहचान संभव है । स्त्री की अस्मिता का प्रश्न परिवार के आडे आ जाता है। परिवार से जुडी स्त्री, एक खूंटे के इधर-उधर दौडती स्त्री, अपनी अस्मिता को कभी नहीं जान पाती । स्त्री की अस्मिता, उसके स्वतंत्रता पर आधारित है । स्वतंत्रता यानी स्त्री का अपने अधिकारों के प्रति

1. डॉ. वीणा रानी यादव - हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति, पृ. 37

सजग होना । स्त्री अस्मिता परिवार से जुडी है मतलब परिवार को संजो कर रखने का काम स्त्री का है । किंतु जब वह उपने अस्मिता के प्रति सजग होती है तब वह परिवार रूपी खूंटे को तोड स्वतंत्र हो जाती है, उसी प्रकार उसकी अस्मिता को प्रभावित करने वाला अगला घटक धर्म है, धर्म में भी उसकी अस्मिता दोयम दर्जे की है । धर्म में जहाँ मानव एक माना जाता है वही स्त्री मात्र दूसरे दर्जे की करार कर दी गई । पूजा-पाठ, अनुष्ठानों और कर्मकांडों में पुरुषों को पहला स्थान दिया गया । इस क्षेत्र में स्त्री की भूमिका को नकारा गया । तमाम नैतिक संहिताएँ स्त्री के लिए ही बनाई गईं । पुरुष इन सब से परे महान बनने की प्रक्रिया से जुडा रहा ।

आर्थिक स्वालंबन भी स्त्री अस्मिता को कायम रखने का घटक है । आर्थिक स्वालंबन से स्त्री की अस्मिता को सुदृढ बनाया जा सकता है । आर्थिक रूप से पिछडी स्त्री, सदियों से हर क्षेत्र में शोषण की शिकार है । सीमोन द बोउवर मानती हैं कि आर्थिक स्वावलंबन स्त्री के लिए शोषण से मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है । आर्थिक शक्ति से उसे अस्मिता को पहचानने का सुगम रास्ता मिल सकता है । पुरुष सत्तात्मक इस समाज में आर्थिक क्षेत्र में पुरुष का ही प्रवेश बेहतर व सही माना जाता था, इसी कारण स्त्री की अपनी कोई अस्मिता नहीं बन पाई । स्त्री अस्मिता का मुख्य क्षेत्र राजनीति है । सत्ता में स्त्री का आना, उसकी अस्मिता व अधिकारों को पहचानने में, उसे समझने में सहायक सिद्ध होता है । आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सबल स्त्री ही समाज में अपनी अस्मिता को बकायदा कायम कर सकती है।

पूँजीवाद समाज में स्त्री के श्रम का शोषण भी उसकी अस्मिता के लिए खतरा साबित हो रहा है । कात्यायनी लिखती हैं" वर्ग समाज में औरत की औरत होने के नाते दूसरे दर्जे की जो नागरिकता है, वह पूरे नारी समुदाय की एक आम लडाई की बुनियाद है । यौन-उत्पीडन और श्रम का अपेक्षतया अधिक दोहन, ये दोनों ही मुद्दे नारी समुदाय की लडाई को उसके मुश्तरका दुश्मन वर्ग-समाज के विरुद्ध केन्द्रित कर देते हैं । आज वर्ग-समाज के विरुद्ध 'लंबी ऐतिहासिक लडाई पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष के रूप में लडी जा रही है और इसलिए औरतों की लडाई समाजवाद के लिए जारी जनता के सभी वर्गों की लडाई का एक अविभाज्य अंग बन गयी है ।"[1]

वास्तव में स्त्री अस्मिता यानि स्वतंत्रता है तो उसका दायित्व बोध भी ज़रूरी है "स्वतंत्रता और अस्मिता की ज़रूरत को यदि मुख्य माना जाएगा तो स्वतंत्रता की पहली अनिवार्यता होगी आत्म-संपन्नता और दायित्वबोध "[2] संपूर्णताः परखा जाए तो नारी की अस्मिता उसके अधिकारों की प्राप्ति से पूर्ण होती है । नारी के मौलिक अधिकारों का हनन् सीधे उसके अस्मिता पर सवाल खडा करता है । इन अधिकारों की प्राप्ति नारी-अस्मिता की प्रतिष्ठा का द्योतक माना जा सकता है । शैक्षिक जागरूकता और आर्थिक स्वावलंबन ही स्त्री की अस्मिता को पहचानने का एक मुख्य घटक है । शिक्षा की प्राप्ति स्त्री को उसके अधिकारों के प्रति जागरूक करने में सहायक सिद्ध होता है। आर्थिक स्वावलंबन इस अधिकार को मज़बूत बनाता है । स्त्री की अस्मिता

1. कात्यायनी - दुर्ग दुर्ग द्वार पर दस्तक, पृ. 37
2. सं. राजेन्द्र यादव एवं, अर्चना वर्मा - अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, पृ. 287-288

को बनाए रखने में उसके व्यक्तित्व की खोज भी एक ज़रूरी मुद्दा है । डॉ. दर्शन पांडेय के अनुसार "नारी स्वतंत्रता चेतना का उदय नारी के मन में व्यक्तित्व की खोज, अस्मिता की पहचान सुरक्षा के प्रति सर्तकता, उसकी शैक्षिक जागरूकता और आर्थिक आत्मनिर्भरता के कारण ही हुआ ।"[1]

स्त्री अस्मिता को बनाए रखने में, स्त्री के अधिकारों के प्रति, स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए स्त्रीवाद अपनी अहम भूमिका निभा रहा है । स्त्री की अस्मिता परिवार में, समाज में, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में पहचान की हकदार है । इसी पहचान का संघर्ष स्त्रीवाद के ज़रिए हो रहा है और कुछ हद तक आज स्त्री अपनी अस्मिता की पहचान कर पाई है। गोया नारी अस्मिता मन मस्तिष्क की उस संतुष्टि और आत्मविश्वास का प्रतिरूप है जो नारी को एक व्यक्ति रूप में समाजिक वैश्विक मान्यता देता है । जब तक वह स्वयं अपनी दृष्टि में अपने अस्तित्व को सार्थकता नहीं प्रदान करती जब तक वह अधिकार, महत्व और मूल्यों की चाह नहीं करती जब तक वह अधिकार, महत्व और मूल्यों की चाह नहीं करती तब तक वह पराश्रित चेतना से मुक्त नहीं हो सकती ।

स्त्री अस्मिता की पहचान के विविध आयाम

स्त्री अस्मिता को पहचानने का सीधा अर्थ स्त्री की मुक्ति से है । स्त्री अस्मिता में अस्तित्व और अधिकार को शामिल किया जाता है । पितृसत्तात्मक व्यवस्था में दूसरे दर्जे की हकदार स्त्री अपनी अस्मिता को बनाए रखने की

1. डॉ. दर्शन पांडेय - स्त्री अस्मिता की परख, पृ. 22

जदोजहद कर रही है । समाज का हर क्षेत्र उसके शोषण के षड्यंत्र में लगा हुआ है । स्त्रीवाद स्त्री की अस्मिता को बनाए रखने व उसकी स्वतंत्रता के लिए प्रयासरत है। डॉ. अमर ज्योति लिखती है - "नारीवाद का लक्ष्य नारी को द्वितीय दर्जे के नागरिक से 'सहमानव' रूप में स्थापित करना है । जब तक इस लक्ष्य को सामने रखकर आन्दोलन को सही दिशा नहीं दी जाएगी नारीवाद आन्दोलन वास्तव में अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाएगा ।"[1] स्त्री अस्मिता की पहचान और उसके अस्तित्व को कई आयामों से परखा जा सकता है । उसके अस्तित्व को समाजिक, राजनीतिक व आर्थिक खेमों में जांचने की ज़रूरत है । क्योंकि ये ही वे खेमे हैं जहाँ पर स्त्री को बंदिशों में रखा जाता है, पितृसत्तात्मक समाज की गलत व्यवस्था से मुक्ति दिलाना ही स्त्री अस्तित्व तक पहुँचने का मार्ग है ।

वैयक्तिक अधिकार और अस्मिता

स्त्री हो या पुरुष, वैयक्तिक तौर पर दोनों की अपनी अस्मिता है । दोनों के अधिकार अपने-अपने हैं । निजी तौर पर उसकी स्वतंत्रता का हनन ही उसकी अस्मिता की चुनौती है । डॉ. वीना रानी यादव स्वत्व को महत्व देती हुई लिखती हैं "मनुष्य और दूसरे प्राणियों में एक मात्र भेद स्वत्व भान का है । मनुष्य को दूसरे प्राणियों से अलगाते समय सामाजिक जीव विज्ञानी इसी कोटि को ध्यान में रखते हैं और इसलिए मनुष्य इस धरती पर अपनी विजय दुंदभि बजा रहा है । मनुष्य का यह स्वत्व बोध ही संस्कृति का प्रेरक

1. डॉ. अमर ज्योति - महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारीवादी दृष्टि, पृ. 24

रहा है । अतः यह निश्चित बात है कि इसके बिना मनुष्य अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता ।"[1]

व्यक्ति की स्वतन्त्रता

समाज में स्त्री जो सबसे नीचे तबके के रूप में गिनी जाती है । उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता । हर क्षेत्र में उसके व्यक्तित्व पर सवाल उठाया जाता है । माँ के रूप में, बहन के रूप में, पत्नी के रूप में होने पर भी उसका अपना कोई वजूद नहीं है । पुरुष से जुडे जितने भी संबंध है उनमें स्त्री की स्वतंत्रता का हनन है । स्त्री को व्यक्ति के रूप में मानने से इनकार करने वाला वितृसत्तात्मक समाज उसे मात्र एक वस्तु ही मानता आया है । पुरुष जब चाहे उसे अपना सकता है, जब चाहे उसे अलग कर सकता है । मैत्रेयी पुष्पा स्त्री के वजूद पर सवाल करती हैं । लिखती है "स्त्री ने ही अपना धर्म नए सिरे से निर्धारित करना शुरु किया, क्योंकि पाया कि अब तक वह अपनी आत्मा को मारकर जीती रही है । इससे पैदा हुआ मानसिक तनाव, इसी दशा में अपनी इच्छा के विरुद्ध पुरुष के लिए समर्पण.. अपमान का विष कब तक पिया जाए ... तब तक, जब तक स्त्री का वजूद शून्य न हो जाए ? भयावह शून्य!"[2] स्त्री का व्यक्तित्व उसका अपना नहीं उसका अस्तित्व व व्यक्तित्व हमेशा से पुरुष पर निर्भर है । 'समय सरगम' उपन्यास में लेखिका स्त्री की स्वतन्त्रता और उसके व्यक्तित्व

1. डॉ. वीणा रानी यादव - हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति, पृ. 53
2. मैत्रेयी पुष्पा, चर्चा हमारा, पृ. 24

को इस तरह दर्शाती है और प्रश्न करती हैं -"क्या उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व के सूत्र अब भी पिता, पति और पुत्र के हाथ में है!"[1] स्त्री के व्यक्तित्व को उसके देह से आंका जाता है, उसे रुपए-पैसे से तौला जाता है। उपन्यास बेतवा बहती रहीं में मैत्रेयी पुष्पा लडकी के व्यक्तित्व के मोल को इस प्रकार ब्यान करती है "अच्छा, लडकी सुगढ है, खूबसूरत है, तो भइया हमें न चाहिये पइसा-रुपइया। बस खातिरदारी अच्छी हो जाय । चार जने जायँ तो वावववाही करें ।"[2]

व्यक्तित्व को पनपने में अनुभव और समझ की ज़रूरत पड़ती है और स्त्री के पास अपने अनुभवों की कमी भी नहीं है । संपूर्ण जीवन में पुरुषों से भी ज़्यादा अनुभव प्राप्त करने वाली स्त्रियाँ ही होती हैं क्योंकि समाज का हर संबंध उसी से शुरु होता है । कृष्णा सोबती अपने उपन्यास में लिखती हैं - "व्यक्तित्व सिर्फ सुविधाओं से ही नहीं पनपता । वह बनता है समझ और अनुभव से।"[3] स्त्री की मुक्ति ही उसके व्यक्तित्व की स्वतंत्रता है । उसे ऐसा माहौल देना चाहिए कि वह अपने व्यक्तित्व को रूपायित कर सके । अपने व्यक्तित्व को बनाने और उसे कायम रखते हुए इस पुरुष वर्चस्ववादी समाज में अपने को साबित करना ही स्त्री विमर्श की सही पहचान है ।

अभिव्यक्ति किसी भी व्यक्ति का वह रूप दर्शाती है जो सच्चाई से जुडा होता है । स्त्री की अभिव्यक्ति दर्द की, त्रासदी की, शोषण की कथा को

---

1. कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृ. 77
2. मैत्रेयी पुष्पा - बेतवा बहती रही, पृ. 25
3. कृष्णा सोबती - समय सरगम, पृ. 100

ब्यान करता है । पितृसत्तात्मक समाज के शोषण को अभिव्यक्त करने का अधिकार स्त्री को है । वह आधी आबादी है, उसे अपनी त्रासदी कहने का हक है । अभिव्यक्ति के इस अधिकार को पुरुष कभी स्वीकार नहीं करता । आदर्श मदान स्त्री लेखन पर अपनी टिप्पणी देते हैं और मानते हैं कि स्त्री की अभिव्यक्ति की शक्ति कभी क्षीण नहीं होनी चाहिए - वे समाज का एक ऐसा हिस्सा है जो निरन्तर प्रहार से क्षीण नहीं हुआ बल्कि दर्द की धरती से फिर-फिर शक्ति का, अभिव्यक्ति का अंकुर बन कर फूटा है ।"[1] स्त्री की अभिव्यक्ति इस संपूर्ण समाज की सच्चाई का आईना है । चूंकि पुरुष स्त्री के इस अधिकार के हिमायती नहीं है फिर भी स्त्रियाँ अभिव्यक्ति के इस अधिकार के प्रति जागरूक हैं । अभिव्यक्ति का अधिकार यानी स्वतंत्र चिंतन है । वनतरी उपन्यास में वनतरी एक आदिवासी लडकी है, वह अपनी अभिव्यक्ति के अधिकार से कभी नहीं चूकती, वह निडर और साहसी है कहती है "तुम्हे जालिम-जुलम से इतना ही डर है तो मेरी चूडियाँ पहनकर घर में बैठो । मैं पंचायत में ज़रूर शामिल होंऊगी । मेरे हाथ में जब तक कुलहाडी है, तब तक कोई बाल-बॉका नहीं कर सकता ।"[2]

अभिव्यक्ति का अधिकार, स्त्री का शोषण के खिलाफ प्रतिरोध का स्वर है । अभिव्यक्ति के अधिकार को रेखांकित करने वाला उपन्यास 'दस द्वारे का पिंजरा' में अनामिका रमाबाई के द्वारा इस अधिकार को दर्ज करती

---

1. आदर्श मदान - मधुमती जनवरी 1999, पृ. 23
2. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव - बनतरी, पृ. 73

हैं "भाइयों मान लीजिए मेरी आवाज़ आप तक पहुँच नहीं पा रही । सदियाँ बीती-क्या कभी आपने किसी स्त्री की बातें सुनने की कोशिश भी की? क्या आपने उसके इतनी ताकत दी कि वह अपनी आवाज़ बुलंद कर सके ?"[1] आज की स्त्री अपने अभिव्यक्ति के अधिकार को भली-भान्ति पहचानती है। समकालीन साहित्य में जो प्रतिरोध का स्वर है । उसमें स्त्री प्रतिरोध अभिव्यक्ति के अधिकार का उत्तम उदाहरण है ।

लैंगिक अधिकार

समाज का रूप पुरुषसत्तात्मक नज़रिये से गढा है । इसमें स्त्री के अधिकारों पर, उसकी अस्मिता पर सवाल किया जाता है । आधी दुनिया से जुडी स्त्री का अस्तित्व बार-बार पुरुष वर्चस्व की सत्ता से टकरा कर चूर-चूर हो जाता है । लैंगिक अधिकार से युक्त स्त्री कभी भी अपने इस अधिकार का उपयोग नहीं करती, नैतिकता से लैस परंपराएँ और मर्यादाएँ हमेशा उसके समकक्ष आ कर खडी हो जाती हैं । स्त्री के चारों ओर ऐसे बंधन हैं जिन्हें खुद वह कभी तोड नहीं सकती । स्त्रीवाद की विचारधारा स्त्री को उसके अपने विचारों से उसके अधिकारों से, उसकी अस्मिता से उसकी पहचान करवाता है । स्त्री की अपनी इस अस्मिता की पहचान का अर्थ उसे अपने लैंगिक अधिकारों के प्रति सजग होना है । लैंगिक अधिकार मात्र पुरुष से जुडे हैं क्योंकि समाज की हर सोच का, हर विचार का कर्ताधर्ता पुरुष है। गोया वह ही अधिकारों का संरक्षक भी । सुधा अरोडा लैंगिक वर्चस्व की

1. अनामिका - दस द्वारे का पिंजरा, पृ. 258

पहचान पर बल देती है लिखती हैं "यौन या भावात्मक शोषण से निपटने के लिए पहले लैंगिक वर्चस्व और लैंगिक शोषण की पहचान करनी होगी, जिसकी नींव पर यह समाज से दिखती खुशहाली पर टिका हुआ है; जबकि स्त्री संबंधी सारी समस्याओं की जड़ लैंगिक वर्चस्व है ।"[1] पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने जन्म से लेकर मृत्यु तक स्त्री को मात्र भोग की वस्तु माना है । पुरुष ने स्त्री को लैंगिक अधिकार नहीं दिए क्योंकि पुरुष सदा से स्त्री देह पर अपनी विजय पताका लहराना चाहता है । किंतु स्त्री अपने लैंगिक अधिकारों के प्रति सचेत है । वह परंपरा की घिसी-पिटी नैतिकताएं नही मानती । उपन्यास 'इदन्नमम' में कुसुमा भाभी अपनी देह की प्यास को ही प्रमुख स्थान देती है 'बिन्नू यह जल निरमल है या मैला । पवित्तर है या पाप का ? इमरत है कि बिस? नहीं जानते हम । तुम्हारी रामायन में लिखा भी होगा तो लिखनेवाला यह नहीं जानता कि आदमी जब प्यासा होता है, प्यास से मर रहा होता है, तो नहीं देखता हैं, कहाँ सोचता है, कहाँ करता है कोई भेद कोई अन्तर ?"[2]

स्त्रियों की अपनी यौन-इयता होती है । जिसे आज वह पहचानती है और उस पर अमल भी करती है । वह यौन सुख चाहती है इस का खुलासा करने से वह हिचकती नहीं । वह आज यह जान गई है कि लैंगिक अधिकार भी उसी के लिए बने हैं, उसका उपयोग वह कर सकती है । अनामिका

---

1. सुधा अरोडा, इरावती - अक्तूबर दिसंबर 2013, पृ 10
2. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम्, पृ. 92

लिखती है "स्त्रियों की अपनी स्वतंत्र यौन-इयता है जो किसी 'कैस्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स' से पीडित नहीं और यौन सुख के लिए पुरुषों की मुखापेक्षी भी नहीं । क्लाइटोरिस नामक इनका अंग-विशेष बहुत-सारे ऐसे स्नायुतंत्रों की सिद्ध-पीठिका है जो इसे शिश्न से भी अधिक संवेदनशील और तृप्तिमुखी बनाता है । इसलिए यह मानना कि स्त्री सिर्फ 'पैसिव पार्टनर' और 'लदा हुआ गर्भ' है - सिरे से गल्त है ।"[1] स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सजग हुई तो सवाल करने लगी, उसके सवाल पुरुष वर्चस्व को चुनौती देने लगे । लैंगिक अधिकार को स्त्री ने अपनी अस्मिता के साथ जोडा और परखा । चाक उपन्यास का संदर्भ देखिए "मर्द औरत को छूता है और उसका उद्धार करता है... मगर औरत मर्द को छुए तो उसे पातल में डुबा दे । ऐसा क्यों?"[2]

इस प्रकार परंपरा के ढकोंसलों को तोड़ने और अपने प्रश्नों से प्रतिरोध करने की ताकत आज स्त्री में है । वह लैंगिक संबंध को अपना अधिकार मान कर उसे अपनाती है । लैंगिकता जो पुरुष की सत्ता थी, आज स्त्री भी उसे करीबी से परखना चाहती है । स्त्री अस्मिता और अधिकारों की पहचान की पहली सीढी लैंगिक वर्चस्व की पहचान है ।

वेशभूषा का अधिकार

समाज में प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने अधिकार हैं, अपनी सोच है।

1. अनामिका - अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, पृ. 163
2. मैत्रेयी पुष्पा - चाक्, पृ. 160

इस अधिकार में बेशभूषा भी शामिल है । व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह अपनी इच्छानुसार वस्त्रधारण कर सकता है । लेकिन जहाँ तक स्त्री का प्रश्न है, उस से यह अधिकार भी छीन लिया जाता है । पुरुष वर्चस्ववादी समाज में स्त्री को अपनी मर्जी से वेशभूषा तय करने का भी अधिकार नहीं । पुरुष की दोहरी मानसिकता का यही परिणाम है कि वह अपनी माँ, बहन को पूरे कपडों में रखता है और वही पुरुष बाहर की स्त्री को दिन-दहाडे निर्वस्त्र करने पर तुला हुआ है । पुरुष ने ही स्त्री की वेशभूषा को बनाया है । वह कभी उसे सुन्दर व सैक्सी बनाने के लिए वेशभूषा में हेर-फेर करता है तो कभी उसी वेशभूषा को कफन के तौर पर स्त्री को चारों ओर से ढक देता है । पश्चिमी पौशाक के पीछे भागती स्त्री यह कभी नहीं जानती कि इस खेल के पीछे भी पुरुष का ही हाथ है । स्त्री इस खेल में कहीं भी पहुँच जाए पर सीमा को पार करना कठिन होगा । तस्लीना नसरीन लिखती है "ये तमाम चित्र-चरित्र रचे-गढे गये हैं । बहुतरी औरतें इन्हें चीर कर बाहर भी निकल आयी है । ऐसी औरतें अपनी मर्जी का पहनती है, अपनी मर्जी का करती हैं । पोशाक में पर्याप्त पश्चिमी रंग-ढंग, भाषा चौकस, बदन के अंग-अंग में लहर, बांध न मानने वाली, बाधा न मानने वाली । वे औरतें देखने में नयी हैं, सुनने में नयी है । लेकिन उन लोगों के साथ काफी दूर तक चलते रहे तो, नज़र आता है । वे लोग एक सीमा तक ही पहुँची हैं, सीमा से बाहर कभी एक कदम भी नहीं बढाती ।"[1] औरत चाहे किसी भी देश की हो, वह हर

1. तस्लीमा नसरीन - (अनु. सुशील गुप्ता) औरत का कोई देश नहीं, पृ. 43

समय किसी न किसी रूप में शोषण की शिकार है । हर कायदा, हर कानून स्त्री के शोषण पर एक प्रश्न चिह्न है ।

मुसलमानी औरतों पर जो बुर्के का रिवाज़ है, वह उसे नियन्त्रित करने के लिए है । उसकी सुन्दरता को हमेशा ढकने और पर पुरुषों से दूर रखने की नीति है । माना गया है कि उसका शरीर दूसरों को आकर्षित कर सकता है । इसलिए उस पर नियंत्रण रखना ज़रूरी है । मनीषा कुलश्रेष्ठ अपने उपन्यास 'शिगाफ' में लिखती हैं - कफन कैसा भी हो, लाश को क्या फर्क पडता है ।"[1] यानी बूर्के का रंग, उसका मलमली कपडा, उसका महंगा होना यह तो नहीं बदल सकता कि वह एक कफन है, इससे ज़्यादा कुछ नहीं । औरत के लिबास पर मात्र पुरुष का हक होता है, औरत के पास अपने लिबास को चुनने तक का अधिकार नहीं । स्त्रीवादियों ने वेशभूषा के अधिकारों पर भी अपनी आवाज़ उठाई है । अमेरिका में हुए ब्रा-बर्निंग के पीछे भी पुरुष मानसिकता के लिए प्रतिरोध था । शरीर को आकार देकर सुंदर बनाने वाले वस्त्रों का बहिष्कार ही इस आंदोलन की सोच थी । स्त्री अपनी अस्मिता के प्रति सजग हो चुकी थी, इसलिए अमेरिका में इस प्रतिरोध का जन्म हुआ । दूसरी ओर भारत की स्त्री साडी में लिपटी, घूंघट में खडी रहने वाली थी । तसलीमा नज़रीन लिखती हैं "बंगाली औरतों की जो तस्वीर, लोगों के मन में बसी हुई है, वह है साडी पहने हुए।... बंगाली औरत किस चरित्र की होगी, यह तो युग-युगों से मर्दों ने ही तय कर दिया

1. मनीषा कुलश्रेष्ठ, शिगाफ, पृ. 98

है - लज्जावती, मायावती, शोभा नम्र, नत ! बंगाली औरत को स्वाधीनचेता, स्वर्गीय, स्वेच्छाचार रूप शोभा नहीं देता।"[1] कश्मीरी औरत की स्थिति भी ऐसी है । साडी लिबास उनके लिए अनजान सा है । उन्हें तो बुरका ही रास आता है । इस के पीछे पुरुष की नीति काम करती है । वहाँ औरतें कभी साडी नहीं पहनती । क्षमा कौल के उपन्यास दर्दपुर का उदाहरण देखिए "आपकी साडी को देख रहा है । इसने यह लिबास कभी नहीं देखा है... यहाँ इस लिबास में औरतें दिखती ही नहीं... यह मुझसे पूछना चाहता है कि आपने यह क्या पहन रखा है।"[2]

वेशभूषा के अधिकार से वंचित स्त्री हमेशा से शोषण की शिकार रही है । स्त्रीवाद उसे इस अधिकार से रूब-रू करवाने में मदद करता है ।

वैयक्तिक अस्मिता की पहचान

स्त्री अपनी अस्मिता की पहचान कर रही है । पुरुष से अलग अपनी एक नई अस्मिता को बनाने के लिए वह संघर्षरत है ।इसके लिए स्त्री हर नज़रिए से इस प्रयास को पूरा कर रही है । समाज में अपनी दयनीय स्थिति को सुधारने के लिए उसकी हर जदोजहद जारी है । मधु कांकरिया अपनी उडान को एक नया नाम देती है । हिन्दी की मशहूर रचनाकार मधु कांकरिया लिखती हैं 'आसमान उसी का होता है जो उडना जानता है । हमने उडना सीख लिया है।' स्त्री यह मानती है कि अब वह उडना सीख गई है । मर्द से

1. तसलीमा नसरीन (अनु. सुशील गुप्ता) औरत का कोई देश नहीं, पृ. 42
2. क्षमा कौल, दर्दपुर, पृ. 107

अलग होकर अपना व्यक्तित्व तलाशने में आज वह हिचकती नहीं है । क्षमा कौल के उपन्यास 'दर्दपुर' में पढे तो "जिस कूडे सरीखे मर्द को मैं कूडेदान में कब की फेंक चुकी हूँ, उसी मर्द की ज़रूरत आज मुझे महज उस कूडेदान के लिए पड रही है .... सुभान अल्लाह ... जा भई जा.. मैं कूडेदान बाज़ार से खरींदूँगी....तू मर्दवालियों में बाँट अपने कूडेदान और चढा अपनी रजिस्टर पर नाम।"[1] मर्द की दुनिया स्त्री की अपनी नहीं है । उसके व्यक्तित्व को हमेशा पुरुष से जोडा जाता है । स्त्रीवाद इस व्यक्तित्व को एक नई पहचान देता है ।

स्त्री और पुरुष का रिश्ता कभी भी साझेदारी का नहीं होता । इसमें कही न कहीं शोषण की बू आती ही रहती है । मृदुला गर्ग के उपन्यास में इस बात को साफ जाहिर किया गया है कि स्त्री और पुरुष का मात्र एक ही रिश्ता है और वह है शोषक और शोषित के बीच का संबंध । "अगर मर्द-औरत के बीच का रिश्ता शोषक-शोषित का रिश्ता है, तो क्या उसका विकल्प लेजिबियनाज़िम है।"[2] स्त्री यदि पुरुष की सत्ता से शोषित है तो अपनी अलग अस्मिता बनाने में कोई हर्ज नहीं । समलौंगिकता इस शोषण का परिणाम है । समकालीन स्त्रीवाद इस वैयक्ति अस्मिता की पहचान का एक रूप है । इसमें स्त्री को स्त्री के ही नज़रिए से विश्लेषित करने का प्रयास है । जैसे "स्त्री की अस्मिता उसकी समस्याओं एवं उसकी अनुभूतियों की व्याख्या पुरुष-संदर्भ में करने की मानसिकता से बचना चाहिए । स्त्री को स्त्री

1. क्षमा कौल, दर्दपुर, पृ. 18
2. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ. 190

के सामाजिक संदर्भ में विश्लेषित करने का नज़रिया विकसित करना होगा।"[1] गोया स्त्री की व्यक्ति के रूप में अस्मिता को रूपायित करने के लिए उसकी संवेदनाओं, भावों और विचारों को अभिव्यक्ति देना आवश्यक है । स्त्री एक व्यक्ति के रूप में समाज में जीना चाहती है । शील-अश्लील के जामे से बाहर आ कर उसे एक स्वतंत्र व्यक्ति बनना है । डॉ. वीना रानी यादव लिखती है "पितृसत्तात्मक व्यवस्था में जिन कठोर नैतिक बंधनों में स्त्री के शरीर को बांधा था, उन्हें आज की स्त्री तोड देना चाहती है, स्वयं को श्लील-अश्लील से मुक्त कर एक व्यक्ति के रूप में जीना चाहती है।"[2] यानी स्त्री का व्यक्तित्व अलग है और पुरुष सत्ता इस सत्य से मुँह नहीं मोड सकती।

तलाक का अधिकार

स्त्री और पुरुष के बीच का सबसे सुन्दर व पवित्र रिश्ता विवाह का है । किंतु इस रिश्ते में भी पुरुष हमेशा शोषक ही बना रहता है । विवाह का रिश्ता स्त्री को बंधन में डाल देता है वहीं दूसरी तरफ पुरुष इस रिश्ते में अपनी स्वतंत्रता खोजता है । विवाह के बाद भी वह किसी रिश्ते का मोहताज नहीं है । मृदुला गर्ग अपने उपन्यास 'कठगुलाब' में लिखती हैं - विवाह ! वही तो.. वहीं अखंड, पूर्ण, परम, नित्य दुःख पाने का माध्यम।"[3] विवाह के बंधन में स्त्री की स्थिति शोचनीय होती है । इस संबंध में स्त्री मात्र

1. जगदीश चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री अस्मिता-साहित्य और विचारधारा, पृ. 133
2. डॉ. वीणा रानी यादव, हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति, पृ. 70
3. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ. 216

बिन वेतन की नौकरानी है । ऐसी हालत में यदि स्त्री अपनी स्वतंत्रता चाहती है तो समाज इस स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं करता । पुरुषवर्चस्ववादी समाज स्त्री को तलाक देने से इन्कार करता है । जबकि यह उसकी वैयक्तिक अस्मिता का प्रश्न होता है । जिस व्यक्ति के साथ उसे दुख-दर्द व कष्ट भुगतने को मिलता है, स्त्री उसी के साथ पूरी ज़िन्दगी बसर कर देती है । शिगाफ उपन्यास में मनीषा कुलश्रेष्ठ इस सत्य का उद्‌घाटन करती है कि औरत के हक में कुछ नहीं है । समाज का हर अधिकार पुरुष के पास है । लिखती "औरत के हक में कहाँ है, तलाक देना।"[1] यानी औरत का हक न ही विवाह को तय करना है न ही तलाक देना है । औरत के सारे हक मर्दों की तिजोरी में बंद पडे हैं ।

औरत तलाक देने में हिचकिचाती है जब उसकी आर्थिक क्षमता कमज़ोर हो । किंतु आर्थिक कमी के चलते और परंपरा को बनाए रखने का ठेका लिए स्त्री दिन-रात घुटती हुई विवाह के संबंध को ताउम्र निभाती है । कहावत भी गढी गई है जहाँ शादी होती है वही से अर्थी भी उठनी चाहिए । इसी कहावत को पूरा करती हुई स्त्री अपनी ज़िन्दगी गुज़ार देती है । तलाक का अधिकार स्त्री को है । क्योंकि वह भी एक इन्सान है । हर इन्सान के कुछ जन्मसूत्र अधिकार हैं, इसमें तलाक देना या लेना भी शामिल है । तसलीमा नसरीन लिखती है "सभी लोगों के कल्याण के लिए, औरत-मर्द दोनों के हित के लिए, बच्चों के हित के लिए स्वस्थ समाज के कल्याण के लिए, घर-

1. मनीषा कुलक्षेत्र, शिगाफ, पृ. 122

घर दु:सह जीवन गुजारने के वाले लोगों में प्यार हीन रिश्ते तोड ही देना चाहिए । जिसे टूटना है । वह टूट ही जाये । अगर टूटने नहीं देगें, तो नया कुछ गढा कैसे जायेगा? सडी-गली पुरानी चीज़ को छाती से चिपकाय हुए क्या सुन्दरता का सपना देखा जा सकता है?"[1] यानी तलाक देने और लेने में स्त्री का अपना अधिकार है ।

वैचारिक स्वतंत्रता का अधिकार

आधी दुनिया का सबसे बडा सच यह है कि उसका अपना कोई विचार नहीं । पुरुष वर्चस्व की इस दुनिया में उसे कभी विचार करने का मौका ही नहीं मिला । अधिकतर स्त्री के विचार अपने पति, पुत्र या पिता के इर्द-गिर्द मंडराते रहे । लेकिन जब शिक्षा का प्रभाव स्त्री पर पडा तो वह अपने बारे में विचार करने लगी । अपनी ज़रूरतों, इच्छाओं का खुलकर ब्यान करने लगी । अपनी नापसंद, पंसद का बखान अपने विचारों में लाने लगी । पहले तो स्त्री कुछ विचार करती ही नहीं थी क्योंकि ज़्यादा से ज़्यादा अपने पति की चाय से लेकर बच्चों के टिफिन तक आकर उसके विचार खत्म हो जाते थे । शिक्षा ने स्त्री को विचार करना सीखाया, वैचारिक स्वतंत्रता का अधिकार उसे दिलाया । स्त्री लेखन स्त्री के विचारों का ही परिणाम है । स्त्री के विचार, स्त्री की अस्मिता और अधिकार पर प्रश्न उठाते हैं । डॉ. रूपा सिंह अपने लेख में महिला लेखन पर विचार करती हैं "महिला लेखन पुरुष सत्ता वर्चस्व समाज के सभी अहं, को द्वन्द्व की समझता है और

1. तसलीमा नसरीन औरत का कोई देश नहीं, पृ. 116

स्त्री की मुक्तिकामी चेतना उससे कैसे बार-बार टकरा कर खुद, लहुलहुहान होते हुए भी अकडे पडे, दीवारों से पपडियां छुडाने में अपनी ताकत लगा रही है; उसे भली-भांन्ति सामने लाने में सक्षम भी हो रहा है।"[1] उपन्यास कठगुलाब में मारियन अपने विचारों को पति ईविंग को सौंफती है । दोनों के विचार से उपन्यास का रूप तैयार होता है लेकिन उपन्यास छपने के बाद पता चलता है कि उपन्यास में कही भी मारियन का योगदान नहीं है, ईविंग मारियन के तथ्यों और विचारों को अपना नाम देता है । कहता है "तथ्य जुटा लेने से उपन्यास नहीं लिखा जाता, माई डियर। समाजशास्त्रीय अध्ययन और रचनात्मक लेखन में फर्क होता है । मैंने तुम्हें अपनी थीसिस लिखने से तो नहीं रोका।"[2] यानी उपन्यास सृजन में स्त्री का योगदान था पर उसे सराहा नहीं गया ।

स्त्री की वैचारिकता पर पुरुष वर्चस्ववादी समाज हमेशा अन्याय का पक्ष ही लेता आया है । स्त्री जब लेखन में अपने विचारों को व्यक्त करती है तब उसे शील अश्लील का जामा पहनाकर उसकी आलोचना की जाती है । इसका सीधा कारण यह है कि स्त्री को कभी विवेकी नही माना गया, संपूर्ण बुद्धि और विवेक का ठेका पुरुष ने ले रखा है । मैत्रेयी पुष्पा इस पर लिखती है "अजीबोगरीब तर्क है कि स्त्री के पास विचार नहीं होते, हाँ अनुभव हो सकते है, मगर इससे वह बुद्धि की स्वामिनी नहीं हो जाती ।"[3] लेकिन सच

1. डॉ. रूपा सिंह, महिला लेखन की चुनौतियां, मधुमति (मई -2012) पृ. 23
2. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ. 95
3. मैत्रेयी पुष्पा - चर्चा हमारा, पृ. 88

तो यह है कि अपने अनुभवों से विचारों को सींचने वाली स्त्री ही है । पुरुष के अनुभव स्त्री के अनुभव से टकराते हैं तो स्त्री का अनुभव ही यथार्थ का रूप लेता है । वहीं उसका विचार भी बनता है । स्त्री के विचार अनुभव से बने हैं, इसलिए उसमें दर्द, करुणा, दया व पीडा की कहानी देखने को मिलती है । वैचारिक स्वतंत्रता का अधिकार स्त्री को है, इस कारण आज महिला लेखन सशक्त है । आदर्श मदान लिखते है "संवेदना, करुणा, दया, ममता, वात्सल्य आदि उत्कृष्ट मानवीय गुणों की याती संभाले जब किसी महिला की कलम समाज के दर्द को अभिव्यक्ति देती है तो उसमें वैशिष्य एवं अधिक प्रभाविकता होती है । क्योंकि युगों से महिलाएं पीडा को देखती, सुनती और सहती आई है । न केवल मूक दर्शक बनकर बल्कि भोक्ता बनकर। वे समाज का एक ऐसा हिस्सा है जो निरन्तर प्रहार से क्षीण नहीं हुआ बल्कि दर्द की धरती से फिर-फिर शक्ति का, अभिव्यक्ति का अंकुर बन-बन कर फूटा है।"[1] यानी वैचारिक स्वतंत्रता का अधिकार स्त्री को संघर्ष करने की, पुरुष वर्चस्व से जूझने की शक्ति प्रदान करता है ।

बहरहाल स्त्री की वैचारिक स्वतंत्रता उसे समाज से जोडती है । राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में उसकी यह स्वतंत्रता, अस्मिता को तलाशने में उसकी मदद करता है । स्त्री की अस्मिता और अधिकार का व्यापक क्षेत्र उसकी वैचारिक स्वतंत्रता से जुडा है ।

---

1. आदर्श मदान - मधुमती जनवरी 1999, पृ. 23

देह बोध से मुक्ति का अधिकार

स्त्री देह एक समान्य देह है, जैसे पुरुष की । लेकिन न जाने क्यों इस समाज में स्त्री देह को पुरुष की देह से अलग माना जाता है । स्त्री देह को असमान्य करार दिया गया है । पुरुष अपने इस देह पर गर्व महसूस करता है तो स्त्री अपने देह के प्रति शर्मसार है । बचपन से ही उसे इस देह के तौर तरीके, सलीके से समझा दिए जाते हैं । स्त्री की देह बचपन से लेकर बुढापे तक उसका इसी प्रकार पीछा करती है । स्त्री की सारी समस्याएँ देह से जुडी है ।

स्त्री और देह के संबंध को यदि बारीकी से समझने की कोशिश करें तो पाएगें कि देह स्त्री को कमज़ोर, आश्रिता और शोषण का अधिकारी बना देता है । समाज ने स्त्री को मात्र देह के इर्द-गिर्द समेट दिया है । परिणामतः स्त्री शर्म और लज्जा का आंचल थामे शारीरिक अक्षमता को अपनाने लगी। स्त्री-देह की शक्ति से दूर हो गई । उसने अपनी सुरक्षा का ठेका पुरुषों को सौंफ दिया । वहीं पुरुष, ज़िन्होंने पुरुष वर्चस्ववादी समाज में स्त्री को मात्र शोषण का साधन माना । पुरुष ने पहले तो स्त्री को गालियों से जोडा जैसे मां, बहन की गाली और बाद में आपसी रजिंश के चलते स्त्री देह को रोंदा जाने लगा ।

बायोलॉजिकल फैक्टर्स के चलते पुरुष अपने आप को स्त्री से उच्च मानने लगा । इस कारण वह स्त्री देह को भी तुच्छ समझने लगा । देह से

मुक्त स्त्री को वेश्या करार देने लगा । यदि कोई स्त्री अपनी देह से मुक्ति चाहती है तो पुरुष सत्ता की गलत व्यवस्था उसे इस समाज में निचले पायदान में धकेल देती है । क्योंकि स्त्री देह से ही संपूर्ण नैतिकताएँ जुडी हैं, परंपरा, सभ्यता का ठेका भी स्त्री का ही है । मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं "स्त्री देह तो इस दुनिया की सबसे बडी समस्या है । ऐसा लगता है कि यह न हो तो कोई दिक्कत ही न हो । सारे फरमान उसकी देह को लेकर जारी किए जाते हैं, सारे नियम उसकी देह के लिए बनते है, सारी नैतिकताएं, संस्कृतियां, सभ्यताएं वह अपनी देह के भीतर पाल रही है ।"[1] स्त्री देह पुरुष के लिए आकर्षण की वस्तु है । स्त्री देह के हर एक अंग पर पुरुष फोकस करता ही रहता है । कठगुलाब उपन्यास में स्मिता का जीजा उसके देह आकर्षण से लिप्त है । कहता है "घर में रहती है तो समझो.. लार टपकती रहती है अपनी... (फुसपुसाकर)"[2] स्त्री आज अपनी इस देह से मुक्ति चाहती हैं । वह देह में सिमट कर अपना अस्तित्व नहीं गंवाना चाहती, देह से बढकर अपने दिमाग की ताकत को अपनाना चाहती है । रोहिणी अग्रवाल इस बात पर अपना विचार यों देती है "अपने को पाने की मशक्कत भरी प्रक्रिया में 'देह' बन कर स्त्री फिर से अपने को खोना नहीं चाहती, देह में स्थित हृदय (संवेदना) मस्तिष्क (विवेक) और कल्पना (सपनों) को अपना व्यक्तित्व बना कर सर्जनात्मक गतिविधियों से भरे क्रियाकलापों में अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज करना चाहती है।"[3] विज्ञान ने स्त्री और पुरुष को अलग-

1. मैत्रेयी पुष्पा - चर्चा हमारा, पृ. 29
2. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ. 15
3. रोहिणी अग्रवाल - साहित्य की ज़मीन और स्त्री-मन के उच्च्वास, पृ. 69

अलग नहीं माना है । लेकिन पुरुष सत्ता ने अपनी ज़रूरतों के लिए स्त्री को मात्र देह तक सीमित कर दिया । डॉ. प्रभा दीक्षित स्त्री देह के संदर्भ में कहती हैं "स्त्री देह के संदर्भ में यह भी कहना चाहूँगी कि जो पुरुष जनित जुगुप्सा, रहस्यवादिता या संवेदनशीलता प्रदर्शित की जाती है वे धारणाएँ भी पुरुषों के मांसल अंगों में कोई बुनियादी फर्क नहीं होता, ऐसी विज्ञान की धारणा है।"[1] सीमोन द बुआर इसलिए इस तथ्य को पेश करती है कि स्त्री पैदा नही होती है बनाई जाती है यानी परंपरा से घीस-पसीट कर उसे स्त्री बना दिया जाता है ।

स्त्री मुक्ति के संदर्भ में आज स्त्री देह से निज़ात पाना चाहती है । अपने अस्तित्व और अस्मिता के आडे देह की कोई कीमत को वे नहीं मानती । देह से मुक्ति के अधिकार को अपना कर, अस्तित्व की लडाई में वह कूदना चाहती है । देह से परे की ज़िन्दगी की तलाश में है वह । चाक उपन्यास में सारंग कहती है 'मेरा मन जिद्दी है श्रीधर । कहता है, जिस मर्द के साथ तेरे पिता ने विदा कर दिया, उस मालिक से वापिस माँग ले अपनी देह । जीती-जागती पाँच इन्द्रियों के संग तो जानवर बेचे जाते हैं । उन्हीं का रस्सा पकडाया जाता है दूसरे के हाथ।"[2] स्त्री को देह तक सीमित किया गया फलस्वरूप पुरुष वर्चस्ववादी समाज में पुरुष ने स्त्री की मर्यादा या देह की सुरक्षा नहीं की बल्कि हर पल उस देह को नोंच कर कलंकित करता रहा। इस पितृसत्ता पर प्रश्न करती हुई डॉ. वीना रानी यादव लिखती हैं "स्त्री को

1. डॉ. प्रभा दीक्षित, स्त्री अस्मिता के सवाल, पृ. 85
2. मैत्रेयी पुष्पा, चाक्, पृ. 322

उसकी देह तक सीमित करके देखने का ही दुष्परिणाम हुआ है कि समस्त मानवीय संबंध घूमिल हो चले हैं । पितृसत्तात्मक ने जिन कंधे पर स्त्री की सुरक्षा व्यवस्था का उत्तरदायित्व सौफा हैं, उन्हें ही स्त्री का भक्षण करने से वह रोक नहीं पाया।"[1] यानी पुरुष रक्षक था जो देह की रक्षा करता था, लेकिन वही रक्षक आज भक्षक बन गया, कितना शर्मनाक वाकया है देह से मुक्ति स्त्री की अस्मिता को बनाए रखने का एक माध्यम हैं क्योंकि जब तक स्त्री देह पर ही टिकी रहेगी तो वह अपने दिमाग तक नहीं पहुँच पाएगी। स्त्री को उसके दिमाग व उच्च विचारों से पहचाना जाना चाहिए न कि उसकी तुच्छ देह से । वास्तविकता यह है कि स्त्री पुरुष से वैचारिक दृष्टि से कहीं ऊपर है, लेकिन पुरुष स्त्री की देह तक सीमित कर, अपनी नग्नय अवस्था को छिपाने की कोशिश करता है । स्त्री देह की मुक्ति तभी संभव है जब वह अपने वैचारिक पक्ष में ऊपर उठेगी ।

प्रेम की अबधारण और स्त्री अस्मिता

प्रेम एक शाश्वत अवधारणा है । प्रेम के विषय में यह माना जाता है कि यह कभी भी किसी से भी हो सकता है । पुरुष प्रेम की अभिव्यक्ति से कभी हिचकता नहीं किंतु दूसरी ओर प्रेम की अवधारणा में स्त्री दोयम दर्जे की मानी गई है । पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष के कई प्रेमों को मान्यता करार दी जाती है । लेकिन स्त्री का एक से अधिक प्रेम उसे कुलटा और

1. डॉ. वीना राणी यादव, हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्त, पृ. 142

वेश्या बना देता है । प्रेम संबंधी अवधारणा भी पुरुषों की अपनी है । स्त्री पर प्रेम थोपा गया, प्रेम करने का अधिकार उससे छीना गया । पातिव्रत्य ही उसके लिए प्रेम की अभिव्यक्ति बन गया । स्त्री के वैयक्तिक अधिकारों में प्रेम करने का अधिकार भी शामिल है ।

सदियों से प्रेम का अधिकार मात्र पुरुषों के पास रहा है । डॉ. वीना राणी यादव प्रेम के संबंध में लिखती हैं "प्रेम प्रसंग जितना ही अधिक गहरा व मर्मस्पर्शी रहा उतना ही पुरुष गरिमामय और महिमान्वित होता रहा और स्त्रियां उतनी ही कातर, अभिशप्त और लांछित होती रहीं।"[1] यानी प्रेम संबंधी अवधारणा का अधिकार स्त्री के लिए निषेध है । प्रेम एक सांसारिक तत्व है सो देह से जुडा है । देह से जुडने के कारण प्रेम को कभी-कभार व्यभिचार की संज्ञा भी दी जाती है । मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'चाक' में नायिका सारंग अपने पति रंजीत के प्रेम की अभिव्यक्ति को नकारते हुए श्रीधर के साथ अपना प्रेम संबंध जोडती है जो देह से भी जुडा है ।

विवाहेतर प्रेम संबंध समाज में पहले मान्य नहीं थे । नैतिकता व संस्कार के पाठ के चलते विवाह के बाद के प्रेम को कभी मान्यता नहीं मिली किंतु आज का समाज इस प्रेम संबंध को समझने लगा है । स्त्री की प्रेम संबंधी धारणा बदली है, 'चाक' उपन्यास इसी बात को प्रमाणित करता है । सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव का उपन्यास 'वनतरी' प्रेम संबंधी अवधारणा का एक उदाहरण है । इसमें वनतरी औरत प्रेमसंबंधी अवधारण को इस प्रकार ब्यान

1. डॉ. वीना राणी यादव, हिन्दी उपन्यासों में स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्त, पृ. 115

करती है "देखो मिथिल, तुम आदमी हो । औरतों के दिल की बात शायद तुम नहीं जानते । हम जिसे चाहते हैं, उस पर मर मिटते हैं । परहिया की लड़की जिसे चाहती है, उसके लिए जान गॅबा देती है ।"[1] अक्सर यह मान लिया जाता है कि विवाह के बाद पति का प्रेम ही श्रेष्ठ है । पति के बंधे रहने की आदी हो चुकी है स्त्री । विवाहेतर प्रेम को पाप का नाम दिया गया है। इसमें स्त्री को हो तिलांजली देनी पडती है । उदाहरण के लिए बहुचर्चित नायिकाएं प्लाबेयर की मैडम बॉबरी हो या टॉलसॉय की अन्ना केरिनिना, दोनों ही मृत्यु को अंत में वरन् करती है । उपन्यास 'अनबीता व्यतीत' में नायिका समीरा अपने पति के प्रेम को ठुकराती है । क्योंकि उनके सोच और विचार अलग-अलग हैं, उनकी धाराएं अलग हैं । वह अपने अस्तित्व को बनाए रखना चाहती है "आप ही बताइए, क्या रात को पलंगों पर साथ-साथ सो लेना ही सुख है? एक धारा बनकर बहने की क्या यही शर्त है... उल्टी धारा में बहने से सॉसे कितनी घुटती है, इस सच्चाई को समझते हुए भी आप क्यों नही समझना चाहती ।"[2] यानी यह सवाल जायज है कि क्या पलंग पर एक साथ सोना ही प्रेम है ? प्रेम आत्मा से जुडा है, इसमें देह या शरीर मात्र एक ज़रिया है अभिव्यक्ति का । प्रेम व्यक्तित्व की अन्तर्धारा है । अनामिका जी प्रेम पर अपनी बात को इस प्रकार पुखता करती है "प्रेम न बाडी उपजै/ प्रेम न हार बिकाई यह तो सच है । प्रेम किसी की तानाशाही नहीं मानता । किसी आदेश पर न प्रेम हुआ है, न मिटा है ।"[3] यानी प्रेम किसी के आदेश

1. सुरेशचंद श्रीवास्तव, बनतरी, पृ. 73
2. कमलेश्वर -अनबीता व्यतीत, पृ. 121
3. अनामिका - स्त्री विमर्श का लोकपक्ष, पृ. 101

का मोहताज नहीं । खासकर यदि स्त्री अपनी अस्मिता की तलाश कर रही हो तो बिल्कुल भी किसी आदेश का पालन नहीं करना चाहिए ।

वस्तुतः प्रेम स्त्री की अस्मिता को ओर मज़बूत बनाता है । वह भी मनुष्य है, उसके विचार, उसकी संवेदनाएं भी पुरुष जैसी ही है । इसलिए वह प्रेम करने की अधिकारी है, नैतिकताओं और परंपराओं के आगे भी उसकी दुनिया है ।

मातृत्व का अधिकार

मातृत्व स्त्री जीवन से जुडा एक ऐसा तत्व है जिसके बिना स्त्री का जीवन अधूरा माना जाता है । चूंकि मातृत्व का अधिकार पूर्णतयः स्त्री पर आधारित है किंतु पुरुष इसमें भी अपना हस्ताक्षेप करता ही रहता है । मातृत्व एक महान भावना है प्रत्येक स्त्री को इसी आधार पर परखा जाता है। स्त्री को पूजनीय और वंदनीय तभी माना जाता है जब वह माँ बनती है । अन्यथा समाज में बाँझ को आदर भाव की दृष्टि से नहीं देखा जाता । बॉझ केवल स्त्री को ही माना जाता है, पुरुष कभी बॉझ नहीं होता वह सब गुणों से संपन्न होता है । मातृत्व का अधिकार भी स्त्री को उसी अवस्था में दिया जाता है जब वह पुरुष व्यवस्था के सामाजिक नियम के आधीन हो । वरना उस मातृत्व को नाजायज करार दिया जाता है । धार उपन्यास की नायिका मैना का मातृत्व नाजायज है, जो उसके साथ हुई जबरदस्ती का परिणाम है। फिर भी मैना उस मातृत्व को टुकराती नहीं । पुरुष वर्चस्ववादी समाज ने जो

मातृत्व के नियम बनाए हैं मैंना उसे तोडती है और उस बच्चे को अपने साथ रख लेती है । जैसे "बच्चे को चुप कराते हुए उसने पागलों-सी खोई नज़र से कारागृह की मनहूस दीवारों को देखा, पता नहीं इस बच्चे का कुत्ता बाप, वह जेलर, अभी यही है या कहीं चला गया है । वह इतनी खो गई कि उसे एक पल को ठीक-ठीक समझ में न आया कि बच्चा अन्दर से रो रहा है या बाहर से । लगा, यह टेर उसके जन्मस्थान के आकर्षण से खिंच-खिंच कर आ रही है।"[1] यानी स्त्री मातृत्व को कभी नहीं छोडना चाहती चाहे वह मातृत्व नाज़ायज़ हो या जायज। ऐसी कई विषम परिस्थितियाँ देखने को मिलती है । जब स्त्री अपने मातृत्व को टुकराती है, क्योंकि उसे समाज का डर है, पुरुष की व्यवस्था या उसके बनाए समाज के नियमों से वह डरती है । पुरुष हर प्रकार से स्त्री का शोषण ही करता है । यदि वह पति बन कर स्त्री को मातृत्व का सुख देता है तो कहा जायज है, और वही पुरुष स्त्री का बलात्कार कर उसे मातृत्व जबरदस्ती देता है तो वह नाजायज दोनों स्थितियों में स्त्री को ही भुगताना पडता है । उपन्यास 'चाक' में रेशम की स्थिति भी ऐसी ही है, चूंकि वह विधवा है और पति के मरने के बाद भी वह गर्भवती बनती है । इस मातृत्व के लिए उसे सज़ा दी जाती है । क्योंकि उसका वह मातृत्व नाज़ायज है । किसी की विधवा बनकर, किसी ओर के बच्चे की माँ बनना, पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ है । रेशम के मातृत्व को सज़ा मिलती है । गर्भवती रेशम को ज़िंदा जला दिया जाता है । रेशम

1. सजीव - धार, पृ. 84

कभी भी अपने मातृत्व को कलंक नहीं मानती थी । विधवा का मातृत्व ग्रहण करना वह पुण्य मानती थी । वह अपनी सास से अपनी इस बात का खुलासा भी करती है ।"बिना बाप के बालक को भगवान पाप मानता तो कुँआरी-विधवा की कोख सुखा डालता।"[1] समाज में ऐसी भी परिस्थितियों देखने को मिलती है जहाँ स्त्री से उसके मातृत्व का अधिकार छीन लिया जाता है । पुरुष अपने लाभ के लिए स्त्री को भोगता है और उसे मातृत्व का सुख देने से कतराता है, क्योंकि वह बच्चे को अपने विकास का बाधक मानता है । स्त्री मातृत्व के लिए तडपती है । किंतु पुरुष रूप पति अपने यौनसुख और लाभ के लिए स्त्री को इस मातृत्व के सुख से वंचित कर देता है । उपन्यास 'कठगुलाब' में इर्विंग, मारियन को इस सुख से वंचित कर देता है लेकिन मारियन का मातृत्व छलागें मारता है, वह कहती है, "नहीं । मुझे खुद का अपना बच्चा चाहिए । मैं उसे अपने आँगन में खेलता - बढता देखना चाहती हूँ । अपने घर की दीवारों के बीच गूँजती, शनै-शनै दृढ होती उसकी आवाज़ सुनना चाहती हूँ । मैं उसे अपने कंधे से लगाकर सुलाना चाहती हूँ। हाँ मैं एकदम पारस्परिक, जाहिल, गॅवार, प्राकृत औरत हूँ । औरत हूँ मैं । औरत हूँ । तो? क्यों न हूँ औरत ? मैं चिल्ला-चिल्लाकर कहती हूँ मैं एक बच्चा पालना चाहती हूँ । अपने घर में, अपनी छत के नीचे, अपने फर्श के ऊपर, अपनी दीवारों के बीच । मैं उसका पहला शब्द सुनना चाहती हूँ । पहला कदम संभालना चाहती हूँ । मैं उसके सिरहाने बैठकर रातें काटना चाहती

1. मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ. 20

हूँ।... मैं सर्जक होना चाहती हूँ ।"[1] यानी औरत हर हालत में माँ बनना चाहती है । वहीं दूसरी ओर, स्त्री मातृत्व के अधिकार को जितना चाहती है उतना ही वह अपनी अस्मिता को गंवा बैठती है । स्त्रीवाद के उग्रवादी स्त्रीवादियों ने मातृत्व को नकारा है । उनके अनुसार स्त्री की स्वतंत्रता, उसकी अस्मिता का सबसे बडा बाधक उसका मातृत्व है । क्योंकि इसके अस्तित्व के सभी धागे पुरुष से ही जुडे हैं । 'समय सरगम' उपन्यास की नायिका आरण्या स्वतंत्र है, उनके अनुसार स्त्री केवल माँ बनकर ही सन्तुष्ट नहीं होती । स्त्री सर्जक है, वह संसार में और भी कई कामों को अंजाम दे सकती है ''ममता, माँ सिर्फ ममता ही है क्या ! क्या उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व के सूत्र अब भी पिता, पति और पुत्र के हाथ में हैं।"[2] यानी ममता का अर्थ खाली बच्चे की माँ बनना नहीं, माँ एक सर्जक है, वह सर्जना कर सकती है । संसार के हर वस्तु की सर्जना वह कर सकती है । कठगुलाब में गोधड गाँव का निर्माण कर गाँववासियों की माँ बननेवाली स्मिता है ।

मातृत्व का एक अलग पहलू यह है कि वह पितृसत्ता का एक षडयंत्र है । स्त्रियों ने इस बात को अनुभव किया है कि मातृत्व की महानता का गायन वस्तुतः स्त्री की कोख पर नियंत्रण का एक उपकरण मात्र है ताकि पुरुष को संपत्ति के उत्तराधिकारी के रूप में अपना ही रक्तवीर्य प्राप्त हो सके। उपन्यास 'कठगुलाब' में विपिन भी इसी व्यवस्था का प्रतिनिधि है,

---

1. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ. 112
2. कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृ. 77

कहता है "बच्चा गोद लेने से मेरी संतुष्टि नहीं होगी । मुझे किसी स्त्री के माध्यम से, खुद अपनी संतान चाहिये । ऐसा बच्चा, जिसके बारे में मुझे जानकारी हो कि वह मेरी ही संतान है ।"[1]

मातृत्व को ज़रिया बनाकर पुरुष स्त्री से अपना उल्लू सीधा करवाने से भी नहीं चूकता । आज स्त्री इस षडयंत्र को समझ चूकी है । वह मातृत्व को अपना अधिकार मानती है और अपने अस्तित्व के लिए इसे एक शक्ति का रूप भी मानती है । उपन्यास चाक की सारंग परंपरागत बेडियों को तोडती है और मातृत्व को अपनी शक्ति का स्रोत मानती है । सारंग का पति रंजीत जब अपने बेटे चंदन को हथियार की तरह इस्तेमाल करता है तो सारंग का मातृत्व रण-चंडी का रूप धारण कर लेता है उपन्यास से "असल मर्द है तो छू चंदन को । रण-चंडी बनी खडी है सारंग । भाग्य की बात कि फायर हवा में सनसनाकर रह गये । रंजीत और दल्वीर, दोनों भाइयों के मुंह पर तित्तलियाँ उड रही है - भय से या आश्चर्य के कारण?"[2] यानी स्त्री का मातृत्व स्वरूप उसे समय आने पर रण-चंडी भी बना सकता है ।

बहरहाल स्त्री की वैयक्तिक अस्मिता का एक मुख्य अंग मातृत्व का अधिकार भी है । यह अधिकार उससे कोई नहीं छीन सकता । किंतु पुरुष वर्चस्व के षड्यंत्र ने ऐसे कई नियम बना डाले हैं जिसमें स्त्री का मातृत्व कभी-कभी अवैध भी बन जाता है । जो सचमुच में मातृत्व की तौहीन है ।

1. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ. 217
2. मैत्रेयी पुष्पा - चाक, पृ. 412

आज स्त्री अपने इस अधिकार को समझ चुकी है और वह अपने मातृत्व के अधिकार के लिए पुरुष की मोहताज नहीं रह गई है । यही से एक नई सोच पनपती है ।

2. समाजिक अधिकार एवं अस्मिता

स्त्री समाज का एक अभिन्न अंग है । स्त्री और पुरुष से ही समाज का निर्माण संभव है । व्यक्ति से परिवार और परिवार से समाज का रूपायन होता है । स्त्री और पुरुष की आपसी साझेदारी ही एक स्वस्थ समाज का निर्माण करती है । लेकिन इस बात से नकारा नहीं जा सकता कि समाज पर आधिपत्य पुरुष का है । पुरुष वर्चस्ववादी इस समाज में स्त्री दूसरे दर्जे की है । उसे समाज में पुरुष के बराबर नहीं माना गया । वह आज भी समाज में अपनी अस्मिता को बनाए रखने की जदोजहद में है । पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को ऐसे कई बंधों में जकडा गया है । जिससे स्त्री मात्र एक सामाजिक प्राणी बन कर रह गई, न उसे समाज में अपना कोई अस्तित्व नज़र आता है और न ही वह स्वतंत्र है । सबसे बडी बिडंबना यह है कि स्त्री को व्यक्ति के अधिकार से ही वंचित रखा गया, फिर उसे सामाजिक अधिकार एवं अस्मिता कैसे प्राप्त होगी । स्त्रीवाद स्त्री के अधिकारों और उसके हक को लेकर पुरुष वर्चस्व समाज के खिलाफ अपना मोर्चा तैयार करता है । स्त्री की सामाजिक अस्मिता को बनाए रखने में, उसे विभिन्न क्षेत्रों में अपनी पहचान बनानी होगी ।

स्त्री शिक्षा और अधिकार

स्त्री शिक्षा उसकी (स्त्री) स्वतंत्रता और अस्मिता की पहली सीढी मानी जाती है । शिक्षा से उसकी सोच में, उसके विचार में परिवर्तन आया है । परंपरागत रूढियों से मुक्ति की राह भी शिक्षा से ही प्राप्त होती है । सुधा अरोडा शिक्षा के अधिकार पर बल देकर लिखती हैं "आज की औरत का पूरा संघर्ष अपने उस छोटे-से हिस्से को बचाने में हैं जिस पर उसके दोनों पॉव टिके हैं । इस हिस्से को बचाए रखना उसकी पहली प्राथमिकता है । इसे बचाए रखने की ताकत उसे शिक्षा से ही मिलेगी, इसलिए बहुत आवश्यक है कि गाँव हो या कस्बा, शहर हो या महानगर में बसे छोटे-छोटे, उपनगर, हिन्दुस्तान के हर राज्य में लडकियों के लिए हर जगह शिक्षा मुक्त हो और अनिवार्य हो।"[1] शिक्षा, स्त्री में अलग सोच की उपज करती है उसे सोचने व विचारने पर मज़बूर करती है । वह अपने अपमान और बेकद्री को पहचानने लगती है । "लडकी को इतना मत पढाओ कि वह सवाल करने लगे या ससुराल में अपनी बेकद्री और अपमान को पहचानने लगे । पहचान देना गलत है ।"[2] यानी पहले स्त्री शिक्षित नहीं थी, वह समझ नहीं सकती थी कि उसके साथ क्या अच्छा हो रहा है और क्या बुरा । लेकिन शिक्षा ने समझने की शक्ति उसे प्रदान की । शिक्षा से स्त्री की समाज में एक पहचान बनती है । वह अपने पैरों पर खडी हो सकती है । नमिता (कठगुलाब) शिक्षा न

1. सुधा अरोडा, आम औरत जिंदा सवाल, पृ. 99
2. सुधा अरोडा, आम औरत जिंदा सवाल, पृ. 76

मिल पाने के कारण अपने जीवन में कुछ न बन पाई, इस बात का उसे अफसोस है । लेकिन वह अपनी बहन स्मिता को शिक्षा से वंचित नहीं करना चाहती "माँ मेरी पढाई चौपट न करती तो मैं इन पर इतनी आश्रित न होती। कम-से-कम बी.ए तो किए होती । थोडा बहुत कमा सकती थी । अब तो इतने पैसे भी हाथ में नहीं होते कि तेरी फीस जमा करवा दूँ । प्रदीप के शोक की एकाध चीज़ खरीद लूँ । हर चीज़ के लिए इनके आगे हाथ फैलाना पड़ता है । पर तू फ्रिक मत कर । जैसे भी होगा, मैं तेरी फीस के पैसे दिलवा दूँगी। तू आगे पढ । अपने पैरों पर खड़ी हो । हमारे भरोसे मत रह । काम-धाम करेगी तो एक नहीं, अनेक दोस्त मिलेंगे । अपनी मनपसंद शादी करना । मेरी तरह भिखारिन मत बनना....।"[1] स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार है, जिससे वह स्वावलंबी बन सकती हैं । शिक्षा से वंचित होने के कारण कश्मीर का एक पूरा गांव यतीम हो गया । 'दर्दपुर' उपन्यास में इस बात को बडी बारीकी से दिखाया गया है ।

उपन्यास (दर्दपुर) की नायिका सुधा जब कश्मीर के एक गाँव में पहुँचती है तो पाती है कि गाँव पूरा का पूरा यतीम बन गया है यानी वहाँ अब औरतें और बच्चे ही बाकी बचे हैं । इसके लिए सुधा शिक्षा की कमी को कारण मानती है । गाँव को इस संकट की अवस्था से बाहर निकालने के लिए सुधा उन्हें शिक्षा देना चाहती है । "इसलिए मेरी बहनो ! क्या तुम पढना

1. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ. 20

चाहेगी?"[1] यानी सुधा उन स्त्रियों को पढाकर उन्हें अपनी अस्मिता की पहचान का एहसास दिलाना चाहती हैं ।

शिक्षा के अधिकार से स्त्री मात्र अपने व्यक्तित्व तक सीमित नहीं रहती, वह समाज में भी अपनी एक अलग पहचान बना लेती है । वह शिक्षित होकर सामाजिक गतिविधियों में अपनी भूमिका बनाती है । मैत्रेयी पुष्पा इस संदर्भ में लिखती हैं "कहते हैं एक स्त्री के शिक्षित होने से पूरा परिवार शिक्षित होता है । मैं कहती हूँ स्त्री के जानकार और जुझारू होने से पीढियाँ जिम्मेदार बनती हैं, जो दबे-कुचले के संघर्ष को वाणी देने के लिए आगे आती हैं।"[2] अर्थात् मात्र स्त्री का शिक्षित होना ही काफी नहीं है, बल्कि स्त्री जानकर और जुझारू होनी चाहिए, जिससे वह अपने फैसले सोच-समझ कर समाज की प्रगति और खुशहाली के लिए ले सकें । शिक्षा स्त्री की मुक्ति का पहला पडाव है । जिसे पार किए बिना स्त्री अपने अधिकारों के प्रति कभी सजग नहीं होंगी । डॉ. एलाड्बम विजयलक्ष्मी शिक्षा पर लिखती हैं "शिक्षा को समाज परिवर्तन का साधन माना जाता है क्योंकि परिवार, धर्म, सामाजिक एवं राजनीतिक संपन्न किए जाने वाले कार्य शिक्षा के माध्यम से संभव है ।"[3] यानी शिक्षा से समाज परिवर्तन संभव है ।

स्त्री की सामाजिक प्रतिबद्धता

स्त्री आज शिक्षित है, वह वैयक्तिक घेरे को तोडकर, समाजिकता में

1. क्षमा कौल - दर्दपुर, पृ. 350
2. मैत्रेयी पुष्पा- चर्चा हमारा, पृ. 67
3. डॉ. एलाड़.बम विजयलक्ष्मी - समकालीन हिन्दी उपन्यास, समय से साक्षात्कार, पृ. 23

अपना कदम बढा रही है । नई सभ्यता एवं शिक्षा के प्रसार से शिक्षित समाज में सुधार की प्रवृत्ति पाई जा रही है । स्त्री इसमें सबसे आगे है । उसमें समाज को नए सिरे से गढने की क्षमता है क्योंकि वह भी सृजन की भागीदार है । स्त्री अपने समाज के प्रति प्रतिबद्ध है । 'अनबीता व्यतीत' उपन्यास में गौतम की माँ समाज के प्रति चिन्तित है । वह अपने देश की औरतों की हालात पर अपना ब्यान इस प्रकार देती है "जब तक अपना देश गरीब है, हर औरत को तन ढंकने का कपडा, परिवार को दो जून खाने की रोटी और सर पर छप्पर नहीं मिल जाता, तब तक हमें अपने देश में शान-शौकत से रहने का अधिकार नहीं है।"[1] मतलब यह है कि स्त्री अपने समाज की औरतों की स्थिति के लिए फ्रिकमंद है । स्त्री की सामाजिक जिम्मेदारी महत्वपूर्ण है । रेखा कस्तवार लिखती है "स्त्री की जैविक भिन्नता उसके लैंगिक अन्तर को व्याख्यायित करता है लेकिन सामाजिक जिम्मेदारी एवं कार्यों के कारण उसकी जैविक भिन्नता की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।"[2] उपन्यास 'धार' में भी यह सामाजिक प्रतिबद्धता देखने को मिलती है । उपन्यास की नायिका मैना सभी लोगों के लिए रोज़गार का नया माध्यम अपनाती है । कोयला का नया खदान खुलवाने में मदद करती है । स्त्री के लिए और स्त्री द्वारा बनाए इस खदान को जनीखदान का नाम दिया गया । "जनी खदान! माने जनाना लोगों की खदान।"[3] यह सामाजिक प्रतिबद्धता का एक रूप है । स्त्री की सामाजिक प्रतिबद्धता का एक ओर उदाहरण उपन्यास 'वनतरी' में देखने को

1. कमलेश्वर - अनबीता व्यतीत, पृ. 133
2. रेखा कस्तवार - स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, पृ. 30
3. सजीव - धार, पृ. 148

मिलता है । गाँव की पानी की समस्या को लेकर उपन्यास की नायिका वनतरी जब बी.डी.ओ से मदद की गुहार के लिए जाती है तो वहाँ उसका तिरस्कार होता है । वनतरी अपना उतर यों देती है "देखो साहब, आप बहुत डॉट रहे हो । मैं कोई चोर नहीं, और न कुछ भीख माँगने आई हूँ । परहिया टोला पानी के बिना इस अकाल में तडप रहा है और आप मेरा मरद बुला रहो हो । क्या औरत बनकर आना यहाँ पाप है ।"[1] स्त्री समाज की भलाई का दायित्व अपने ऊपर लेती है ।

चूंकि स्त्री को पुरुष वर्चस्ववादी समाज ने हमेशा दबाने की कोशिश की है । लेकिन समाज के प्रति जो स्त्री का दृष्टिकोण है वह सकारात्मक है। स्त्री अपने साथ-साथ समाज की अस्मिता को बचाए रखने की जदोजहद करती है । पुरुष समाज में जिन कार्यों को अपने अधिकार के तहत मान कर करता है, स्त्री इन्हीं कार्यों को अपना कर्तव्य व दायित्व मानती है । इसलिए स्त्री की सामाजिक प्रतिबद्धता पुरुष से बिलकुल भिन्न है । 'समय सरगम' उपन्यास में नायिका सामाजिक दशा को लेकर चिंतित है । झुग्गी में रहने वाले बच्चे के प्रति, उसके भविष्य के प्रति नायिका आरण्या चिंता जताती है। उसके अधिकार पर, उसकी सुविधाओं के प्रति भी आरण्या फ्रिकमंद है । वह सवाल करती हैं "क्या सार्वजनिक कृपाएँ इस नन्हे नागरिक तक पहुँच पाएँगी? क्या तब तक इसकी धारण-शक्ति बची रहेगी ?"[2] इस प्रकार स्त्री

1. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव - वनतरी, पृ. 84
2. कृष्णा सोबती - समय सरगम, पृ. 18

समाज के प्रति सजग है । समाज की विभिन्न परिस्थितियों से जूझकर, वह अपनी अस्मिता कायम करना चाहती है ।

स्त्री-पुरुष संबंध और अधिकार

समाज में स्त्री और पुरुष दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं । एक के बिना दूसरे का अस्तित्व कायम नहीं हो सकता । लेकिन सबसे पहले सोचने का विषय यह है समाज पुरुष वर्चस्ववादी है । इसलिए समाज के हर फैसले व नियम पुरुष के द्वारा बनाए गए हैं । दूसरी ओर स्त्री दोयम दर्जे की है । समाज की आधी आबादी की ज़िन्दगी पुरुष सोच के आधीन है । गोया स्त्री-पुरुष के संबंधों में अलगाव आ गया है । स्त्री-पुरुष संबंध शोषक और शोषित के बीच के संबंध से जाना जाता है । इस संबंध में टकराहट, अकेलापन, कुंठा शामिल है । स्त्री जब अपने अधिकारों के प्रति सजग हुई तो वह अपने और पुरुष के बीच संबंध को सरल व सहज बनाने की कोशिश में लग गई । आम तौर पर स्त्रियाँ भी पुरुष सोच की शिकार होती हैं और बहुत कुछ सहती है किंतु जब कोई स्त्री व्यवहार में अपने प्रति होने वाले अन्याय का प्रतिवाद करती है तो आपसी टकराहट की प्रक्रिया शुरु हो जाती है । किंतु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कुछ पुरुष ऐसे भी हैं जो अपने स्त्री-पुरुष संबंध को समझते हैं और एक-दूसरे के प्रति सम्मान का दर्जा देते हैं । 'समय सरगम' उपन्यास में स्त्री-पुरुष के बंधन को

बडे ही सहज रूप से चित्रित किया गया है । स्त्री और पुरुष के बंधन को, साझेदारी से, एक-दूसरे की बराबरी में समझना होगा "प्रकृति के यह दो मूल पक्ष अब आगे-पीछे नहीं, आमने-सामने खडे हैं, ताकि साथ-साथ कदम मिला सकें । मात्र अनुकरण और नेतृत्व से ही नहीं - एक दूसरे की बराबरी में, साझेपन में।"[1] मतलब स्त्री और पुरुष का संबंध एक-दूसरे की होड न हो बल्कि दोनों बराबरी में चलें । स्त्री के अधिकारों, में उसे अपने स्त्री-पुरुष संबंधों को सहज बनाने का अधिकार भी शामिल है।

चूंकि स्त्री-पुरुष संबंधों में जटिलता है । फिर भी इस जटिलता को दूर किया जा सकता है । स्त्री और पुरुष एक दूसरे की भावनाओं की कद्र कर सकते हैं । डॉ. प्रभा दीक्षित लिखती है लिंग भेद के प्रभाव से मुक्त होकर एक दूसरे की भावना को समझना एवं औचित्य के अनुसार उसे पूर्ण करने का दो तरफा प्रयास वर्तमान स्त्री-पुरुष संबंधी की जटिलता को समाप्त कर सकता है । संबंधों में पुरुष आधिपत्य की भावना से दूर ही रहना चाहिए ।

आज स्त्री-पुरुष संबंधों को नए आयाम मिल रहे हैं । स्वीकृति-अस्वीकृति का द्वंद निरन्तर चल रहा है । एक-दूसरे के साथ घंटों समय व्यतीत किया जा रहा है । स्त्री भी आज हर क्षेत्र में मौजूद है तो पुरुष और स्त्री के संबंध गहरे हो गए हैं । इस परिवेश में संबंधों के औपचारिक निर्वाह से काम नहीं चलता, निकटता का संबंध कायम हो ही जाता है । उपन्यास

---

1. कृष्णा सोबती - समय सरगम, पृ. 66-67

अल्मा कबूतरी में राणा और अल्मा के संबंध की निकटता भी इसी प्रकार है - "स्त्री पुरुष जब मिलते हैं तो ऐसी ताकत पैदा हो जाती है ? राणा नई नई तरह से सोचता।"[1] यानी स्त्री और पुरुष के संबंध स्वतंत्र हैं । स्त्री और पुरुष के संबंध में स्त्री का अधिकार मुख्य है क्योंकि स्त्री का यह अधिकार उसे कभी नहीं दिया गया पर आज की स्त्री अपने संबंधों को लेकर काफी जागरूक है । उनके संबंधों को नए व्याकरण की ज़रूरत है । सुमिता लिखती है "स्त्री और पुरुष अपनी नयी ऐतिहासिक भूमिकाओं के साथ एक-दूसरे के सामने खडे हैं । उन्हें संबंधों का नया व्याकरण चाहिए।"[2]

अर्थात् स्त्री व पुरुष के संबंध सहज हों । दोनों की अपनी स्वतंत्र अस्मिता हो । स्त्री और पुरुष का संबंध एक-दूसरे के साथ चलने वाला हो। इसमें प्रतिस्पर्धा की भावना न हो । सचमुच स्त्री-पुरुष के संबंध को एक नए व्याकरण की ज़रूरत है ।

पारिवारिक अस्मिता

परिवार मानव जाति की मूलभूत ईकाई है । जब से मानव सभ्यता की शुरुआत मानी जाती है तब से परिवार का भी अस्तित्व है । परिवार में स्त्री एक छत्र स्वामिनी बनी और पुरुष का दायरा घर से बाहर का हो गया। परिवार का अस्तित्व सामाजिक हित के लिए अनिवार्य तत्व है । स्त्री को परिवार तक सीमित कर दिया गया, हालंकि वह परिवार की महत्वपूर्ण

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 184
2. राजकिशोर (सं) स्त्री केलिए जगह, पृ. 157

सदस्या है तो भी सामाजिक क्षेत्र का कोना उससे अछूता ही रह गया । सबसे बडी बिडम्बना यह है कि जहाँ पुरुष सामाजिक होने के लिए विवाह करता था वही विवाह के बाद स्त्री का सामाजिक जीवन समाप्त हो गया । सभी परिवार एकनिष्ठ होते थे, पर यह एकनिष्ठता केवल स्त्री के लिए थी, पुरुष पर इसका कोई बंधन नहीं था । उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में मंसाराम का अपना परिवार है । लेकिन मंसाराम अपने परिवार को भूलकर कदमबाई कबूतरी से अनचाहा संबंध रखता है जिससे परिवार की अस्मिता पर संकट आ जाता है - "माना कि शास्त्रों में लिखा है कि ऊँचे खानदान के पुरुष का कर्तव्य है कि अपनी धर्मपत्नी और गृहस्थ-सुख के लिए समर्पित रहे, पर जोधा की माँ तो अपनी गृहस्थी के लिए पति की लालसाओं की हत्या पर उत्तर आई।"[1] यानी परिवार को बनाए रखने की जिम्मेदारी स्त्री पर होती है लेकिन उपन्यास में जोधा की माँ माने मंसारम की पत्नी आनंदी ऐसा कुछ नहीं करती । वह पारिवारिक अस्मिता की परवाह किए बिना कदमबाई जैसी सौतन के खिलाफ अपनी आवाज़ उठाती है ।

आज पारिवारिक अस्मिता का ढांचा बदल चुका है । पहले स्त्री हमेशा परिवार के इर्द-गिर्द एक धुरी बनकर घूमती थी लेकिन अब वह अपनी स्वतंत्रता की पहचान कर रही है इसलिए पारिवारिक अस्मिता को बनाए रखने की जिम्मेदारी वह अकेले अपने ऊपर नहीं लेती, वह इसका हिस्सा पुरुष को भी मानती है । अर्थात् परिवार में संबंध औपचारिक हो जाते

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 93

हैं । डॉ. एलाङ्बम विजयलक्ष्मी संबंधों को परिवार की धूरी मानती है । परिवार में जब स्त्री पारिवारिक अस्मिता की परवाह नहीं करती है तो परिवार की नींव डगमगाने लगती है - "परिणामस्वरूप परिवार के सदस्यों में ही औपचारिक संबंधों का विकास हुआ तथा व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के समझ पारस्परिक कर्तव्य की भावना धुँधली होती जा रही है ।"[1] जैसे-जैसे स्त्री का सामाजिक क्षेत्र में दखल बढ रहा है, वह परिवार से दूर होती जा रही है । स्त्री समाज में अपनी स्वतंत्र अस्मिता तलाश कर रही है । वह परिवार तक सीमित नहीं रहना चाहती, सामाजिक गतिविधियों में भी उसकी भागीदारी संभव है । पुरुष भी आज इस बात को महसूस करने लगा है । स्त्री का अस्तित्व परिवार से जोडने के बजाय पुरुष समाज में, राजकाज में, संविधान में उसे बराबरी का दर्जा दिलाना चाहता है । उपन्यास 'चाक' में श्रीधर के शब्दों को देखें "जब घर-परिवार में औरत का दखल हो सकता है, तो राजकाज में क्यों नहीं ? तुम पढी-लिखी हो, खूब जानती हो, हमारे संविधान में औरत को बराबरी का दर्जा मिला है । तुम कब तक औरत के पत्नी होने की दुहाई देती रहोगी ?"[2] वही दूसरी ओर पारिवारिक अस्मिता की नींव मात्र स्त्री की जिम्मेदारी नहीं रही, इसका सीधा अर्थ यह निकलता है कि स्त्री सभी संबंधों को बनाने के लिए स्वतंत्र है । इस स्वतंत्रता ने संपूर्ण पारिवारिक अस्मिता को नष्ट कर दिया है । मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं- "हम मानते हैं कि स्त्री को चयन की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, पर हम यह भी जानते हैं कि वहीं

1. एलाङबम विजयलक्ष्मी - समकालीन हिन्दी उपन्यासः समय से साक्षात्कार, पृ. 56
2. मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ. 400

तो गृहस्थी (परिवार) की धुरी है । पुरुष शायद बगैर परिवार के काम चलाने को राजी भी हो जाए, पर स्त्री शायद ही कभी तैयार मिले।"[1] यानी स्त्री परिवार के ढांचे से जुडी है, चाहे वह स्वतंत्रता का सहारा ले या न ले । उपन्यास 'इदन्नमम्' में भी कुसुमा भाभी पारिवारिक अस्मिता को तोडती है। परिवार के अपने ही ससुर समान दाऊ जू से संबंध जोडती है । परिवार का अस्तित्व खतरे में डालती हैं । वह पारिवारिक बंधनों के यथार्थ पर सवाल भी करती है । पारिवारिक अस्मिता का बिखराव हो जाता है । स्त्री की अपनी स्वतंत्रता उसे परिवार से दूर कर देती है । परिवार को बचाना नहीं है उसकी स्वतंत्रता, बल्कि अपनी खुद की ज़रूरत को पूरा करना ही स्त्री की अस्मिता है । कुसुम संबंधों पर प्रश्न करती है "हमें एक बात समझाओ,आस्थाओं कि ये रिश्ते-नाते, संबंध और मरजाद किसने बनाई? किसने सिरजी है बंधनो की रीत ?"[2] यानी परिवार को बचाने का उसे सहेजने में मात्र स्त्री ही उत्तरदायी नहीं है । परिवार को बचाए रखने की खातिर हमेशा से स्त्री बलिदान की मूर्ति बनी है । जब आज स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सजग है तो वह परिवार के बजाय, मानवीय प्रेम को बरकरार करने में अपनी भूमिका तैयार कर रही है । स्त्री घरेलू गुलामी से आज़ाद होना चाहती है परिवार के बंधन में घुट कर जीना नहीं चाहती । कात्यायनी लिखती हैं "प्रश्न परिवार को बचाने का नहीं, एक उच्चतर नैतिक-सौन्दर्यात्मक-उदात्त धरातल

---

1. दया दीक्षित (सं) मैत्रेयी पुष्पाः तथ्य और सत्य, पृ. 116
2. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम्, पृ. 94

पर मानवीय प्रेम की प्राण-प्रतिष्ठा का है, एक ऐसी सामाजिक कोशिश के निर्माण का है जिसमें स्त्री पूर्व समानता, स्वालंबन और स्वतंत्र अस्मिता के आधार पर, घरेलू गुलामी के सभी रूपों से मुक्ति पाकर, सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में बराबर की भागीदारी करते हुए, जिसे चाहे प्यार कर सके और पा सके । हमें अब तक मौजूद परिवार के सभी किस्म के ढाँचो के नाश की कामना करनी चाहिए और समाज को इस दिशा में आगे ले जाने का सचेतन उद्यम करना चाहिए ।"[1]

यानी स्त्री परिवार के लिए क्रंदन न करें, पहले अपनी अस्मिता को बरकरार करें और इसी के साथ पारिवारिक अस्मिता को भी बनाए रखें ।

शोषक व्यवस्था का विरोध

शोषक व्यवस्था का राज पुरुष के हाथों में है । व्यवस्था की सारी बाग डोर पुरुष के आधीन है । इसलिए स्त्री का शोषण होना कोई नई बात सी नहीं लगती । पुरुष ने अपनी इस व्यवस्था में स्त्री को मात्र गुलामी ही प्रदान की है । पुरुष वर्चस्ववादी समाज ने स्त्री का शोषण कई रूपों में किया है । घर के अन्दर शोषण और बाहर के शोषण ने स्त्री की अस्मिता पर सवाल खडा कर दिया है । ऐसा मानने में भी कोई हर्ज नहीं है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्रियों के शोषण पर टिकी हुई है, समाज के सभी स्तरों पर यह शोषण एक सा भी नहीं है । समाज के निम्नतर वर्गों में यह

1. कात्यायनी - दुर्ग द्वार पर दस्तक, पृ. 48

शोषण उतना कटु नहीं है संभवतः स्त्री के उत्पादक होने के कारण । परन्तु मध्य तथा उच्च वर्ग जहाँ स्त्रियों उत्पादक की तरह नहीं बल्कि शोभाकारी वस्तु की भान्ति व्यवहृत होती है वहाँ यह शोषण और भी गहरा हो जाता है। शोषण का विरोध भी वास्तविकता है । अर्थात् अधिकतम शोषण और न्यूनतम विरोध की यह स्थिति अटपटी ज़रूर है परंतु है वास्तविक ।

स्त्री अपने शोषण की गहराई को माप चुकी है । अपनी अस्मिता को कायम रखने की जदोजहद में लगी स्त्री शोषण का विरोध करना चाहती है। सुधा अरोडा लिखती हैं "कई ऐसी औरतें भी होती हैं जो अपनी ज़िन्दगी के महत्वपूर्ण साल इस कोशिश में खपा देने के बाद भी अपने को असफल पाती है और देखती है कि उन्हे फिर भी घुसपैठिए का ही दर्जा दिया जाता है । इसके बाद शुरु होती है उसकी अपने अस्तित्व, अपनी पहचान अपनी आकांक्षाओं की लडाई, जिसे हर लडकी अपने अपने तरीके से लडती है और अपनी आज़ादी हासिल करती है ।"[1] यानी शोषण का विरोध तभी सफल हो सकता है जब स्त्री अपनी आजादी हासिल करने में सफल होगी। प्रभा खेतान सवाल पूछती हैं - "सवाल यह है कि हज़ारों साल से यह शोषण ज़ारी क्यों है? प्रत्येक जाति और संप्रदाय का पुरुष स्त्री का शोषण क्यों करता है ? स्त्री को दलित अवस्था में रखने से समाज के किन उद्देश्यों एवं स्वार्थों की पूर्ति होती है ? सही यही होगा कि हम स्त्रियाँ आन्दोलन के क्षेत्र

---

1. सुधा अरोडा - आम औरत, जिंदा सवाल, पृ. 98

को सीमित करें और मानव मात्र मुक्ति के बदले स्त्री मुक्ति का विशिष्ट क्षेत्र निर्धारित करें।"[1] अर्थात् स्त्री को शोषण से मुक्त करवाना यानी मानव राशि को मुक्त करना भी है । पुरुष सत्ता ने शोषण की कई रणनीतियाँ अपनाई है। हर उस क्षेत्र से स्त्री को शोषित किया है जिससे स्त्री जुडी है । स्त्री चाहे वह गरीब हो या अमीर, अपनी देश की हो या विदेशी, स्त्री की शोषण अवस्था एक जैसी है । उपन्यास 'कठगुलाब' की नायिका स्मिता भी इसी पुरुष सत्ता की शोषण की शिकार है । पुरुष सत्ता का प्रतिनिधि बनकर स्मिता की बहन नमिता का पति, स्मिता का बलात्कार करता है, किंतु इस शोषण के खिलाफ वह कभी आवाज़ नहीं उठा पाती । वह (नायिका) इसका विरोध करना चाहती है लेकिन बहन नमिता पुरुष सत्ता के सत्य का इस प्रकार बखान करती है "नहीं ! पुलिस के पास गयी तो बदनामी के सिवा कुछ हासिल नहीं होगा । अकेली जान, वे भी तेरा फायदा उठाने की कोशिश करेंगे । नहीं, वह रास्ता ठीक नहीं है ।"[2] यानी पुरुष सत्ता के शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाने में स्त्री हिचकती है क्योंकि पुरुषसत्ता शोषण के नाम पर उलटा शोषण ही करता है ।

पूँजीवादी संस्कृति का विरोध

पूँजीवादी संस्कृति, पुरुषवर्चस्ववाद की नई संस्कृति है । इसमें हर वस्तु भोग की है । स्त्री भी इसका ही एक रूप है । वह भी उपभोग की वस्तु

1. प्रभा खेतान, स्त्री अस्मिता : साहित्य और विचारधारा, पृ. 373
2. मृदुला गर्ग- कठगुलाब, पृ. 23

मात्र रह गई है । पूँजीवादी संस्कृति में स्त्री का श्रम, उसका शरीर, उसकी चेतना न केवल उपभोग के लिए बनाई जाती है, बल्कि उसे व्यापार के लिए एक पण्य की तरह पैदा किया जाता है । पूंजीवादी व्यवस्था का जनक कौन है ? इसका उत्तर सीधा व सरल है, पुरुष ने ही पूंजीवादी संस्कृति का निर्माण किया है । इस संस्कृति में, मनुष्य को वस्तु में तब्दील कर दिया गया है । इस व्यवस्था में स्त्री मात्र एक ब्रांड बन कर रह गई है । पहले स्त्री का शोषण उसके सामने होता था, अब ऐसा नहीं है । संजीव कुमार जैन पूंजीवाद को औरत के लिए अमूर्त गुलामी का रूप मानते हैं । पूंजीवादी व्यवस्था ने औरत को स्वतंत्रता तो दिलाई परंतु पूंजीवादी संस्कृति के नए रूपों में जकड लिया, स्वतंत्रता तो मात्र झूठा दिखावा था । लिखते हैं "पूंजीवादी ने औरत को घर की चारदीवारी एवं परंपरागत पितृसत्ता से मुक्त करने का दिखावा तो किया परन्तु उसने औरत को पितृसत्ता के नए रूपों में जकड लिया । पूँजीवाद ने घर से बाहर काम करके उसके अवैतनिक श्रम को सवैतनिक तो किया, परंतु अपनी समस्त और सुरक्षित श्रम की ज़रूरत पूरी करने के लिए न कि औरत को मुक्त करने के लिए ।"[1] भूमंडलीकरण ने स्त्री के रूप को बदल दिया है । वह एक ब्रांड बन गई है । भूमंडलीय पूँजीवादी स्त्री विमर्श की बात करें तो वह उन मुक्त घोषित औरतों-पढ़ी-लिखी, मार्डन, रेंप पर चलती हुई, विज्ञापनों में अपना नंगा जिस्म दिखाती स्त्री को

1. सजीव कुमार जैन, आलोचना जनवरी -मार्च, 2013, पृ. 106

ही स्त्री मानता है । आज स्त्री की परिभाषा बदल गई है । भूमंडलीयकरण की नई सोच का परिणाम 'समय सरगम' उपन्यास की नायिका आरण्या इस प्रकार व्यक्त करती है "यही कि रस निकाल लो और छिलके फेंक दो।"[1] यानी उपयोग करों और फेंक दो, यही आज की संस्कृति का परिणाम है । भूमंडलीकरण ने स्त्री का इस्तेमाल अपने फायदे के लिए किया, नर-नारी विषमता और नारी जीवन के अन्तर्विरोधों, शोषण की ओर कोई ध्यान जान-बूझकर नहीं दिया क्योंकि स्त्री की परंपरागत और परिवार के ढांचे में बंधी छवि के रूप में होने में ही उसका मुनाफा था। भूमंडलीकरण ने स्त्रियों की बाहरी और आंतरिक दुनिया को खासा प्रभावित किया । जाहिर है, आज घर के खान-पान, सजावट से लेकर स्त्रियों के वस्त्र, परिधान और साज-श्रृंगार तक में भूमंडलीकरण की तस्वीर देखी जा सकती है । एक और ऐसी स्त्रियाँ हैं जो पारंपरिक जीवन शैली बचाने के लिए अथक संघर्ष कर ही हैं दूसरी और ऐसी स्त्रियाँ है जो भूमंडलीकरण के आगोश में है । उपन्यास चाक में सारंग पारंपरिक संस्कृति को बचाने वाली स्त्री के रूप में हैं । "सारंग ने करवाचोथ काढी है, ज्यों कागज़ पर छपी तस्वीर हो-पूरे चंद्रमा का गोला।"[2] संपूर्णतः पूँजीवादी संस्कृति का स्त्री प्रतिरोध करती है । स्त्री को पूँजीवादी संस्कृति ने शोषण का शिकार तो बनाया है लेकिन यदि मुक्ति के संघर्षों की दिशा सही है तो परिणाम सकारात्मकता होंगे ।

1. कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृ. 67
2. मैत्रैयी पुष्पा - चाक, पृ. 186

सांस्कृतिक वर्चस्व का विरोध

सांस्कृतिक वर्चस्व में स्त्री का शोषण ही छिपा है । सांस्कृतिक और धार्मिक रूप में भी स्त्री बरसों से शोषित हो रही है । सांस्कृतिक वर्चस्व के पीछे भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था का ही हाथ है । सांस्कृतिक वर्चस्व में स्त्री मात्र एक उपनिवेश है । सांस्कृतिक वर्चस्ववाद स्त्री को अधीनस्थ बनाना चाहता है ताकि स्त्री कभी अपने अधिकारों के प्रति सजग न हो सके । भारतीय सांस्कृतिक वर्चस्व की बात करें तो भारतीय सांस्कृतिक वर्चस्व में स्त्री को स्वतंत्रता से वंचित ही रखा गया है । राकेश कुमार भारतीय सांस्कृतिक वर्चस्व पर लिखते हैं "भारतीय सांस्कृतिक वर्चस्व के मूल में छिपी हुई है नारी के जबर्दस्त शोषण की स्थिति, कही वह सुक्ष्म रूपों में है तो कहीं प्रचड रूपों में । आज भी इस आधुनिक, उत्तर आधुनिक के युग में सूक्ष्म रूपों में उस की प्रताडना ज़ारी है । स्थिति आज भी नारी की पूरी तरह से नहीं बदली है । वह आज भी एक उपनिवेश है । शोषित, पीडित और प्रताडित है । वर्चस्ववादी संस्कृति अपने प्रमुख डंडे के बल प्रयोग द्वारा, कानून नियमों सिद्धातों अनुशासनों द्वारा उत्पीडितों का शोषण करती है ।"[1] सांस्कृतिक व धार्मिक वर्चस्व में स्त्री मात्र शोषण का साधन है । पुराणों और वेदों में भी स्त्री की छवि को सराहा नहीं दिया गया, वह हमेशा नग्नय ही रही । पुराणों के हर स्त्री पात्र किसी न किसी रूप में पुरुष वर्चस्व के शोषण का शिकार है । धर्म के नाम पर कर्मकांडों, व्रर्तो, उपवासों के नाम पर स्त्री को

---

1. राकेश कुमार - नारीवादी विमर्श, पृ. 91

प्रताडित किया जाता रहा है । धार्मिक कट्टरवाद के ज़रिए स्त्री हमेशा अंधेरे में रही है । धार्मिक कट्टरता आज समाज की सबसे बडी चुनौती बन गई है । तस्लीमा नसरीन कहती है "धार्मिक कट्टरवाद से सबसे ज़्यादा नुक्सान औरत का है । पुरुष औरतों को धार्मिक कट्टरवाद के अंधेरे में रखता है तो रखें । कट्टरवाद की वजह से, औरतें अगर अपने अधिकारों से वंचित होती हैं, तो होती रहें, कट्टरवाद समाज में आतंक फैला रहा है तो फैलाये, कट्टरवाद औरतों के पॉवों में जंजीर पहनाता है तो पहनाये । औरतों को अंधेरे में कैद रखता है, रखे, लेकिन औरतें अपनी जुबान बंद रखें ।"[1] सांस्कृतिक वर्चस्व में स्त्री की स्थिति शोचनीय है । इस पर प्रभा खेतान सांस्कृतिक नारीवाद की बात करती हैं "सांस्कृतिक नारीवाद स्त्री समुदाय की चेतना के स्तर को बढाता है तथा उसके व्यक्तित्व को पुनःनिर्मित करता है ।"[2] सांस्कृतिक वर्चस्व का स्त्री प्रतिरोध करती है । वह सांस्कृतिक आयामों पर सवाल करती है और अपनी अस्मिता के लिए पुरुष व्यवस्था से संघर्ष करना नहीं भुलती ।

असमाजिक कुरीतियों का विरोध

स्त्री असमाजिक कार्यों का विरोध करने से नहीं हिचकती । वह सीना-तान कर समाज की भलाई में अपना योगदान देती है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद की नींव भी यही है । यानी समाज की बुराईयों को मिटाने की जिम्मेदारी स्त्री अपने ऊपर लेती है ।

1. तसलीमा नसरीन - औरत का कोई देश नहीं (अनु. सुशील गुप्त) पृ. 233
2. प्रभा खेतान - बाज़ार के बीच बाज़ार के खिलाफ, पृ. 171

शराब की रोकथाम का अभियान

स्त्री ने समाज में कई कुरीतियों के खिलाफ आवाज़ उठाई है । परिवार को बचाने की जिम्मेदारी स्त्री पर है । इसलिए पुरुष द्वारा शराब के सेवन को रोकने का अभियान भी वह चलाती है । शराब की वजह से कई घर बर्बाद हो चुके हैं । इससे आर्थिक विषमता भोगती स्त्री ने शराब को समाज से मिटाने की कोशिश की है । गाँव में ऐसे घर हैं जहाँ परिवार का एक सदस्य ही कमाने वाला है । लेकिन वह भी शराब की लत में पागल है। तो स्त्रियों की स्थिति दयनीय हो जाती है । स्त्री ने इस अवस्था को समझा और उसे समाज से दूर करने का प्रयास भी किया । शराब रोकने के प्रयास को विश्लेषित करते हुए कुसुम त्रिपाठी लिखती है कि शराब समाज के लिए जहर है । वह धीरे-धीरे पुरुष को आधीन बनाता है और वह पुरुष स्त्री का शोषण करता है । शराब की रोकथाम के अभियान में स्त्रियों ने कई हथकंडों को अपनाया है । "सबसे पहले तय किया जाता था कि जो लोग शराब बनाते हैं, उनको क्या सजा दी जाए ? तय होता था, उनसे कोई बातचीत नहीं करेगा, कोई उनके सुख-दुख में शामिल नही होगा ।"[1] यानी स्त्रियों ने शराब को समाज से दूर करने का जो फैसला लिया था, उनमें वे अडिग थी। शराब के ज़रिए समाज में कई गैरकानूनी काम भी होते हैं । शराब के साथ-साथ अफीम गाज़ा का भी व्यापार होता है । उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में इस व्यापार पर चर्चा भी की गई है "मंसाराम के ठेके पर गैरकानूनी धंधे होने

1. कुसुम त्रिपाठी - औरत इतिहास रचा है तुमने, पृ. 89

लगे हैं । शराब के संग अफीम-गांजा।"[2] यानी शराब का ही धंधा समाज में व्याप्त नहीं है बल्कि गांव के ठेकों में इन चीज़ों का व्यापार भी चलता है। स्त्रियाँ आज हर कुरीति पर अपनी आवाज़ उठा रही हैं । शराब ने स्त्री के शोषण को गहरा बना दिया है । पारिवारिक बंधनों में इसका उपयोग परिवार को बिखेर कर रख देता है ।

शराब को रोकने का अभियान गांवों में सबसे ज़्यादा चलाया जाता है क्योंकि वहां शराब के सेवन से या शराब के बिकने से सबसे ज़्यादा नुकसान स्त्री का होता है । शराब ने स्त्री की ज़िन्दगी को नरक समान बना दिया है । पुरुष स्त्री को पीटते हैं, उन्हे बेच देने से भी वह नहीं कतराते । क्योंकि शराब के लिए पुरुष अपने परिवार तक को न्योछावार करने के लिए तैयार हो जाता है । इसी शराब की वजह से पहाड के पुरुष बिना किसी आमदनी के मज़दूरी करने लगते हैं । इसका सीधा फायदा ज़मीन्दारों व ठेकेदारों को होता है क्योंकि वे जानते हैं कि चंद शराब की खातिर पुरुष अपने आप को भी बेच सकता है । स्त्रियों ने शराब के खिलाफ अपनी गुहार लगाई है । उपन्यास "दावानल में शराब की विभीषिका का वर्णन हुआ है 'पुस्कर ने पहली बार उसके ही मुंह से यह सुना था कि पहाड में गांव-गांव बिकती शराब और सुरा ने औरतों की ज़िन्दगी कितनी नारकीय बना दी है।"[2] यानी शराब और सुरा से स्त्री का शोषण होता है इसलिए स्त्री ने अपनी आवाज़ बुलंद की है । मृदुला सिन्हा स्त्री के प्रतिरोध को अपनी आवाज़ देती

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 220
2. नवीन जोशी - दावानल, पृ. 89

हैं । वे मानती हैं कि यदि स्त्री इस कुरीति का विरोध करेगी तो समाज से इसका उन्मूलन अवश्यक होगा । महिलाओं को विरोध करना ही होगा 'आवश्यकता है महिलाओं को जागृत करने की । स्वयंसेवी संगठनों को यह कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए । सरकारी ऐजेंसियों को भी इन संस्थाओं की मदद करनी चाहिए ।... महिलाएं विरोध करेगी तो घर-घर में नियंत्रण होगा।"[1] स्त्री द्वारा ही शराब को रोका जा सकता है । स्त्री यदि समाज से अपने शोषण को मुक्त करना या मिटाना चाहती है तो पहले शराब से मुक्ति के अभियान को चलाना चाहिए क्योंकि शराब स्त्री की ज़िन्दगी को बर्बाद कर रहा है ।

बलात्कार का विरोध

समाज में व्याप्त आज सबसे पहला व बडा प्रश्न बलात्कार का है । हर नुक्कड में, मोहल्ले में, देश के हर कोने में स्त्री पर यौन-अत्याचार खुले आम हो रहा है। बलात्कार की शिकार स्त्री या तो आत्मदाह कर लेती या फिर उसे समाज अपनाना नहीं चाहता । स्त्री से लेकर, नबालिक बच्चियों और बूढों पर भी आज यह कुकर्म हो रहा है । बलात्कार के अर्थ को स्पष्ट करती हुई रमणिका गुप्ता लिखती है "संभोग का अर्थ सह भोग यानी दोनों का मिलकर एक दूसरे को भोगना होता है जिसमें सहभागिता और सहमति आवश्यक मानी जाती है । बलात्कार में सहमति और सहभागिता की शर्त का उल्लंघन होता है, इसलिए उसका प्रतिकार होता है जो होना भी

1. मृदुला सिन्हा - मात्र देह नहीं है औरत, पृ. 238
2. जी.बी. सिंह (सं) - आधी दुनिया, पृ. 158 (रमणिका गुप्ता)

चाहिए।"[2] बलात्कार में स्त्री को शारीरिक रूप से प्रताडित किया जाता है । शरीर के साथ-साथ मानसिक बलात्कार भी स्त्री को समाज से दूर कर देता है । स्त्री को बलात्कार का विरोध करना चाहिए । समकालीन स्त्रीवाद बलात्कार की इस घिनौनता को खत्म करना चाहता है । स्त्री अपने अस्तित्व के आगे बलात्कार के खोखलेपन को नहीं मानती । यौन शुचिता और सतीत्व की घुटी पिला कर स्त्री को बलात्कार से डरा दिया जाता है । जब उसके शील का अपहरन होता है तो वह आत्मदाह कर लेती हैं क्योंकि वह समाज के लिए कलंक बन जाती है ।

उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में नायिका अल्मा पर हुए कुकर्म का ब्योरा यों दिया गया "सुरजभान तलाशी लेने के बहाने इस देह का रोम-रोम नाप चुका था । उसके साथी परसराम ने शरीर का नग-नग टटोला था । नंगापन पहली बार लगता है, बार-बार नहीं।"[1] बलात्कार स्त्री को अपनी अस्मिता से दूर से जाता है । आज बलात्कार का विरोध स्त्री करती है, इसका सीधा व सहज रास्ता यह है कि स्त्री को सुचिता व सतीत्व से दूर करना चाहिए । स्त्री तभी अपने अस्तित्व की पहचान कर पाएगी जब वह अपनी शुचिता से परे हट कर विचार करेगी । बलात्कार हो जाने से स्त्री समाज के लिए दोषी नहीं बन जाती । शुचिता की पारंपरिक सोच बदलनी चाहिए । तभी स्त्री इससे (बलात्कार) मुक्ति पा सकेगी । क्योंकि शुचिता एवं सतीत्व का ढोंग भी पुरुष सत्ता की ही देन है । उपन्यास इदन्नमम् में भी इस यौन शुचिता को

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 361

नकारने की बात है । मंदा नायिका का बलात्कार होता है तो कुसुमा भाभी उसे इस सत्य से इस प्रकार अवगत करवाती है "अपराधी तो वह है, जिसने यह अजस दल-बल से कुकरम...छुतैला और अपवितर भी वही हुआ - कुढिया कैलास मास्टर ! और उसकी जात हुई मैली, जो हम पर धोखे से करती है हमला !"[1] यानी धोखे से किए गए इस बलात्कार में स्त्री की कोई गलती नहीं है । वह समाज में अपना सर उठाकर चल सकती है । बलात्कार जैसे अपराध को दूर करने के लिए स्त्री को ही संघर्ष करना होगा । बलात्कार का विरोध स्त्री की अपनी अस्तित्व की लडाई का हिस्सा है ।

सामाजिक अस्तित्व व अस्मिता में स्त्री की सामाजिक शोषण की नीति सामने आती है । पुरुष की सोच में जब तक सकारात्मक परिणाम नहीं आएगा तब तक स्त्री शोषण से मुक्त नहीं हो पाएगी । स्त्री को शोषण से मुक्त करवाने के लिए पुरुष की मानसिकता को बदलना ज़रूरी है । स्त्री का अपने अधिकारों के प्रति सजग होना ही उसकी (स्त्री) अस्मिता है । जैसे "जब तक स्त्री स्वयं को अपने समाज को अपनी निजी विशिष्टताओं के संदर्भों को अधिक गहराई से अभिव्यक्त नहीं करेगी, तब तक पितृसत्ता की नकल में इस अंधी दौड और उससे पैदा होने वाली तमाम विकृतियों के प्रतिरोध में एक वास्तविक शक्ति का विकास नहीं कर पाएगीं।"[2] इस प्रकार स्त्री को सामाजिक अस्मिता बनाने के लिए पितृसत्ता की विकृतियों का प्रतिरोध करना ही होगा।

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम्, पृ. 108
2. राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा (सं.) औरतः उत्तरकथा - पृ. 151

3. आर्थिक अस्मिता और अधिकार

समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए अर्थ की अपनी महत्ता है । अर्थ व्यक्ति को समाज में प्रतिष्ठा प्रदान करता है । वही व्यक्ति सम्मान के काबिल होता है जिसके पास अपनी आर्थिक सत्ता होती है । लेकिन पुरुष वर्चस्ववादी इस समाज में पुरुष ही अर्थ का मालिक है । स्त्री जो आधी दुनिया है उसके पास अपनी कोई अर्थ की सत्ता नहीं । वह केवल द्रष्टा है । आर्थिक रूप से कमज़ोर स्त्री के लिए सबसे बडा अभिशाप बन गया है । आर्थिक सत्ता में आई कमज़ोरी के कारण स्त्री अपनी अस्मिता कभी नहीं बना सकी । आर्थिक पर निर्भरता के लिए सबसे बडा अभिशाप है । स्त्री के सामाजिक पतन का मूल कारण आर्थिक ही है । जो परिवार आर्थिक रूप से समृद्ध होते हैं वहाँ भी अधिकांशतः स्त्रियों का कार्य परिवार के सदस्यों की देख-रेख और पति को प्रसन्न करना होता है। अर्थात् आर्थिक रूप से समृद्ध हमेशा पुरुष ही होता है इसलिए समाज का प्रत्येक फैसला भी उसी की निगहरानी से संभव होता है । इसके चलते स्त्री की पहचान समाप्त हो जाती है । वह भाई, पिता और पति पर आर्थिक रूप से निर्भर हो जाती है । स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता ही उसे अपनी अस्मिता की पहचान करा सकती है । इसलिए मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं "आर्थिक स्वतंत्रता, हाँ इसी कमाकर खिलाने के मुद्दे पर ही तो उसे गुलाम बनाया गया और स्त्री रूप की बंधुआ को जीवनपर्यन्त मालिक से छुटकारा नहीं ।"[1] पूरी ज़िन्दगी स्त्री इसी आर्थिक स्वतंत्रता की मोहताज रह जाती है ।

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - चर्चा हमारा, पृ. 163

चूंकि स्त्री आर्थिक स्वतंत्र नहीं हैं फिर भी यदि स्त्री आर्थिक स्वतंत्र होगी तो उसमें निर्णय लेने की स्वतंत्रता अपने आप ही आ जाएगी । अपनी आर्जित संपत्ति को वह अपनी मर्जी से खर्च कर सकेगी । "पहले यह धारणा थी कि आर्थिक स्वतंत्रता या आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता स्त्री सामाजिक परिवर्तन में मुख्य भूमिका अदा करेगी । मगर देखा ये गया कि स्त्री की अर्जित संपत्ति या वेतन पर या तो माता-पिता का कब्जा होता है या पति या ससुराल का । अपने मन से वह जब भी खर्च करती है तो एक अपराध-बोध अपने मन में रहता है कि कहीं इसका जवाब देना है।"[1] स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता का सबसे बडा सच यही है कि अब तक उसकी अपनी कोई आर्थिक पहचान नहीं बन सकी । स्त्री की आर्थिक अस्मिता और स्वतंत्रता को विभिन्न आयामों में परखा जा सकता है ।

लिंग के आधार पर श्रम विभाजन

स्त्री का श्रम विभाजन लिंग के नाम पर होता है । स्त्री को हमेशा पुरुष से भिन्न श्रम को चुनना पडता है । समाज में काम का लैंगिक विभाजन, जिसमें स्त्री का क्षेत्र घर होता है और पुरुष का घर से बाहर, आज के समय में यह सोच खोखली पड गई है । क्योंकि आज स्त्री और पुरुष दोनों का कर्म क्षेत्र घर के बाहर का है । स्त्रियों को जब काम दिया जाता है तो वह उसके घरेलू कामों का विस्तार होता है जैसे शिक्षिका, नर्स आदि । उद्योग क्षेत्रों में भी स्त्री को पुरुषों से अलग और भिन्न काम दिया जाता है । स्टील, मशीनरी

1. शैलेन्द्र सागर, रजनी गुप्त - आज़ाद औरत - कितनी आज़ाद, पृ. 168

में जहाँ पुरुषों को काम दिया जाता है वहीं स्त्रियाँ सफाई, पेंकिग, सिलाई आदि कामों में लगा दी जाती हैं । इससे यह बात साफ होती है कि श्रम का विभाजन मानव निर्मित है, सर्वभौमिक या स्वाभाविक नहीं है । परिणामस्वरूप जो काम मात्र स्त्रियाँ कर सकती हैं उसे कम कुशल ठहराकर कम पारिश्रमिक निर्धारित कर दिया जाता है । श्रम का विभाजन स्त्री के लिए पुरुष से भिन्न है । उपन्यास 'रह गई दिशाएं इसी पार' में नायिका बेला जिस मछली कंपनी में काम पर जाती है, वहां भी लिंग के आधार पर श्रम का विभाजन है, वहाँ लडकियों, को मछली की पीलिंग, पैकिंग और प्रीजिंग के लिए रखा गया है। सुपरवाइज़र पुरुष है, उसके लिए कई सहुलियतें है लेकिन स्त्रियों के लिए कोई सुविधा प्रदान नहीं की गई । "सूपरवाइज़र पानी में छप-छप करता चल रहा है । उसके पैरों में वाटरफ्रूफ हैं, मोजे हैं, मगर पीलिंग पर बैठी लडकियों के पास तो कुछ भी नहीं । बर्फ सी ठंडी कठुआयी मछलियां, छीलो तो लगता है बर्फ छील रहे हैं । ठंडक काट रही है पांवो को, हाथों को, उंगलियों को । अकडे जा रहें हैं अंग-अंग। लेकिन रुकना संभव नहीं ।"[1] वास्तव में स्त्री के श्रम को जब विभाजित किया जाता है तो वह शोषण के ओर करीब आ जाती है । श्रम के नाम पर हो रहे शोषण की अधिकता भी समाज में व्याप्त है । स्त्री का श्रम अदृश्य ही रहता है क्योंकि इसका एक बहुत बडा कारण यह है कि स्त्री के श्रम की आय को पारिवारिक आय का स्रोत नहीं माना जाता । गौर से देखे तो श्रम का महिलाकरण कर दिया जाता है । यानी

1. संजीव - रह गई दिशाएं इसी पार, पृ. 174

श्रम को स्त्री के दायरे में रखा जाता है । कुछ ऐसे कामों को चुना जाता है जो मात्र स्त्री के दायरे में ही रख कर किए जाते हैं । इस प्रकार संपूर्ण समाज लिंग के आधार पर श्रम विभाजन का आदी है ।

वर्तमान में इस दिशा में कई परिवर्तन हुए हैं । तकनीकी प्रवेश और उद्योगों में स्त्री के श्रम को आंका जा रहा है । स्त्री जब अपनी अस्मिता पर सवाल करती है तो वह आज, पुरुषों के समान हर क्षेत्र में श्रम विभाजन की नीति को तोडते हुए आगे बढ रही है । इसमें भी शोषण का खतरा अधिक है लेकिन आज की स्त्री श्रम विभाजन की खोखली नीतियों से नहीं डरती । पर दीगर बात तो यह है पुरुष सत्तात्मक समाज स्त्री श्रम विभाजन की मानसिकता के साथ ही जीता है और अंत तक उसकी मानसिकता लिंग के आधार पर श्रम विभाजन तक ही टिकी रहेगी । इसमें कोई संदेह नहीं ।

स्त्री श्रम का मूल्य

स्त्री श्रम को समाज में हाशिए पर रखा जाता है । पितृसत्तात्मक इस व्यवस्था में पुरुष का श्रम ही श्रम कहलाने के योग्य है और वही श्रम की सही परिभाषा है । स्त्री के श्रम का कोई मोल नहीं है । रोजमर्रा की ज़िन्दगी में स्त्री के अनेक काम है, उस काम को अनदेखा किया जाता है । "यदि इस सारे संदर्भ पर नज़र डालें तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं लगती कि महिला का अधिकांश श्रम अदृश्य ही रहता है और सरकारी एजेंसियां उनके रोज़मर्रा के कामों को, काम में नहीं गिनती जबकि महिलाओं के अवैतनिक

और वैतनिक कार्य दोनों ही का देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान रहता है ।"[1] स्त्री के श्रम का कहीं लेखा जोखा भी नहीं दिखाई देता । स्त्री दिन-रात श्रम करती है मगर उसका मूल्य उसे नहीं मिलता ।

अधिकतर धंधों में यह स्थिति देखने को मिलती है कि पुरुष और स्त्री के काम पर अलग-अलग मूल्य निर्धारित होता है । पुरुष को श्रम का अधिक मूल्य दिया जाता है तो स्त्री को उससे भी कम । स्त्री श्रम का सस्तीकरण होता है । वह दोयम दर्जे की नागरिक है इसलिए उसके श्रम को सस्ता मान लिया जाता है । कात्यायनी लिखती हैं "सच्चाई यह है तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों के पितृसत्तात्मक समाजों में स्त्रियों के दोयम दर्जे की नागरिक होने के चलते उनका श्रम काफी सस्ता है । उन्हे ठेके पर रखकर या असंगठित मज़दूर की स्थिति में रखकर, आम संगठित मज़दूर के मुकाबले उनके अतिरिक्त श्रम का छः गुना-आठ गुना अधिक दोहन किया जा सकता है।"[2] यानी स्त्री यदि असंगठित मज़दूर है तो उसके श्रम का सस्तीकरण होना जायज मान लिया जाता है । उपन्यास 'इदन्नमम्' में नायिका मंदा कहती है "तुम लोग गूँगे-बहरे से लगे रहते हो काम में । क्यों नहीं माँगते अपनी पगार, अपना, हक, अधिकार ? ये नहीं देते तो क्यों करते हो काम?"[3] नायिका श्रम के फल का यानि पगार की माँग करती है । वह जानती है कि पगार हर व्यक्ति का अधिकार है । श्रम किया है तो उसकी पगार तो अवश्य ही मिलनी चाहिए ।

---

1. जिनी लोकनीता, नारीवादी राजनीतिः संघर्ष एवं मुद्दे, पृ. 224
2. कात्यायनी - दुर्ग द्वार पर दस्तक, पृ. 25
3. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम्, पृ. 269

पारिवारिक श्रम

परिवार के पुरुष से अलग स्त्री की अपनी कोई आर्थिक सत्ता नहीं मानी जाती । स्त्रियों को घर में रखने की यह एक सोची-समझी पद्धति मानी गई है । स्त्री के लिए परिवार के रख-रखाव और देखभाल का काम सौंफा गया । स्त्री का दायरा परिवार तक सीमित रखा गया, वह घर से बाहर अपने अर्थ की तलाश में नहीं गई क्योंकि पुरुष ने उसे घर दिया है । घर के अंदर विचरने की स्वतंत्रता उसे प्रदान की है । रेखा कस्तवार लिखती हैं "जीव वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों का अपना महत्व है जहाँ स्त्री की प्रजनन क्षमता एवं स्तनपान उसे बच्चों के पालन-पोषण और प्रकारान्तर से परिवार की देखभाल से जोडती है वहीं ऐतिहासिक विकास क्रम में पुरुष को प्राप्त वर्चस्व एवं अर्थ से स्त्री के सीधे संबंध के अभाव में स्त्री की स्थिति लगातार निम्नतर होती गई ।"[1] यानी स्त्री की स्थिति निम्न हो गई । समाज में स्त्री की यह स्थिति परिवार से शुरु हो जाती है, बचपन से ही उसे लडकी की तरह रहने का आदी बनाया जाता है । लेकिन लडका बाहर के कामों को अधिक करता है । दोनों में अलगाव की स्थिति बन जाती है । इसलिए समाज में पुरुष परिवार का मुख्य कार्यकर्ता बन जाता है । स्त्री की स्थिति दयनीय हो जाती है, वह पूरी ज़िन्दगी परिवार में ही गुज़ार देती है । सिमोन द बुआर लिखती है "औरत को औरत होना सिखाया जाता है । औरत बनी रहने के लिए उसे अनुकूल किया जाता है । तथ्यों के विश्लेषण से यह समझ में

1. रेखा कस्तबार, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, पृ. 49

आएगा कि प्रत्येक मादा मानव-जीव अनिवार्यतः एक औरत नहीं । यदि वह औरत होना चाहती है तो उसे और तपने की रहस्यमय वास्तविकता से परिचित होना पडेगा ।"[1] यानी स्त्री को स्त्री बनना पडता है । ताकि वह कभी अर्थ की मांग न कर सके ।

स्त्री का पारिवारिक श्रम इतना अधिक है कि पुरुष के मुकाबले इसकी गणना भी नहीं की जा सकती । पारिवारिक श्रम अवैतनिक माना जाता है । क्योंकि परिवार के काम को श्रम की संख्या नहीं दी जाती । पारिवारिक श्रम का पारिवारिक वेतन भी ज़रूरी है । वर्तमान में पारिवारिक वेतन की माँग भी उठ रही है । घर के सारे काम, दिन-रात करने के बावजूद भी स्त्री के श्रम का कोई मूल्य नहीं है । उपन्यास दावानल में "सब जगह उन्हें औरतों दिखाई दी-काम में जुटी हुई । एक गांव में तो उन्होंने अकेली स्त्री को खेत में दन्याला खींचते देखा । दो बैलों की जगह वह अकेली जुती हुई थी ।" मतलब स्त्री अकेली श्रम करती है लेकिन उसका कोई आर्थिक लाभ उसे नही होता । पारिवारिक वेतन स्त्रियों में आत्मविश्वास पैदा करेगा । वह अपने अस्तित्व व अस्मिता के प्रति सजग होगी ।

संपत्ति का अधिकार

स्त्री के अधिकारों में उसका संपत्ति का अधिकार प्रमुख मायने रखता है । समाज में स्त्री की हैसियत को सुधारने के लिए उसकी अर्थसता होना

1. सीमोन द बुआर, स्त्री उपेक्षिता (प्रभा खेतान) पृ. 21
2. नवीन जोशी - दावानल, पृ. 102

बहुत ज़रूरी है । उसमें संपत्ति के अधिकार में भी स्त्री स्वतंत्र होनी चाहिए। पितृसत्तात्मक समाज में संपत्ति का अधिकार भी पुरुष का ही है । कभी पिता के रूप में कभी पति के रूप में संपत्ति का अधिकारी स्त्री के सामने होता है। खुद की संपत्ति का अधिकार स्त्री के लिए कठिन कार्य है । स्त्री चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो उसका संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं । माँ, बेटी और पत्नी के रूप केवल पुरुष की सत्ता को बनाए रखने के काम आते हैं। स्त्री यदि अपनी संपत्ति की अधिकारी होगी तो समाज में भी उसका सम्मान होगा । क्षमा शर्मा संपत्ति के अधिकार पर लिखती है "हमारे नेताओं ने संपत्ति में स्त्रियों के कानूनी अधिकार की बात पर स्त्रियों का कितना भला किया, यह बात हम उन विधवाओं की दशा को देखकर जान सकते हैं, जिन्हें या तो सती कर दिया जाता था या जीवन-भर वे पूरे परिवार की गुलामी करने और उफ न करने के लिए मज़बूर होती थी।"[1] उपन्यास 'बेतवा बहती रहे में संपत्ति के बंटवारे की बात पर विधवा उर्वशी सोचती है कि वह संपत्ति की अधिकारिणी नहीं है । "वह क्या यहाँ ज़मीन के लिए पडी है ? बंटवारे की तो कभी सपने में भी नहीं सोची।"[2] स्त्री कभी भी अपनी संपत्ति की लालसा नहीं रखती क्योंकि बचपन से उस पर पुरुषसत्ता की संपत्ति की छाप होती है । अपने संपत्ति के अधिकार से वंचित होने के कारण समाज में उसकी कोई हैसियत नहीं है । चूंकि यदि वह संपत्ति की अधिकारी बन भी जाती है तो उस से वह शोषण का शिकार होती है क्योंकि पुरुष वर्ग नहीं

1. क्षमा शर्मा - स्त्री का समय, पृ. 14
2. मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रहे, पृ. 84

चाहता कि स्त्री कभी भी अपनी संपत्ति की अधिकारी हो । उपन्यास 'इदन्नमम्' में कुसुमा से उसकी संपत्ति छीनने में पुरुष वर्चस्ववादी समाज संघर्ष करता है । लेकिन कुसुमा जागीर की हकदार बनना चाहती है । संपत्ति के वितरण पर वह कहती है 'मन्दा, दादा की जंग का पूरा-पूरा हिस्सा लेंगे। अपने नाम लिख लिया समूचा का समूचा । ताजिन्दगी दादा ने बेबस, लाचार और दीन-हीनों के लिए लडाई लडी है । बिटिया, हम तो उसी जागीर के वारिस बनना चाहते है । बस उसी में अपना जीवन भरा-पूरा मानेगें ।"[1]

स्त्री अपनी संपत्ति के अधिकार का अर्थ जान चुकी है । वह यह समझ गई है कि संपत्ति का अधिकार ही उसे इस पुरुष वर्चस्ववादी समाज में उसकी अस्मिता को बनाने में मदद करेंगा । इसी उपन्यास में मंदा की माँ प्रेमा भी संपत्ति के अधिकार से बखूबी परिचित है । वह अपनी बेटी मंदा का हिस्सा उसकी जायदाद को बर्बाद नहीं करना चाहती । पुरुष वर्चस्ववादी समाज में, वह अपनी बेटी की संपत्ति को यूं गंवाना नहीं चाहती कहती है "चाहे पिरान कढ जाएँ, यह अमानत न देंगे किसी तरह । सोनपुरा की धरती हमारी-बिटिया की विरासत है, उसके पिता की जायदाद थी । मंदा का हक बनता है उस पर, छूने नहीं देंगे किसी को ।"[2] एक ओर स्त्री अपनी संपत्ति के अधिकार को जान गई है तो दूसरी ओर संपत्ति स्त्री के लिए शोषण का मार्ग भी बन जाता है । यदि स्त्री बूढी हो तो, उस पर, उसकी संपत्ति पर

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम्, पृ. 301
2. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम्, पृ. 312

अधिकार हथियाने का षड्यंत्र शुरु हो जाता है । उपन्यास 'समय सरगम' की कामिनी बूढी और रोगग्रस्त है । उसकी संपत्ति पर पुरुष सत्ता के प्रतिनिधि हमला बोलते हैं । "एक रात देखा तो मेरी डॉक्युमेंट फाइल में घर के पेपर नहीं थे । अगली रात यह बाहर ताला डालकर चली गई तो अलमारी खोली। सब खाने छान मारे । फाइल खोली तो असली की जगह फोटोस्टेट कॉपी रखी थी.... असली अब मेरे पास नहीं है ।"[1] यानी वसियतों का चोरी होना।

स्त्री अर्थ की संपत्ति की मालिक बन सकती है । संपत्ति का अधिकार स्त्री को स्वस्थ्य और सुन्दर जीवन प्रदान कर सकता है । संपत्ति का अधिकार उसे पुरुष वर्चस्ववादी समाज में एक निर्धारित स्थान दे सकता है, जिसकी वह हकदार है ।

अर्थसत्ता में स्त्री की भागीदारी सुनिश्चित होनी चाहिए । स्त्री की अर्थसत्ता में भागीदारी न होने के कारण उसे दोयम दर्जे का अधिकारी होना पडता है । सबसे बडी विडम्बना यह है कि यदि स्त्री के पास पैसा हो तो भी वह खर्च करने से घबराती है क्योंकि पुरुषवर्चस्व की आवाज़ उसे उसके अधिकारों से दूर ले जाती है । स्त्री के पास पैसा होता नहीं है, होता भी है तो स्थिति पुरुषवर्चस्ववादी समाज की होती है । स्त्री मुक्ति के संदर्भ में एक नई सोच यह उभरती है कि परिवार के आय में सहयोग के अलावा भी स्त्री को कमाना चाहिए और प्रत्येक स्त्री को भी पुरुष की ही भान्ति आत्मनिर्भर

1. कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृ. 98

होना चाहिए । अर्थ की शक्ति को पहचानना और अपने उपयोग के लिए पैसा खर्च करना इस सोच की नई पहचान है । पुरुष की तरह ही यदि वह अर्थ की मालिकन है तो अपना वैवाहिक जीवन चुन सकती है, अपने जीवन के हर क्षेत्र का चुनाव वह अपने ढंग से कर सकती है ।

अर्थसत्ता में प्रवेश करती स्त्री मात्र अर्थ को लेकर ही अपना जीवन नहीं जीती । स्त्री सामाजिक व्यवस्था को बनाने में भी मदद करती है । उपन्यास कठगुलाब की स्मिता और असीमा दोनों आर्थिक निर्भर होती है साथ ही आदिवासी क्षेत्रों को और जंगलों को विकास की राह पर लाने का काम भी करती है । अर्थसत्ता में प्रवेश करती स्त्री सीधे समाज से सरोकार बनाती है, परिवार के श्रम और घरेलू श्रम को छोड वह आगे बढती है । तब पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर सवालिया निशान खडा हो जाता है । परंपराएँ टूटती है, परिवार टूटते है ।

सबसे बडी बिडम्बना यह है कि स्त्री मुक्ति आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने पर भी संभव होती हुई नहीं दिखाई देती । कुछ हद तक स्त्री जब आर्थिक रूप से स्वतंत्र होती है तो पुरुष वर्चस्ववादी समाज के लिए एक चुनौती बन जाती है । उसकी मुक्ति की राह आसान हो जाती है । आर्थिक रूप से स्वतंत्र/सशक्त स्त्रियां भी शोषण और गैर बराबरी का शिकार होती है । संतोष इस बात का है कि अब वे आवाज़ उसने, प्रतिरोध और प्रतिकार

करने, हिंसक को उघाड़ने और दंड दिलाने के साहस से भी लैंस है । यानी अब वे हर प्रकार की हिंसा को, शोषण के विभिन्न माध्यमों को समझती हैं और प्रतिरोध भी करती है । यानी आर्थिक अस्मिता से ही स्त्री मुक्ति संभव है । अर्थ स्त्री को अपनी पहचान बनाने में सहायक है । पुरुषवर्चस्ववादी समाज में आर्थिक स्वतंत्रता ही स्त्री को अपने अधिकारों से सजग होना सिखाएगी ।

संक्षेप में, जब तक समाज छोटे तथा सहज थे और उत्पादन के तरीके इतने विकसित नहीं हुए ये कि शोषण पर आधारित असमान राजनीतिक व्यवस्था पनप सके । तब तक समाज और अर्थव्यवस्था में स्त्रियों का वर्चस्व था । उत्पादन के तरीकों के विकास के साथ-साथ दमन तथा शोषण के तरीके भी विकसित हुए । राजनीति व्यवस्था में शोषकों का वर्चस्व स्थापित होने लगा । शक्तिशाली वर्ग ने अपने हितों की रक्षा के लिए तथा कमज़ोरों के दबाए रखने के लिए नियम बनाए । इस नियम के चलते स्त्री हाशिए में धकेल दी गई । उसका अर्थव्यवस्था से अधिकार भी उठ गया । वास्तव में तभी से स्त्री का आर्थिक शोषण होने लगा । पुरुष वर्ग ने स्त्री को हर अधिकार से दूर कर दिया, जिसकी वह हकदार थी । स्त्रीवाद इसी सोच की मुक्ति है । मृदुला गर्ग लिखती है 'फेमिनिज़म का मतलब नारी मुक्ति नहीं, सोच की मुक्ति है । अगर स्त्री मौजूदा, राजनीतिक, आर्थिक नीति और इतिहास को उन मानदंडों के अनुसार परख सकती है, जो उसने खुद ईजाद

किए हैं, तो वह फेमिनिस्ट है।"[1] यानी स्त्री की मुक्ति समाज की मुक्ति बन सकती है ।

4. राजनैतिक अधिकार एवं अस्मिता

स्त्री का राजनीति में प्रवेश करना ही, अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष की सीढी है । स्त्री का राजनीति से सरोकार प्रथम विश्वयुद्ध के समय में ही हो गया था । गाँधी जी आंदोलन में महिलाओं के पूर्ण पक्षधर थे, वे मानते थे कि स्त्री को सभाओं में, भाषाओं में अपनी भागीदारी देनी होगी । स्त्रियां आज भी अपने राजनीति अधिकार के प्रति सजग हैं । वे मानती हैं कि पुरुष वर्चस्ववादी समाज में यदि खुद का अस्तित्व कायम रखना है तो राजनीति में अपना कदम रखना ही पडेगा । राजनीति सत्ता में स्त्री के आने से पारिवारिक ढांचा बदल जाएगा । परिवार से अलग स्त्री राजनीति में अपना योगदान देती है तो पुरुष वर्चस्व के बनाए सभी ढकौसले मिट जाएगें ।

आरक्षण का प्रश्न

राजनीति में स्त्रियों के लिए आरक्षण की माँग उठाई गई । लेकिन यह माँग पुरुष वर्चस्ववादी सत्ता के क्रूर एवं कठोर नियम से टकरा कर चूर हो गई। इसलिए संसद में स्त्रियों को आरक्षण सत्ता के स्थान पर नौकरी में देना प्रस्तावित किया गया । इसके (आरक्षण) शुरुआती दौर की बात करें तो 14

---

1. मृदुला गर्ग, औरत की कहानी (सं. सुधा अरोडा) पृ. फ्लैप

अगस्त 1998 को लोकसभा में स्त्रियों के लिए संसद और विधानसत्ता में तैंतीस प्रतिशत आरक्षण का बिल लाया गया । लेकिन इस आरक्षण का अर्थ अब भी साफ है कि तैंतीस प्रतिशत मुक्ति ही स्त्री की अपनी है । स्त्री आरक्षण यदि एक समाजिक ज़रूरत है तो सचमुच इसका समर्थन करना ही होगा । लेकिन वास्तविकता यह भी है कि सन सतावन का गदर हो या 1947 से पहले आज़ादी के संघर्ष का मोर्चा, उस समय स्त्रियों ने बिना किसी आरक्षण से ही अपने संघर्ष को नया रूप दिया था । "आज औरतों के प्रति जो हिंसा, अत्याचार, भ्रष्टाचार, शोषण बढ़ रहा है उसका सबसे बडा कारण है कि वे अपने को कई तरह से बंटते देखकर भी समझ नहीं पाती है कि यह सब कुछ उनके लाभ में नहीं, बल्कि उनके नुक्सान में जा रहा है । राजनेता उनको अपनी सियासत के लिए इस्तेमाल कर रहा है । महिला आरक्षण पर इतनी चर्चा होने के बावजूद अभी भी बहुत-सी महिलाओं, यहाँ तक कि कामकाजी महिलाओं तक, को इसके बारे में पता नहीं है ।"[1] आरक्षण की माँग स्त्रियों को उसके अधिकार दिलाने के लिए हैं लेकिन आज आरक्षण एक सियासी लटका बन गया है । आरक्षण ही स्त्री के अधिकारों के लिए सब कुछ है अर्थात् आरक्षण से ही समाज में स्त्री की शोचनीय अवस्था सुधर सकती है, ऐसा बिल्कुल नहीं है । "इस बात से कोई इन्कार नहीं करता कि आरक्षण मात्र ही महिलाओं की सारी समस्याओं का समाधान नहीं है । इसके अलावा, महिलाओं की समस्या भी इस समाज की अन्य समस्याओं से अलग

1. नासिरा शर्मा - औरत के लिए औरत, पृ. 101

नहीं है । समाज के वर्गीय विभाजन के अनुसार ही महिलाओं के अलग-अलग वर्गों की अपनी अलग-अलग समस्याएं भी हैं । इन सब का समाधान वर्तमान पूरी व्यवस्था को बदलकर ही संभव हो सकता है । लेकिन इससे भी कोई इन्कार नहीं कर सकता कि समान्य तौर पर वंचित और उत्पीडित महिला समाज में जितनी भी राजनीतिक जागृति पैदा होगी, उससे पूरे समाज के जनतांत्रिक रूपान्तरण की प्रक्रिया को ही बल मिलेगा।"[1] संक्षेप रूप में कहे तो स्त्री के लिए आरक्षण का अधिकार ज़रूरी है ।

राजनीति में महिलाओं को अधिकार मिलना चाहिए, यह भावना यूरोप में प्रांस की क्रान्ति के पश्चात् उदय हुआ । 1792 में मेरी वोलेस्टन क्रेफट ने (Vindication of right of women) 'स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन' नामक पुस्तक प्रकाशित की तथा 1867 में जॉन स्टुअर्ड मिल की पुस्तक (Subjection of Women) 'स्त्रियों की दासता' निकली । इन पुस्तकों में स्त्री के राजनीति अधिकारों की माँग की गई । स्त्री को निर्वाचित होने के अधिकार से भी परिचित करवाया । स्त्री राजनीति में, आरक्षण पा कर निर्वाचित हो सकती है । 'चाक्' उपन्यास में श्रीधर के शब्दों में "जब घर-परिवार में औरत का दखल हो सकता है, तो राजकाज में क्यों नहीं ? तुम पढ़ी-लिखी हो, खूब जानती हो, हमारे संविधान में औरत को बराबरी का दर्जा मिला है । तुम कब तक औरत के पत्नी होने की दुहाई देती रहोगी ?

---

1. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह - स्त्री अस्मिता, साहित्य और विचारधारा, पृ. 430

मैं निमित्त बनूँगा तुम्हारे खडे होने का । उसी तरह का निमित्त जैसे कुग्हार घड़ा बनाने का होता है । तुम्हे प्रधान बनना होगा ... हर हालात में ।"[1] अर्थात् स्त्री जो परिवार को सूझ-बूझ से चला सकती है वह राजनीति में भी अपना कदम रख सकती हैं क्योंकि परिवार समाज की ईकाई है, और इसमें स्त्री की भागीदारी अधिक है । उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में नायिका अल्मा विधान सभा की ओर से यह संभावना व्यक्त की जा रही है कि श्रीराम शास्त्री के निधन के कारण बबीना विधानसभा की जो सीट खाली हुई है, उसके लिए प्रत्याशी श्रीमती अल्मा शास्त्री होगी ।"[2] स्त्री को निर्वाचित होने का अधिकार है । वह भी राजनीति में अपनी सत्ता बना सकती है ।

मत देने का अधिकार

हमारे संविधान ने औरत को वोट डालने और अपना नेता चुनने का अधिकार दिया है । यह अधिकार स्त्री के संघर्ष का ही परिणाम है । यह अधिकार प्रत्येक नागरिक का पहला अधिकार माना जाता है । स्त्रियों के अधिकारों की माँग में, सबसे पहली माँग मत का अधिकार था । उसके अस्तित्व की पहचान उसके मत से ही आंकी जाएगी, इस मुद्दे पर स्त्री ने विचार-विमर्श किया । काफी संघर्ष के बाद मत का अधिकार उसके हिस्से आया । उषा महाजन लिखती है "आज भी पुरुष स्त्री को किसी क्षेत्र में आने नहीं देते । राजनीति में भी वे सत्ता की साझेदारी औरतों से नहीं करना

1. मैत्रेयी पुष्पा - चाक, पृ, 400
2. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूत्तरी, पृ. 390

चाहते। बाहर ये बातें ही बड़ी-बड़ी करते हैं लेकिन जब मौका आता है तो किसी भी राजनैतिक दल को ले लीजिए, कम्युनिस्ट पार्टी से लेकर क्रांग्रेस तक कोई भी सत्ता में महिलाओं की हिस्सेदारी नहीं चाहते । उन्हे बेबकूफ औरतें चाहिए खी-खी-खी खी हँसने वाली, नखरे करने वाली । जो समझदार औरते हैं, कुछ कर सकनेवाली उन्हें वे पसंद नहीं करते, क्योंकि इन औरतों के पास अपना 'इंडिपेंटड माइंड' है । किसी ने कह दिया इसलिए ही वे कुछ नहीं करती बल्कि अपनी सूझबूझ से ही वे कोई काम करती है।"[1] बहरहाल स्त्री राजनीति अधिकारों से लैस है तो पुरुष वर्चस्ववादी समाज उसका शोषण नहीं कर सकता, किन्तु इस अधिकार को सही मायने में, उपयोग में लाने की बात है । मात्र अधिकारों के मिल जाने से ही स्त्री मुक्ति संभव नहीं, स्त्रियों को एक जुट हो कर इसका सामना करना होगा । यदि स्त्रियाँ एकता के सूत्र में मोहल्ले-मोहल्ले, कस्बे-कस्बे, गाँव-गाँव, शहर-शहर में एकत्रित हो जाएं तो राजनेता स्त्रियों का शोषण नहीं कर सकते । आखिर देश की आबादी का आधा हिस्सा औरतों से मिल कर बनता है । मत देने का अधिकार नागरिकता का प्रथम चिन्ह समझा जाता है; अतएव महिलाओं ने कहा कि हम व्यक्तिगत रूप में राष्ट्र की सदस्या है, इस कारण हमें भी वोट देने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए ।"[2] इसी के साथ स्त्री अपना मत भी प्रकट कर सकती है । यानी राजनीति पर अपना मत बयान कर सकती है, लोगों को राजनीति षड्यंत्र से आगाह भी करती है । उपन्यास 'इदन्नमम्' में

---

1. उषा महाजन - बाधकों के बावजूद नई औरत, पृ. 137
2. जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (सं) - स्त्री अस्मिता, साहित्य और विचारधारा, पृ. 119

नायिका मंदा चुनावी मुद्दे को लेकर फ्रिकमंद है कहती है "चुनाव बहुत जल्दी ही हैं, सलाह-मश्वरा करना है । पहाडों के मज़दूरों के भी वोट है, उनसे बाते करनी है ।"[1] गोया स्त्री अपने मत का सही इस्तेमाल कर सकती है साथ ही लोगों को भी इस मत का अधिकारी बना सकती है।

स्त्री राजनीति से जुड़ कर समाज का कल्याण कर सकती है । यदि स्त्री को राजनीति अधिकार दिए जाए तो वह समाज की गतिविधियों को स्त्री के अनुकूल बना सकती है । स्त्री की संवेदना सहज है इसलिए वह पुरुष-स्त्री का भेद किए बिना, समाजिक हित में अपनी भागीदारी निभा सकती है। लेकिन पुरुष की मानसिकता में अन्तर नहीं आया है वह अब भी स्त्रियों को राजनीति से दूर रखना चाहता है, वह स्त्री को अधिकारों से वंचित रखना चाहता है क्योंकि पुरुष जानता है कि यदि स्त्री राजनीति सता में प्रवेश करती है तो पुरुष की राजनीति की सच्चाई से वह वाकिफ हो जाएगी ।

संक्षेप में कहे तो स्त्रीवाद स्त्री को उन सभी घेरों से तोडना चाहती है, जो पुरुष वर्चस्ववादी सत्ता ने अपने स्वार्थ के लिए बनाए हैं । आर्थिक, राजनीति और सामाजिक अधिकारों से ऊपर स्त्री को अपने वैयक्तिक अधिकारों के प्रति सजग होना चाहिए । व्यक्ति की स्वतंत्रता ही प्रमुख है, स्त्री जब वैयक्तिक अधिकारों से परिचित होगी तभी वह सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों में अपने अधिकारों से रुबरू हो सकेगी । आज भी स्त्री शोषण के कई रूप देखे जा सकते हैं लेकिन इस से स्त्री उर्जा प्राप्त करती

1. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम्, पृ. 401

है, शोषण से वह और भी निडर हो जाती है, वह संघर्ष पर संघर्ष जारी रखती है । समाज में अपने लिए एक स्पेस ढूंढना वह चाहती है, वह सफल भी हो रही है । सुधा अरोडा लिखती है "कई ऐसी औरतों भी होती है जो अपनी ज़िन्दगी के महत्वपूर्ण साल इस कोशिश में खपा देने के बाद भी अपने को असफल पाती है और देखती है कि उन्हें फिर भी घुसपैठिए का ही दर्जा दिया जाता है । इसके बाद शुरु होती है उसकी अपने अस्तित्व, अपनी पहचान, अपनी आकांक्षाओं की लडाई, जिसे हर लडकी अपने-अपने तरीके से लडती है और अपनी आज़ादी हासिल करती है ।"[1] पारिस्थितिक स्त्रीवाद में स्त्रीवाद एक प्रमुख तत्व है । क्योंकि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । क्योंकि रेडिकल नारीवाद का विस्तार समलैंगिक नारीवाद और पारिस्थितिक नारीवाद (Eco-Feminism) के क्षेत्रों में हुआ है । गोया पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में स्त्रीवाद के विभिन्न आयामों से रु-ब-रू हुआ जा सकता है ।

❖ ❖ ❖

1. सुधा अरोडा - आम औरत, जिंदा सवाल, पृ. 98

तीसरा अध्याय

समकालीन पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में पारिस्थितिक विमर्श

तीसरा अध्याय

समकालीन पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में पारिस्थितिक विमर्श

प्रकृति जहाँ एक ओर हमारे लिए वरदान है, वहीं दूसरी ओर वह हमारे लिए अभिशाप भी है । इसलिए यह आवश्यक है कि इसे सुरक्षित रखें। औद्योगिकीकरण की इस दौड ने मानव को इतना झंझोड दिया है कि वह अपने विकास के लिए प्रकृति के विनाश में लगा हुआ है । वह प्रकृति को अपना दास बनाने की कोशिश में निरन्तर कार्यरत है । परिणामतः मानव ने अति आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित नवीनतम तकनीकी, ज्ञान व प्रायोगिकी का विकास कर अपने हाथ में सबसे प्रभावी हथियार प्राप्त कर लिया है । जिसके बल से अब वह प्रकृति को भी अपना दास मानता है । इससे यह बात साफ हो जाती है कि मानव ने प्रकृति का दुरुपयोग करना शुरु कर दिया है । प्रकृति से जुडे उसके जीवों का शोषण भी बडे पैमाने पर हो रहा है । जैविक एवं अजैविक (Biotic & Abiotic) दोनों तत्वों पर इस शोषण का प्रभाव है । आज पूरा विश्व पारिस्थितिक संकट की अवस्था से गुज़र रहा है ।

पारिस्थितिक विज्ञान सामान्य रूप से उस विज्ञान को कहते हैं जो जीवित जीवों के जीवन की दशाओं और जीवों व पर्यावरण, जिसमें वे (जीव) रहते हैं, के मध्य अन्तर्संबन्धों का अध्ययन करता है । पारिस्थितिक विज्ञान का उद्देश्य उन सिद्धान्तों की खोज करना है जो पौधों अथवा प्राणियों

तथा उसके पर्यावरण के बीच संबंधों को निर्धारित करता है । वर्तमान समय में पारिस्थितिक विज्ञान को प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के संगम बिंदु पर विकसित एक विज्ञान की संज्ञा दी जाती है जिसमें पारिस्थितिकीय वैज्ञानिक चिंतन का अध्ययन किया जाता है । पारिस्थितिक विज्ञान की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह इकोलजी को एक विज्ञान के रूप में तो अध्ययन करता ही है, वह जीवन और पर्यावरण को भी प्रभावित करने वाली हर वस्तु का जिसमें मानव समाज एवं उसके कार्यों का अध्ययन भी करता है । इस प्रकार वर्तमान समय में पारिस्थितिक विज्ञान के अन्तर्गत मात्र पौधों तथा जीवों का ही अध्ययन नहीं किया जाता बल्कि उनके पर्यावरण के मध्य अन्तर्संबन्धों का भी अध्ययन करता है ।

पारिस्थितिकी मानव संस्कृति और प्रकृति के साथ जो अटूट संबंध है, इसे तलाशने का दर्शन है । मानव संस्कृति और प्रकृति परस्पर प्रभावित है। यह एक आलोचनात्मक पद्धति होने के कारण इसका एक पैर साहित्य में और दूसरा भूमि में है । आधुनिक साहित्य में संसार मनुष्य के सामाजिक संसार में सिमट रहा है । लेकिन पारिस्थितिकी में संसार, व्यापक बनकर मनुष्य की पूरी आवास व्यवस्था को धारण करता है ।

पारिस्थितिक विमर्श एवं पारिस्थितिक स्त्रीवाद

पारिस्थितिकी से अभिप्राय प्रकृति के ऊपर हो रहे शोषण के खिलाफ

अपनी आवाज़ बुलंद करना है । इस विमर्श की पृष्ठभूमि समकालीन प्रवृत्तियों के अन्तर्गत देखी जा सकती है । प्रकृति के दोहन के खिलाफ यह सोच है । प्रकृति मानव के लिए बनी है, लेकिन इसका यह अर्थ कतई नहीं समझा जाना चाहिए कि संपूर्ण प्रकृति पर मात्र मानव का ही अधिकार है । समस्त चराचर में विद्यमान जैविक-अजैविक तत्वों के मेल से ही प्रकृति का रूप साकार होता है । अर्थात् प्रत्येक जीवन का प्रकृति पर अधिकार है । वेदों में ही प्रकृति की रक्षा करने की बात पर बल दिया गया है । संपूर्ण चराचर के कल्याण की बात को भी सर्वोपरि रखा है । "वेदों में रक्षायै प्रकृति पातुलोक' की चर्चा की गई है । जिसका अर्थ है लोक की रक्षा के लिए प्रकृति की रक्षा ज़रूरी है । इसलिए वेदों में धरती, आकाश, नदी, पहाड, वनस्पति, नक्षत्र, पशु-पक्षी तथा मानव, देव सबके कल्याण की कामना की गई है।"[1] पारिस्थितिकी विमर्श के अन्तर्गत पर्यावरण संकट की चर्चा की जाती है । पर्यावरण संकट का प्रमुख कारण मानव का विकास की ओर रुख करना है । विकास ने मानव को प्रकृति से दूर कर दिया है । मानव और प्रकृति के बीच तनाव की अवस्था पैदा हो चुकी है । मानव के इन क्रियाकलापों से जैव जगत के लिए भी संकट बढ गया है । "मानवीय अनुक्रियाओं, विशेषकर संसाधन दोहन, अनुपयुक्त तकनीक का प्रयोग ऊर्जा का अविवेकपूर्ण उपयोग, विलासितापूर्ण जीवनशैली, अनुपयुक्त अधिवास विस्तार, जैव विविधता का नाश और राजनैतिक दुराव आदि का बढता

1. सरोजकुमार वर्मा - पर्यावरण संकट के आयाम : अंतिम जन वर्ष 2, जून 2013

दबाव प्रकृति के अंगों को पंगु बना रहा है । जिससे मानव सहित जैव-जगत् के लिए संकट बढ़ता जा रहा है । प्रकृति के तत्वों की अनदेखी इस युग की सबसे बडी त्रासदी है ।"[1] यानी पर्यावरण का संकट मानव राशी के विनाश का संकट है । पारिस्थितिकी विमर्श का संकट मानव राशी के विनाश का संकट है । पारिस्थितिकी विमर्श के तहत पर्यावरण बोध की आवश्यकता है ताकि मानव परिस्थिति को बचाने के लिए सही कदम, सही वक्त पर उठाये। पर्यावरण बोध की कमी के कारण उसने (मानव) जल, हवा, मिट्टी और बनस्पति को प्रदूषित कर दिया है जो जीवन के आधार हैं । पर्यावरण बोध के अर्थ को स्पष्ट करें तो ज्ञात होगा कि पर्यावरण बोध का तात्पर्य मानव के उस ज्ञान और आचरण से है जो प्रकृति से सामंजस्य स्थापित कर प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता है । पारिस्थितिकीय विघटन के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण संबंधी शिक्षा एवं प्रशिक्षण व्यवहारिक पक्ष है। पारिस्थितिक विमर्श में मानव और प्रकृति के बीच की साझेदारी को सुदृढ बनाने की जदोजहद है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद, पारिस्थितिक विमर्श की अगली कडी के रूप में है । जहाँ पारिस्थितिक विमर्श मानव और प्रकृति के बीच संबंध को सुदृढ बनाती है वहीं पारिस्थितिक स्त्रीवाद में स्त्री मानव और प्रकृति के बीच संबंध को कायम रखने की जदोजहद करती है । क्योंकि स्त्री मानव का सृजनकर्ता है और प्रकृति के लिए वह समानधर्मी है । मानव और प्रकृति के बीच की

---

1. दीप्ती शर्मा, डॉ. महेन्द्र कुमार - पर्यावरण शिक्षण एवं जनचेतना, पृ. 25

सेतु स्त्री है । प्रकृति को मानव राशी के लिए बचाए रखने की जिम्मेदारी स्त्री अपने ऊपर ले रही है । पर्यावरण से जुडे हर तत्व को वह अपने से जोडती है । प्रकृति और स्त्री की संवेदना एक है इसलिए यदि एक पर संकट आएगा तो दूसरे का अस्तित्व भी मिट्टी में मिल जाएगा । 19 वीं सदी में प्रमुख पर्यावरणवादी 'एलन स्वार्ले' नामक स्त्री ने घर एवं पर्यावरण के संबंधों पर सबसे पहले विचार किया । उनका यह मानना था कि स्त्री और प्रकृति के विमोचन से जैव व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था और मानव जीवन में संतुलन स्थापित हो सकता है । एक अन्य आलोचक प्रान्स्वा द यूबोण का विचार है कि इको फेमिनिज़्म का लक्ष्य स्त्री-पुरुष भेद के बिना मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने, समझने और मानने वाले एक संसार के सृजन में है । विश्व विख्यात लेखिका सीमोन द बोउवार भी स्त्री और प्रकृति के संबंध को बखूबी समझती है "औरत की तुलना धरती से की गई । वह धरती की तरह उर्वरा थी, जीवनधात्री भी ।"[1] यानी प्रारंभिक कृषि-युग में स्त्री ही प्रमुख रूप से केन्द्र में थी । संपूर्णतः कहा जाए तो स्त्री और प्रकृति एक दूसरे से जुडे हैं । दोनों ही सृजन क्षमता के अधिकारी हैं इसलिए मानव राशी को बचाने का अधिकार भी इन्ही पर आधारित है । स्त्रियों से ही इस प्रकृति की सुन्दरता बचाई जा सकती है । जहाँ पुरुष ने विकास के नाम पर प्रकृति का दोहन किया वहीं स्त्री ने उसी प्रकृति के पोषण के लिए अपना संघर्ष तैयार किया। डॉ. गंगा प्रसाद विमल इस संदर्भ में लिखते है "मनुष्य को आज यह बोध

1. सीमोन द बुआवार The Second Sex (अनु. स्त्रीः उपेक्षिता - प्रभा खेतान) पृ. 53

होना चाहिए कि जो कुछ तुम्हारे पास सुंदर है उसे स्त्रियों ने बनाया है । पुरुष तो बिगाडने का काम करते हैं ।"[1] अर्थात् संसार की प्रत्येक सुन्दरता स्त्री की ही देन है । पर्यावरण में सुन्दरता और खूबसूरती पहले से ही विद्यमान थी । लेकिन पुरुष की, इस विकास की अंधी दौड में पर्यावरण की सुन्दरता नष्ट हो गई। पर्यावरण के जैविक अजैविक तत्वों का संतुलन बिगड़ गया ।

आज पर्यावरण संरक्षण की चर्चा है । अर्थात् पारिस्थितिक सजगता पर विचार विमर्श किया जा रहा है । डॉ. ऋच्चा शर्मा लिखती है "आज हम पर्यावरण संरक्षण या सुरक्षा की बात तब कर रहे हैं जब पर्यावरण संकट पैदा हो गया है । परन्तु साहित्य में पर्यावरण सुरक्षा की बातें तब से मिलती हैं जब पर्यावरण में सुन्दरता और स्वास्थ्य दोनों था, न कार्बनडाइअक्साइड की मात्रा अधिक थी, न ऊर्जा और न पानी का संकट था।"[2] इसका मतलब पर्यावरण संकट का मसला हल करना है तो पर्यावरण सुरक्षा और संरक्षण पर बल देना होगा ।

कुल मिलाकर कहा जाए तो पारिस्थितिक विमर्श पर्यावरण को संकट से मुक्त करवाने का आहवाहन् करता है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद पारिस्थितिक विमर्श का नया रूप सामने लाता है । जिसमें स्त्री केन्द्र में है । स्त्री पर्यावरण की रक्षा का दायित्व संभालती है क्योंकि पुरुष से अधिक वह प्रकृति के सबसे करीब है । इसलिए वह (स्त्री) अपने और प्रकृति के अस्तित्व को

1. गंगा प्रसाद विमल - हिन्दुस्थानी जबन - जुलाई-दिसंबर, 2013

बनाए रखने की हर सफल कोशिश में लगी है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद पुरुष सत्तात्मक पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ अपना मुहिम तैयार करता है । पुरुष सत्तात्मक पूँजीवादी व्यवस्था में जो भी शोषण का शिकार है उसे बचाना ही पारिस्थितिक स्त्रीवाद का लक्ष्य है । स्त्री के माध्यम से स्त्री, प्रकृति तथा अन्य शोषितों का बचाव पारिस्थितिक स्त्रीवाद (Eco Feminism) का मूल मंत्र है । जहाँ संपूर्ण दुनिया को बचाने का दायित्व स्त्री अपने ऊपर लेती है तो पुरुष को भी इस व्यवस्था के चुंगल से बचाने का दायित्व भी स्त्री का ही है ।

जैविक संकट

पारिस्थितिकी व्यवस्था में जैविकीय मंडल का अपना महत्व है । जैविकीय मंडल का अर्थ उस परिवेश से लगाया जाता है जिसमें जैविकीय तत्व (Living organism) पौधे, व जीव पाये जाते हैं । दोनों का अपना अलग-अलग क्षेत्र है । अध्ययन की दृष्टि से पौधों का अध्ययन वनस्पति विज्ञान (Botany) में तथा जीवों का अध्ययन जीव विज्ञान (Zoology) के अन्तर्गत किया जाता है । पारिस्थितिकी का सीधा संबंध जैव-अजैविक तत्वों के साथ है । 'The study of inter-relationship between organism and their environent and each other is called the Biology of Eco-System."[1] धरातल पर किसी भी भू-दृश्य जो जैविकीय तथा

1. Encyclopaedia Britanica, Vol. 2

अजैविकीय अवयवों से निर्मित है, पारिस्थितिकी कहलाता है । यानी Any Segment of the land scape that included the biotic and abi-otic components is called Eco-system.' इसी संदर्भ में पारिस्थितीकी स्त्रीवाद, जैविक संकट की अवस्था को पहचान रहा है । इसलिए वह जीवों और पौधों को सुरक्षित रखने की कोशिश में है । इसका एक बहुत बडा कारण यह भी है कि जैविक तत्वों के नष्ट हो जाने से पर्यावरण के असंतुलन की संभावना है । सही अर्थों में कहे तो जैविक तत्वों के बिना पारिस्थितिकी का अस्तित्व कहीं नहीं रह जाएगा ।

जीव जन्तु का शोषण

जैविक जगत (Organic) का प्रमुख रूप जीव-जन्तु जगत है । इस जगत का अपना एक अस्तित्व है । यह पारिस्थिति का एक मुख्य अंग है । लेकिन औद्योगिकीकरण और विकास ने इस जगत को तहस-नहस कर दिया है । पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में जीव-जन्तुओं का अस्तित्व खतरे में है । यथार्थता तो यह है कि मानव के लिए जीवों का बहुत महत्व है । किंतु आज की इस व्यवस्था में जीव-जन्तु विकास का साधन मात्र बन कर रह गया है। विकास की अंधी दौड में मानव इनके अस्तित्व को भूल चुका है । पर्यावरण-व्यवस्था में जीव-जन्तु व वनस्पति एक पहलू है और दूसरा प्राकृतिक वातावरण का । इस प्रकार एक-दूसरे को सहारा देते हुए यह व्यवस्था कायम रहती है । इस प्रणाली का यदि एक लिंक (Link) टूट जाता

है तो संपूर्ण चैन ही बिखर जाती है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद (Eco-Feminism) इस प्रणाली की प्रक्रिया को भली-भान्ति समझता है और उस पर कार्यवाही भी करता है । इसकी एक ठोस वजह यह है कि पारिस्थितिक स्त्रीवाद मात्र प्रकृति को शोषण से मुक्त करवाने का कार्यभार ही नहीं संभालता बल्कि वह (Eco-Feminism) संपूर्ण जैव व्यवस्था की नींव भी बनाए रखता है । समकालीन उपन्यास में इसके कई उदाहरण देखें जा सकते हैं । जीवों से स्नेह व उनकी रक्षा पारिस्थितिक संकट को टालती है। उपन्यास 'अनबीता व्यतीत' में इस सत्य को भली-भान्ति दिखाया गया है । उपन्यास में पक्षियों के प्रति स्नेह व सुरक्षा का भाव दिखाई देता है । प्रतीकों के माध्यम से इस सत्य को दिखाने की कोशिश की गई है कि यदि पृथ्वी पर जीव-जन्तुओं का नाश होगा तो मनुष्य का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा। उपन्यास की पात्र नानी इस सत्य को पेश करती है "आपने हमारी बात पर विश्वास नहीं किया महाराज और हमारी काकातुओं के जोडे को मार डाला। हमने आपसे बताया था कि हमारे प्राण काकातुओं के जोड़े में बसते हैं । जिस दिन वे दोनों मर जाएगें, हमारे प्राण-पखेरू भर उड जाएगें ।"[1] यानि मानव राशी की स्थिति भी ऐसी ही है । जैसे-जैसे जीव-जन्तुओं का और मानव का संबंध समाप्त हो जाएगा वैसे ही भूमि का संतुलन भी नष्ट हो जाएगा । इसी उपन्यास में एक ओर संदर्भ ऐसा है कि पक्षियों का व्यापार बडे जोर-शोर से होता है । लेकिन उपन्यास की नायिका इसका विरोध

1. कमलेश्वर - अनबीता व्यतीत, पृ. 30

करती है वह पक्षियों को कुदरत की संतान मानती है । वह पक्षियों को नुकसान पहुँचाने के खिलाफ खडी होती है । "परिन्दों को एक्सपोर्ट करना था ?.... इन मासूम परिन्दों को ! जिन्होंने आपका कभी कोई नुक्सान नहीं किया ? जिन पर किसी का कोई अधिकार नहीं । और फिर इन परिन्दों ने आपका क्या बिगाडा था !...ये कुदरत की संतान है... ये मासूम परिन्दे आपकी मिल्यिकत नहीं है....।"[1] जीवन जन्तुओं की सुरक्षा पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रख सकती है । इसलिए यह ज़रूरी है कि हम पशु पक्षियों और जीव जन्तुओं के शोषण के खिलाफ अपनी आवाज़ उठाए । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में शोषण के खिलाफ आवाज़ बुलंद होती है । क्योंकि स्त्री इस शोषण की हरकत से अवगत हो चुकी है, वह जानती है कि पृथ्वी शोषण की अवस्था से गुज़र रही है । सो चारों ओर प्रकृति को बचाने की गुहार है ।

डॉ. बी. एल शर्मा इस बात की पुष्टि करते हैं कि प्रकृति के नियमों का यदि उल्लंघन हुआ तो संपूर्ण पर्यावरण नष्ट हो जाएगा । इस बात का स्पष्टीकरण यों देते हैं "एक पौधे व जानवर की जाति का मूल्य ताजमहल से भी कई गुणा अधिक होता है । यदि यह जाति (Species) जडमूल से नष्ट हो या विलुप्त (Extinct) हो जाय तो फिर उसे बचा पाना या पुनःप्राप्त करना मुश्किल ही नहीं असंभव भी होता है । इसलिए प्रकृति के नियमों में पशु-पक्षी व जीव-जन्तु या वन्य प्राणी (Forest animels and plants)

---

1. कमलेश्वर - अनबीता व्यतीत, पृ. 63

को नष्ट करके, उल्लंघन करना पर्यावरण को नष्ट करना है या दूसरे अर्थों में मानवीय जन-जीवन को खतरे में डालना है ।"[1] उपन्यास 'रह गई दिशाएं इसी पार' में भी जीव-जन्तुओं के शोषण को दर्शाया गया है । विकास ने मानव को इतना बडा बना दिया है कि वह अपनी बडी सोच के चलते ऐसे अमानवीय काम कर रहा है जिससे प्रकृति की हर नस्ल शर्मसार हो रही है। जैसे "इग्लैंड में गायो को गायों की ही हड्डियां पीस कर खिला देते हैं, जिससे गायें और भी तगडी हो जाती है, और भी ज़्यादा दूध देने लगती हैं।"[2] यानी मानव अपने स्वार्थ के लिए किसी भी नियम व कानून को तोडने के लिए तैयार है चाहे इस प्रकृति में उस जीव का शोषण हो या न हो इससे उस मानव को कोई फर्क नहीं पडता । अर्थात् जीव-जन्तु, पशु-पक्षी का महत्व पर्यावरण के लिए ज़रूरी है ।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि विभिन्न वातावरण में पशु-व जीव-जन्तु अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । मानव ने प्राकृतिक वातावरण व पशु-पक्षी के बीच संबंधों को बहुत कुछ अस्थिर व छिन्न-भिन्न किया है । इसलिए जहाँ मानव पशु-पक्षी व जीव-जन्तुओं के बीच मधुर संबंध बने हुए हैं वहाँ समस्याएं नहीं हैं । समस्या वहाँ होती है जहाँ इन संबंधों में अंतर पैदा होता है । इसलिए पर्यावरण का प्रभाव मानव ही नहीं जीव-जन्तुओं और पशु-पक्षियों पर भी उतना ही पडता है जितना अन्य प्राणी जगत पर ।

---

1. डॉ. बी.एल शर्मा - मानव एवं पर्यावरण, पृ. 24-25
2. संजीव - रह गई दिशाएं इसी पार, पृ, 57

वनस्पति जगत की मृत्यु

पर्यावरण (Environment) तथा वनस्पति का गहरा संबंध है । वनस्पति प्रकृति का एक अभिन्न अंग है । वनस्पति में पौधे अपनी विशेष भूमिका निभाते हैं । क्योंकि विभिन्न जाति (Species) के पौधे मिलकर ही वनस्पति आवरण को बनाते हैं । पर्यावरण का प्रमुख घटक वनस्पतियाँ ही है । वनस्पति के विघटन व वियोजन से मिट्टी में जैव पदार्थों की प्राप्ति होती है जिससे मिट्टी में उर्वरता की वृद्धि होती है । यह मानव जीवन को कायम रखने में मददगार साबित होती है । वनस्पति का सबसे प्रमुख गुण यह है कि इसके माध्यम से मनुष्य अपने शरीर के विकास व क्रियाशीलता बनाये रखने हेतु प्रोटीन, कार्बोहाइट्रेट, विविध सत्ता इत्यादि प्राप्त करता है। साथ ही यह कार्बनडाइआक्सइड आत्मसात करती है तथा ऑक्सीजन का जनन कर संपूर्ण जीवों को जीवनदान देती है । संक्षेप में देखे तो वनस्पति संपूर्ण मानव राशी को जीवन का नित-नया पाठ अर्पित करती है । रमाकांत पांडे लिखते हैं "पारिस्थितिक तंत्र में क्रियाशीलता बनाये रखने में पौधे प्रमुख होते हैं । अगर वनस्पतियों में बदलाव कर दिया जाय तो जैव-भू-रसायन चक्र की क्रियाशीलता भंग हो जाएगी जिससे पारिस्थितिक तंत्र में असंतुलन आ जाने से अनेकों समस्याएं पैदा हो जाएगी तथा मानव का अस्तित्व भी संकट में पड जाएगा । अतः स्थलीय पारिस्थितिक तंत्र का विभाजन वनस्पतियों के प्रकारों के आधार पर किया जाता है ।"[1] यानी वनस्पति

1. रमाकांत पांडे - जैवमंडल, पृ. 114

पारिस्थितिक तंत्र के लिए अहम् है । इसके बिना पारिस्थितिक व्यवस्था का संतुलन बिखर जाएगा । विकास की संस्कृति ने वनस्पति के अस्तित्व को नकारा है । मानव यह भूल रहा है कि उसका अस्तित्व वनस्पति पर टिका है । विकास की इस अंधी दौड में वह दिन-ब-दिन वनस्पति को नष्ट करने में तुला हुआ है । विकास की, स्वार्थ की यह दौड यदि ऐसी ही चलती रही तो एक दिन ऐसा आएगा कि सारी वनस्पति नष्ट हो जाएगी, घास का एक तिनका भी नहीं बचेगा जो वर्षा को धरती पर बुला सके । बिना बारिश के धरती सूख कर बंजर बन जाएगी । संपूर्ण मानव जगत को सूखे व अकाल का सामना करना पडेगा । उपन्यास 'कुइयांजान' में इस भीष्णता को व्यापक रूप में दिखाने की कोशिश हुई है "वनस्पति न उग सकने के कारण बारिश नहीं होगी और जब बारिश नहीं होगी तो पेड नहीं उगेंगे । घास भी न होगी जिसं हम चूस सके, न ओस टपकेगी जिसे हम चाट सके । हम सिर्फ गोली खाएगें । तरक्की करेंगे । बेहतरीन मशीनें बनाऐंगे - एक बटन से जमाने को बदल डालने वाली मशीनें ।"[1] अर्थात् वनस्पति के बिना मानव जीवन का कोई अस्तित्व नहीं। स्त्रियों ने पौधों के लिए, पेडों के लिए गुहार लगाई है। 'चिपको आन्दोलन' इसी का परिणाम है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में स्त्री पेड पौधों की रक्षा करती है साथ ही साथ उन्हें उगाने का काम भी स्त्रियाँ अपने ऊपर लेती हैं । उपन्यास 'कठगुलाब' में औरतों को पौधे लगाते और उन्हे अपना शिशु मानते हुए पाते हैं । "औरतों को पेडों से उतना ही मोह था

1. नासिरा शर्मा - कुइयांजान, पृ. 272

जितना अपने बच्चों से।"[1] यानी प्रकृति के अस्तित्व के साथ-साथ ही स्त्री अपनी अस्मिता को भी बनाती है । स्त्री ने वनस्पति के महत्व को समझ लिया है । वह पेडों को बचाना चाहती है और पौधों को उगाना भी । इसी उपन्यास में पेडों को बचाने और पौधों को उगाने का एक कार्यक्रम शुरु होता है । उपन्यास की नायिका स्मिता और असीमा इस संस्था का नेतृत्व करती है, वनस्पति को मानव राशी के लिए बचाने का कार्यभार वे अपने ऊपर लेती है । इसके लिए आदिवासी महिलाओं की मदद से कई पेड-पौधों को उगाने का काम भी वह करती है । "पेड उगाने और उन्हें बचाए रखने के लिए बाकायदा गाँव की औरतों की एक सहकारी संस्था बना ली जाए । संस्था बनी तो असीमा ने नाम दिया कुटुम्ब।"[2] वनस्पति को बचाने व उसकी सुरक्षा के लिए हमेशा स्त्री ने ही अगवाई की है । उपन्यास 'वनतरी' में वनतरी नामक नायिका स्वयं इस बात का पूख्ता सबूत है । वह जंगल को, उसके पेडों को अपना घर मानती है, वह वहाँ के एक पेड को भी नष्ट होते हुए नहीं देख सकती । इसलिए उसका मित्र मिथिल वनतरी से यह सवाल भी करता है कि "मैंने एक पेड काट दिया तो तूने पहाड सिर पर उठा लिया । लगता है, यह तुम्हारे घर का हो।"[3] वही दूसरी ओर संजीव के उपन्यास 'पांव तले की दूब' में भी वनस्पति के प्रति स्नेह व आदर का भाव दिखाई देता है। गाँव में चारों ओर हरियाली ही हरियाली है, हर कहीं नए पेड-पौधे हैं, इस

1. मृदुला गर्ग - कठगुलाब, पृ. 255
2. मृदुला गर्ग - कठगुलाब, पृ. 254-255
3. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव - वनतरी, पृ. 20

पर यह बात सामने आती है कि गाँव के माझी हडाम की बेटी का कमाल है यह । यानी हरियाली की हकदार माझी हडाम की बेटी है । जब उसकी बीमारी ठीक हो गई तो वह वनस्पति जगत की सेवा में लग गई । वह जान गई थी कि वनस्पति जगत की मृत्यु मानव जगत की मृत्यु है । इसलिए लडकी के पिता माझी हडाम से पूछने पर वे बताते हैं कि "पेड हमारा लडकी का लगावल है।"[1] यानी उनकी लडकी ने ही प्रकृति को सजाया है। कुल मिलाकर कहा जाए तो वनस्पति व मानव का आपसी संबंध दोनों के अस्तित्व का द्योतक है । गोया दोनों का संतुलन पारिस्थितिक तंत्र को संतुलित कर पाएगा ।

सामाजिक संकट

पारिस्थितिक स्त्रीवाद में सामाजिक संकट की अवस्था को रेखांकित किया गया है । यानी पर्यावरण का शोषण सीधे समाज से जुडता है । समाज के विभिन्न क्रियाकलापों से संबंध बनाता हुआ यह मोड व्यक्ति तक पहुँचता है । पारिस्थितिक शोषण का प्रभाव सबसे पहले एक सामाजिक संकट बन जाता है । जो बाद में आ कर व्यक्ति-व्यक्ति के शोषण का कारण भी बनता है । इसका सीधा मतलब यह है कि पर्यावरण के अन्तर्गत सबसे पहले सामाजिक समस्याएं ही प्रमुख रूप से उजागर होती हैं । डॉ. भैरूलाल गर्ग लिखते है "व्यापक अर्थ में विचार करने पर स्पष्ट है कि पर्यावरण भौतिक

1. संजीव - पॉव तले की दूब, पृ. 153

घटकों, दशाओं, प्रभावों का दृश्य और अदृश्य ऐसा समूह है जो सजीव-निर्जीव सभी को प्रभावित और परिष्कृत कर उन्हे प्रभावित करता है और स्वयं भी इन परिवर्तनों, क्रियाकलापों और दशाओ से प्रभावित होता है । अतः पर्यावरण के अन्तर्गत हमारी समस्त समस्याएं, सांस्कृतिक क्रिया-कलाप, आर्थिक एवं राजनैतिक दशा-दिशा आदि सब कुछ आ जाता है । इस प्रकार पर्यावरण से तात्पर्य उस समस्त वातावरण से है जिससे संपूर्ण जीव जगत या ब्रह्मांड आवृत है अथवा घिरा है।"[1] अर्थात् समाज समस्त वातावरण से संपूर्ण बनता है । समाज व्यक्ति का समूह है इसलिए यदि सामाजिक संकट आता है तो वह सीधे व्यक्ति को प्रभावित करेगा । पारिस्थितिक व्यवस्था में सामाजिक संकट एक प्रमुख घटक है ।

फैक्टरी का विरोध

विकास की सूचक फैक्टरी पारिस्थितिक व्यवस्था के लिए सबसे बडा खतरा है । फैक्टरी के निर्माण से संपूर्ण समाज का शोषण होता है । पारिस्थितिक शोषण में बडी-बडी फैक्टरियों का हाथ है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में फैक्टरियों के खिलाफ आवाज़ उठती हुई दिखाई देती है । फैक्टरी विकास का सबसे बडा सबूत है, औद्योगिकीकरण के इस समाज में गाँव-गाँव, शहर-शहर फैक्टरियों से भरे पडे हैं । परिणामस्वरूप हर कहीं पारिस्थितिकी संकट पैदा हो रहा है । वैसे तो समाज की बेरोज़गारी और

1. डॉ. भैरव लाल गर्ग - मधुमती, जून-जुलाई, 2010

गरीबी को मिटाने में फैक्टरियाँ अपना सहयोग तो देती है लेकिन दूसरी ओर इसके नकारात्मक पक्षों की ओर भी ध्यान देना ज़रूरी है जो धीरे-धीरे पूरे समाज को विनाश की ओर धकेल रहा है । उपन्यासों में भी फैक्टरी के खिलाफ आवाज़ उठती है । उपन्यास धार में तेजाब की फैक्टरी खुलने से पूरा कुंआ पोखर सब गंदा हो जाता है । पीने के पानी के लाले पड जाते हैं। "बोले ई तेजाब का कारखाना से सेब बाडी, कुआँ-पोखर सब खराब होता, इसको बंद करो।"[1] फैक्टरी ने लोगों को काम तो दिया है लेकिन साथ ही साथ उनके जीवन को मृत्यु में भी बदला है । इसी उपन्यास में इस सत्य का उद्‌घाटन यों हुआ है "बाहर राँची, हज़ारीबाग से बुलावाकर बेचारे आदमी लोगों को यहाँ रोजी देने के लिए ले आये थे कि जान-मारने के लिए केतना बेकल (व्यक्ति) खाँसते-खाँसते बेमार होके भागा... हमीं लोग का छाती पे खोलना था जहर का फैक्टरी।"[2] उपन्यास धार की नायिका फैक्टरी का विरोध करती है । दूसरा उपन्यास 'इदन्नमम्' में क्रेशर द्वारा किया गया शोषण है । हालांकि क्रेशर पर गरीब जनता को काम तो मिलता है लेकिन गाँव की भोली-भाली जनता नहीं जानती कि क्रेशर काम उन्हे लाइलाज बीमारी का मालिक बना देगा । दिन-रात क्रेशर पर काम करते लोगों के फैफडें और भी खराब होते जाते । क्योंकि वहाँ की मिट्‌टी व धूल उनके फैफडों में भर चुकी थी । उनकी साँस धौकनी की तरह चल रही थी । उपन्यास में एक पात्र लद्दो अपने पति की तबीयत का इस प्रकार ब्योरा देती है कि "इनकी साँस नही

1. संजीव - धार, पृ. 19
2. संजीव - धार, पृ. 20

जुर रही जिज्जी ! का करें हम भी, एरच के डाकधर को पाँच-छः बेर दिखा आए हैं । बीस कलदार धर आते हैं हर बार । फायदा नहीं परता जिज्जी । कहो तो एक ही बात सुना देगा कि धूरा-धंगर में काम मत करो । डस्ट से फैफरें खराब होते हैं।"[1] यानी फैक्टरी में और क्रेशरों में काम करने वाले लोगों की ज़िन्दगी नरक बन जाती है । 'इदन्नमम्' उपन्यास की नायिका मंदाकिनी इस का विरोध करती है । देखा जाए तो पारिस्थितिकी सजगता के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि समाज को नरक बनाती ऐसी फैक्टरियों को बंद कर देना चाहिए । जिससे समाज व परिवेश में जहर फैलता हो, ऐसे कारखानों का खात्मा कर देना ही समझदारी है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद इस नरक यातना के केन्द्र का विरोधी है । वह ऐसी फैक्टरियों का विरोध तो करता ही है साथ ही साथ वहाँ के शोषितों के लिए अपनी आवाज़ बुलंद भी करता है ।

पारिस्थितिक सजगता में फैक्टरी का विरोध सर्वप्रथम आता है। फैक्टरी विकास के लिए हैं, लेकिन उसके नकरात्मक पक्ष को नकारा नहीं जा सकता ।

जंगल की सुरक्षा

स्त्रियों का जंगल के साथ एक अभिन्न संबंध है । गाँव की स्त्रियों की ज़िन्दगी जंगल से ही शुरु होती हैं, जंगल उनके जीवन की दिनचर्या का एक

1. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम्, पृ. 259

अंग है इसलिए आधी आबादी से जुडा यह जंगल आज सुरक्षा का मोहताज़ है । यही सामाजिक संकट की एक प्रमुख कडी है । जंगल और समाज का रिश्ता अनोखा है । दोनों का अस्तित्व एक दूसरे के बगैर अधूरा है । इस संकट की अवस्था को स्त्री ने सबसे पहले समझ लिया है । अब वह जंगल को बचाना चाहती है । तथ्य तो यह है कि जंगल का बचाव पर्यावरण की सुरक्षा ही है । उत्तराखंड के चमोली तथा उत्तर काशी, पिथोरागढ, अल्मोडा, नैनीताल, देहरादून में हुए आन्दोलन इसी का परिणाम है । 'चिपको आन्दोलन' नाम से प्रसिद्ध इस आन्दोलन में महिलाएं प्रमुख रूप से नेतृत्वकर्ता थी । महिलाओं ने जंगल को बचाने के लिए हर पेड से आलिंगन किया जिससे पेड बच गए । इस अवसर पर महिलाओं ने कहा कि सूखा वन-बूढा पेड भी हमारे लिए ज़रूरी है, जैसे घर के लिए बूढा आदमी ज़रूरी है । उनका नारा था -

क्या हैं जंगल के उपकार, मिट्टी पानी और बयार
मिट्टी पानी और बयार जिंदा रहने के आधार

इस संदर्भ में देवेन्द्र उपाध्याय लिखते हैं "1973 में प्रस्फुरित इसी चेतना का परिणाम था कि जंगलों की निलामी नहीं हो पाई । यह स्थानीय जनता की पहली विजय थी जिसकी शुरुआत पहाडों, जंगलों और पर्यावरण को बचाने की थी।"[1] यानी चिपको आंदोलन ने जंगल को बचाने की पहल की और इसमें वे सफल भी हुए । गौरा देवी जो 'चिपको वुमैन' के नाम से

1. देवेन्द्र उपाध्याय - आज कल, जून - 1986

प्रसिद्ध है उन्होंने ही इस आन्दोलन की अगुवाई की । उपन्यास 'पहाड चोर' में भी पहाडी स्त्री और जंगल के संबंध को सूचित किया गया है "पहाड की औरत का दिन जंगल से शुरु होता है।"[1] सच तो यह है कि जंगल के रेशे-रेशे से स्त्री वाकिफ होती है क्योंकि उसका सारा जीवन जंगल से जुडा होता है । फलस्वरूप वह जंगल की अपनी हो जाती है ।

वर्तमान में जंगल का अस्तित्व खतरे में है । विकास की इस दौड में जंगल सब नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं । विकास ने मानव और जंगल के बीच एक ऐसी दूरी बना दी है जिसे पार करना कठिन हो गया है । स्त्री का जंगल से सरोकार है उपन्यास 'पहाड चोर' का संदर्भ देखें "जंगल के साथ उसका अंतरंग रिश्ता था । वह जितना बाहर फैला था, उससे कहीं ज़्यादा तो वह उसके मन में उगा हुआ था । वह उसके एक-एक रेशे से परिचित थी, उसकी नब्ज की हर धडकन को पहचानती थी । उसकी भाषा और व्यवहार को समझती थी । जंगल बोलता है । हवाओं की जबान में बोलता है । उसके नाजुक स्पर्श से भी बोलता है, अघंड और तूफान में भी बोलता है । बारिश की पहली बुँद के साथ भी, धरासार बरसात में भी । रात के अंधेरे में भी और दिन के उजाले में भी । वह अपने मौन में भी बोलता है और मुखर में भी । वह अपने रूप, रंग, त्वचा, स्पर्श और गंध से बोलता है और हज़ारों आवाज़ों में बोलता है ।"[2] इस प्रकार जंगल हर रूप में अपनी कहानी बयान

---

1. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 44
2. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 237

करता है । वीरेन्द्र पैन्यूली जंगल के कटने के पीछे औद्योगिकीकरण व परियोजनाओं का षड्यंत्र मानते हैं । विकास की ऐसी कई पद्धतियाँ है जिसके फलस्वरूप जंगल का विनाश हो रहा है । "नयी शहरी अथवा औद्योगिक बस्तियों को लगाने अथवा बडी-बडी परियोजनाओं के कार्यान्वयन में भी जंगल ही कट रहे हैं । उद्योगों के लिए (जैसे कागज़ कारखानों के लिए), यातायात के लिए (रेलवे लाइनो के बिद्दाने में) नावों के निर्माण में, गृह निर्माण के लिए पहाडों में सड़क निर्माण जैसे कार्यों के लिए भी विनाश जंगलों का ही हो रहा है।"[1] जंगल की सुरक्षा का दायित्व स्त्री पर है, इसमें कोई शक नहीं ।

गौरा देवी से लेकर वंगारी मेथाई और वंदना शिवा आदि महिलाएं पर्यावरण की रक्षा का आह्वान करती है । उपन्यास 'दावानल' में जंगल की सुरक्षा को एक अभियान के तौर पर पेश किया गया है । जंगल की सुरक्षा के लिए महिलाएं पुरुषों से आगे है "महिलाएं आगे-आगे है, पुरुष पीछे । जंगल का सवाल है । पुरुषों से चार कदम आगे रहना हैं उन्हे... वन और जन एक-दूसरे पर निर्भर है । इस रिश्ते को बचाना है । हाँ, हम बचाएगें जंगल को । ठेकेदारों के क्रूर कुलहाडों से जंगल बचेगा । हमारे बाल-बच्चे बचेंगे।"[2] यानी जंगल भविष्य की संपत्ति है । जंगल की सुरक्षा पारिस्थितिकी के लिए एक अहम् मुद्धा है ।

---

1. वीरेन्द्र पैन्थूली - पर्यावरण और वनसंरक्षण समस्या एवं समाधान (सं. अतुल शर्मा) पृ. 13

पर्यावरण में वृक्षों का अपना महत्व है । वृक्ष पर्यावरण को संतुलित करते है । प्राचीन समय से ही वृक्षों की महत्ता को रेखांकित किया जाता रहा है । जीवों के प्रति आत्मीयता का भाव भी प्राचीन ग्रंथों में देखने को मिलता है । यानी वृक्षों का, जीवों का मानव से आत्मीय संबंध है । प्राचीन ग्रंथों में कहा भी गया है -

वृक्षान द्वित्वा पशून हत्वा कृत्वा रुधिर-कर्दनम्
स्वर्ग चेत गम्यते मत्यैः नरकः केन गम्यते

अर्थात् पेडों को काटकर, जीवों को मारकर, उनके रक्त का कीचड बनाकर ही यदि स्वर्ग जाया जाता हो, तो फिर नरक को जाने का मार्ग कौन सा है ? वृक्ष मानव के लिए जीवनदायिनी है । वृक्षों से मानव अपनी सांस ग्रहण करता है और वर्षा का मुख्य घटक वृक्ष ही तो है । वृक्षों में पीपल की विशेषता है । आज के पर्यावरण प्रदूषण में पीपल की शुद्धिकरण की क्षमता अत्यंत महत्वपूर्ण है । इसका अर्थ है कि पीपल बडे पैमाने पर औद्योगिक तथा वाहन उत्सर्ज से निकली गैसीय व कणीय गन्दगी को साफ कर सकता है। वृक्ष बडे पैमाने पर दूषित वायु को साफ कर उसे स्वच्छ वायु में तब्दील करने में सहायक होते हैं । जगह-जगह औद्योगिक इकाईयों से अमोनिया, अम्लीय गैसों, कार्बन-मोनोआक्साईड व ताप बिजलीघरों द्वारा अधिकाधिक कणीय प्रदूषण निकलने की खबर मिलती है, जिससे हम सब चिर परिचित है । यह जहरीली गैस मिल कर मानव जीवन में जहर घोल सकती हैं ।

वृक्षारोपण इस समस्या का सीधा-साधा हल है । मानव ने जैसे-जैसे तरक्की की है, वृक्षों से उसका नाता टूट गया है । आज वृक्ष के संरक्षण की बात पर जोर दिया जा रहा है । 'गोपाल सक्सेना' कविता के माध्यम से अपनी इस वेदना को दर्शाते हैं -

"अंतिम समय जब कोई वृक्ष नहीं जायेगा साथ
एक वृक्ष जायेगा अपनी गोरेओं, गिलहरियों से बिछुडकर साथ
जायेगा एक वृक्ष
अग्नि में प्रवेश करेगा वहीं मुझसे पहले
कितनी लकडी लगेगा
शमशान का टाल वाला पूछेगा
गरीब से गरीब भी सात मन तो लेता ही है
लिखता हूँ अपनी अंतिम इच्छाओं में
कि बिजली के दाह-घर में हो रहा मेरा संस्कार
ताकि मेरे बाद
एक बेटे और बेटी के साथ
एक वृक्ष भी बचा रहे संसार में।"[1]

उपन्यासों में भी वृक्षारोपण की बात पर जोर दिया गया है । वृक्षों के संरक्षण के लिए स्त्रियाँ सबसे आगे हैं । उपन्यास 'धार' में जनखदान की शुरुआत होती है, इसी के साथ पौधों को लगाने की माँग भी उठती है । जैसे "कामिनी के पेड के तले बन तुलसी, पुटुस और पुआल की तीन झोपडियाँ खडी हो गई थी।"[2] यानी पौधे या वृक्ष पर्यावरण के लिए ज़रूरी है इसलिए

1. गोपाल सक्सेना - नई धारा - जून जुलाई 2013
2. संजीव - धार, पृ. 141

मानव को पौधों और वृक्षों से सामंजस्य बनाए रखना चाहिए । दूसरी ओर उपन्यास 'कठगुलाब' में भी वृक्षों की नस्लों को उगाने का कार्यक्रम चलाया गया । जैसे "अब तक वहाँ करीब पच्चास स्थानीय प्रजातियाँ उगाई जा चुकी थी । कैर, बाँस बेरी, सफेद डमार, उपास, जायफल, नीम, बबूल, ढाक, कुम्हाडा आदि।"[1] अर्थात् हर प्रकार के वृक्षों से प्रकृति को सजाने की कोशिश की गई ।

वृक्षों का संरक्षण आज की सबसे बडी माँग के रूप में साबित हो चुकी है । वातावरण को यदि जीने योग्य बनाना है तो वृक्षों का संरक्षण ही एक मात्र उपाय है । घनी आबादी वाले शहरी क्षेत्रों में वृक्षों की अधिकता ही शहर को विषाक्त जलवायु से बचाती है । उपन्यास की नायिकाएं वृक्षारोपण पर बल देती हैं क्योंकि वे जानती है कि वृक्ष ही जीवन को नई ऊर्जा प्रदान कर सकते हैं । इसलिए वृक्ष संरक्षण पर जोर देती हुई पर्यावरण व्यवस्था पर स्त्री चिंतित है । उपन्यास 'समय सरगम' में भी पेडों का विद्रोह दिखाया गया है । जैसे "कहीं यह भी मूक वृक्षों का आन्दोलन तो नहीं !.... नहीं, यह पेड हम दोपायों के विरुद्ध है । शायद हमारी मनमानियों से खीझ गए है।"[2] अतः पर्यावरण प्रदूषण के खिलाफ वृक्ष मूक हो कर प्रतिरोध करते है ।

बाँध के खिलाफ - पर्यावरण का खतरा दिन ब दिन बढता ही जा रहा है । पारिस्थितिकी व्यवस्था का संतुलन बिगड गया है । इसमें बांध

1. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ. 257
2. कृष्णा सोबती - समय सरगम, पृ. 11

परियोजना भी पर्यावरण संकट का एक कारक है । छोटे-छोटे बांधों की परियोजना पर तो उंगली उठाना बेकार है लेकिन बडे बाँधों का हम सब विरोध करते हैं । बडे बांधों ने नदियों की पारिस्थितियों को नष्ट किया है, साथ ही नदी के नीचे के भाग के किसानों व मछुआरों की अजीविका को छीन लिया है । फलस्वरूप लवणीकरण और दलदल की स्थिति के कारण भूमि अनुउपजाऊ हो जाती है । इन सब के चलते भूकंप का खतरा भी बढ जाता है । 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' भी इसी त्रासदी के खिलाफ एक आवाज़ है । मेधा पाटकर इस आन्दोलन के नेतृत्व में थी । उन्होंने इस बांध के खिलाफ अभियान छेडा क्योंकि वह नर्मदा नदी को बचाना चाहती थी । बाँध परियोजना के तहत विस्थापित जनता के पुनर्वास की माँग भी इस आन्दोलन में प्रमुख मुद्दा थी । मेधा पाटकर और उनके साथियों ने आमरण अनशन तो 28 मार्च, 2006 को शुरु किया उससे पहले उन्होंने 17 मार्च से ही जल संसाधन मंत्रालय के सामने धरना शुरु कर दिया था । उनका मानना था कि बांध परियोजना विस्थापितों के विनाश का मकबरा बन जाएगा, जिसमें ज़्यादातर आदिवासी, ग्रामीण होंगे । बांध जैसी परियोजनाएं खासकर राजनीतिज्ञों के इशारे की कठपुतली होती हैं । मेधा पाटकर बांध के खिलाफ कहती है "नर्मदा के मामले ने एक बार फिर साबित कर दिया है कि व्यवस्था का पूरी तरह माखौल उठाया जा रहा है । विद्रुप और स्वार्थी राजनीतिक इरादों के लिए लोकतान्त्रिक ढाँचे, वैज्ञानिकता, ईमानदारी और विश्वसनीयता

सभी को तिलांजलि दे दी गई है । एक सीमा से आगे सच को छिपाया नहीं जा सकता। यह जल्दी ही जाहिर होगा कि यह बांध लाखों आदिवासियों और किसानों के विनाश का मकबरा साबित होगा । इसके चलते लाखों लोगों की आत्महत्याएं नहीं, कत्लेआम इतिहास में दर्ज होगा । लेकिन यह बांध भविष्य के उन बड़े बाँधों और उन विकास परियोजनाओं की मौत का परवाना साबित होगा जो मेहनतकश जनता और समुदायों को उत्पीडित करते हैं ।"[1]

बांध परियोजना के खिलाफ आवाज़ उठती ही रहेगी, जब तक पर्यावारण के प्रति चिंतित जागरूक व्यक्ति इस समाज में रहेंगे । प्रकृति के साथ छेडछाड का नतीजा भयंकर होता है । इसका एक उदाहरण उपन्यास 'दावानल' में हम देख सकते हैं । प्रकृति के दोहन के परिणाम को उपन्यास का नायक पुस्कर इस प्रकार दर्ज करता है "प्रकृति को आदमी ने, उसकी व्यवहारिक हवस और बढती ज़रूरतों ने जिस तरह छेडा है, जितना नुकसान पहुँचाया है, उसकी तुलना में प्रकृति का यह जबाबी हमला बहुत मामूली है।"[2] यानी बांध जैसी परियोजनाएँ पारिस्थितिक संकट का कारण बनती है। इसलिए पर्यावरण को बढाने के लिए बडे बांधों की परियोजनाओं को सोच समझ कर तैयार करना चाहिए । क्योंकि बांध समाज का एक मुख्य घटक है ।

1. अरुण कुमार त्रिपाठी - मेधा पाटकर, नर्मदा आंदोलन और आगे, पृ. 21
2. नवीन जोशी - दावानल, पृ. 119

फैक्टरी औद्योगिकीकरण और पारिस्थितिकी

आज दुनिया में एक ओर भौतिक सुख-सुविधाओं का अक्षय भंडार है, तो दूसरी ओर पर्यावरण के लिए संकट का खतरा दिन-ब-दिन बढता जा रहा है । भूमंडलीकरण के चलते आज विश्व का बाज़ार भारत बन गया है। भूमंडलीकरण ने पारिस्थितिकी को अपने लाभ के लिए उपयोग किया है । एक ओर विकास का डंका बज रहा है तो दूसरी ओर प्रकृति की विनाश लीला का तांडव चल रहा है । उपभोग की संस्कृति ने प्रकृति का उपयोग किया है और उसे छोड दिया है । यही भूमंडलीकरण की संस्कृति है । पर्यावरण को अनदेखा कर मानव विकास की ओर इतना बढ़ गया है कि उसने अपनी माँ समान प्रकृति को त्याग दिया है । भारतीय संस्कृति प्रकृति के करीब थी लेकिन भूमंडलीकरण व औद्योगिकीकरण ने प्रकृति से मानव का रिश्ता तोड दिया है ।

औद्योगिकीकरण से उपेक्षा थी कि उससे समूची मानव जाति की गरीबी और अभावों का अंत होगा लेकिन असलियत यह है कि उसने ज़्यादा से ज़्यादा लोगों के लिए सुखी जीवन को ज़्यादा दुर्लभ और पहुँच से परे बना दिया । यानी मानव का प्रकृति से अलगाव हो गया । औद्योगिकीकरण ने विकास के नाम पर संपूर्ण प्रकृति को शोषण का शिकार बना दिया है । प्रभा खेतान निजीकरण की बात को स्पष्ट करती हुई लिखती हैं "यदि हवा-पानी-जंगल का निजीकरण हो जाए तो बचेगा क्या ? यदि प्रकृति की हर चीज़ का

नियंत्रण हो और हर चीज़ की कीमत आंकी जाए, मानवीय अधिकारों का हनन हो तो क्या भूमंडलीकरण कहकर स्वीकारा जाना चाहिए।?"[1] प्रभा खेतान भूमंडलीकरण की त्रासदी की ओर इशारा करती है । विकास ने मानव को बदल दिया है । उपन्यास 'शिगाफ' में नायिका लिखती है "हम सभी मूलतः समय, विषय, स्थान और तत्वों मसलन प्रकाश, गति और द्रव्य से संबद्ध है । परिणामतः हम मानव बनने के प्रयास में मानव से ह्यूमनोइड बन गए है । अन्तहीन रेस के अवास्तविक लक्ष्यों की और दौडते हुए एक मानव इकाई । इस दवाब की अति ने हमारे अस्तित्व की गुणवत्ता को क्षरित किया है।"[2] अर्थात् प्रकृति से हट कर, अपने मूल से हट कर मानव का अस्तित्व मिट्टी में मिल गया है । आपसी संबधों में बिखराव आ गया है । प्रकृति को संवारने, उसे सुरक्षित रखने का समय किसी के पास नहीं है । हर व्यक्ति अपने स्वार्थ को पूरा करने में लगा हुआ है ।

उपन्यास 'पहाड चोर' में औद्योगिकीकरण व भूमंड़लीकरण के प्रतीक के रूप में बुल्ड़ोज़र को दिखाया गया है । बुलडोज़र जब गाँव में आता है तो लोगों के होश गायब हो जाते हैं । बुलडोज़र ने गाँव की भोली-भाली जनता की आशाओं पर पानी फेर दिया । लोगों के रोजगार खतरे में पड गए। इसलिए सुखिया कहती है "साबरा जेठाजी ने कंपनी को बिरटा दिया। वो सुस रैहती तो गांम में नल लगता । बुलडोज़र नी आता । लक्खू को भी

1. प्रभा खेतान - बाज़ार के बीचः बाज़ार के खिलाफ, पृ. 32
2. मनीषा कुलश्रेष्ठ - शिगाफ, पृ. 12

नौकरी से नी निकाला जाता । वो तो अब बिदकी धोडी है जो भी उसके रास्ते में आगा, उसकी छाती में लात मारकर पसली तोडेगी । उसे आदमी की क्या कमी, सौ की जगे एक बुलडोजर भतेरा।"[1] यानी कंपनी केवल अपना फायदा देखती है उसे विकास और तरक्की से मतलब है गाँव की जनता की भलाई से उसे कुछ लेना-देना नहीं है । औद्योगिकीकरण ने पारिस्थितिकी और उससे जुडे हर क्षेत्र को शोषण का शिकार बनाया है । वही दूसरी ओर प्रभा खेतान भूमंडलीकरण को प्रकृति से जोडती है "जिस प्रकार प्रकृति को वश में नहीं कर पाते उसी तरह भूमंडलीकरण की उद्याम शक्ति को भी पलटना संभव नहीं ।"[2] इसका मतलब यह है कि प्रकृति को वश में करना कठिन था लेकिन आज भूमंडलीकरण की संस्कृति ने प्रकृति को भी अपने वश में कर लिया है । ऐसा समय आ गया है कि औद्योगिकीरण की संस्कृति को हम सीधे नहीं पहचान पाते । लेकिन सच तो यह है कि पर्यावरण के हर एक तत्व को औद्योगिकीकरण ने अपना निशाना बनाया है। इसलिए पारिस्थितिक स्त्रीवाद प्रकृति की ओर वापसी की यथार्थता पर बल देता है । प्रकृति से मिलकर विकास की ओर बढना ही प्रगति का सच्चा मार्ग है ।

शोषित होती नदियाँ

नदी एक संस्कृति है, वह जहाँ भी बहती है, हर संस्कृति को अपने

1. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 311
2. प्रभा खेतान - बाज़ार के बीच, बाज़ार के खिलाफ, पृ.24

में समा कर बहती है । आज नदी का अस्तित्व संकट में है । नदियाँ दिन प्रतिदिन शोषित हो रही हैं । वैज्ञानिक मानते हैं कि प्राकृतिक और मानवजनित कारणों से नदियों का अस्तित्व संकट में है । प्रदूषण के कारण नदी का जल दूषित हो रहा है । नदी पारिस्थिति को बनाए रखने में सहायक घटक है । नदी में कई तरह के पोषक पदार्थ प्रवाहमान होते हैं जो नदी के पारिस्थितिक व्यवस्था की खाध श्रृंखला के अंग होते हैं । नदी में प्रवाह की कमी नदियों की सबसे बडी बिडंबना बन गई है । नदी में कूडा-कचरा भर जाने से नदी अपना प्रवाहित होना भूल चुकी है । नदियों में प्लास्टिकों के ढेर हैं जो नदी को सबसे ज़्यादा प्रदूषित करते हैं । उपन्यास शिगाफ में इस सच्चाई को दर्ज किया गया है - "झेलम के गन्दे किनारे । पॉलिथीन और प्लास्टिक के कचरे ने यहाँ भी कयामत ढा रखी थी।"[1] अर्थात् नदियों में प्रवाह न के बराबर है। प्रेमचन्द चंदोला लिखते हैं "यह हमारे कुकृत्यों का ही परिणाम है कि प्रदूषित होने के साथ-साथ नदियों का जल, प्रवाह और गहराई बहुत कम हो गई है।... उत्तर से दक्षिण तक की नदियां प्रदूषण-व्यथा से कराह रही है और चौडे फाट वाले स्थानों पर वेगवती धारा के बदले बडे-बडे रेतीले द्वीप ही नज़र आते हैं।"[2] नदियों के मामले में भी राजनीति का दौर है । राजनीति के दावपेच में भी नदियाँ दूषित हो रही हैं । नदियों को जोडने की बात की जाती है जिससे पानी का संकट दूर हो किंतु इस बात पर जोर नहीं दिया जाता कि

---

1. मनीषा कुलश्रेष्ठ - शिगाफ, पृ. 128
2. प्रेमानन्द चंदोला, प्रदूषण पृथ्वी का ग्रहण, पृ. 16

नदी का जो पानी है, वह गंदा तथा दूषित है । नासिरा शर्मा का उपन्यास 'कुइयांजान' भी इसी संकट की ओर इशारा करतीा है उपन्यास में भी नदियों को जोडने की बात होती है । पानी की सम्यस्या पर भी आधारित यह उपन्यास आज के पारिस्थितिक संकट पर विचार करता है ।

नदी के प्रदूषण से पीने का पानी तक जहर बन गया है । जिस गंगा नदी को पवित्र माना जाता है वह भी आज दूषित है । गंगा अपवित्र और अशान्त है क्योंकि विकास ने गंगा को भी अपने जाल में फांस लिया है । 'समय सरगम' उपन्यास में कृष्णा सोबती लिखती है "दूसरों को शान्त करनेवाली महान गंगा मैया भी गंदगी से खौल रही है । सदानंद महाराज, कुछ करना होगा । देवी शक्तियाँ क्या इस प्रदूषण को सोख लेंगी ।"[1] यानी गंगा नदी को देवी का दर्जा दिया जाता है, आज वह दैवी शर्म से अपना सिर झुका रही है क्योंकि गंगा नदी इतनी दूषित हो चुकी है कि वह मानव राशी के लिए संकट बन गई है । गंगा की पवित्रता और निर्मलता समाप्त हो रही है । इसमें कोई शक नहीं । जानी-मानी यमुना नदी भी इस शोषण का शिकार है । यमुना को साफ-सुथरी रखने का उपाय हो रहा है । लेकिन सारे उपाय आज भी असफल साबित हो रहे हैं । नदियों को शोषित करने की एक ओर वजह उस पर बांध बनाना भी है । बांध के निर्माण से नदी की गहराई व प्रवाह में अंतर आ जाता है । नदी पत्थरों का ढेर बन जाती है, उपन्यास

---

1. कृष्ण सोबती - समय सरगम, पृ. 143

बेतवा बहती रही में इस बात को यों व्यक्त किया गया है "बराठा घाट पर चौडा पार है बेतवा का । पहले इतना नहीं था । जब से पारीद्दा बाँध बना है, यह और चौडा हो उठा है । नदी में पडे पत्थर तरह-तरह के आकारों के है । दूर से लगता है, जैसे पत्थरों की फसल उगी हो-नदी के बीच।"[1] यानी बांधों की वजह से नदियों का प्रवाह रुक सा गया है । उपन्यास धार में भी दामोदर नदी का जिक्र है, जिसमें नदी को कोयले की खदान के रूप में लाया गया है । दामोदर नदी शोषित और उपेक्षित सर्वहारा का रूप है । क्योंकि दामोदर नदी में कोयले की खोज, उस नदी की उर्वरता को तहस-नहस कर देती है । उपन्यास का दामोदर एक प्रतीक है मेरे लिए इस देश के शोषित, उपेक्षित सर्वहारा का।'.... ऊपर से देखो तो पानी कितना छिछला लगता है और उसके नीचे, अगल-बगल...? बालू। इस बालू को हटा पाना आसान नहीं । जितना ही हटाओं, परसती ही जाये है लेकिन हटाना असंभव भी नहीं, और हटा पाओ तो कोयला... अंगार... उर्जा...।"[2] यानी दामोदर नदी का अस्तित्व मिट रहा है ।

सामाजिक रूप में पारिस्थितिकी संकट के विभिन्न रूप हैं । मानव के समस्त क्रियाकलापों का संबंध पारिस्थितिकी से जुडा है । इसलिए मानवीय क्रियाकलाप, चाहे ये औद्योगिक हों अथवा गैर-औद्योगिक, पर्यावरण को एक या विभिन्न तरीके से प्रभावित करते हैं । कई मामलों में ये प्रदूषण पैदा करते

1. मैत्रयी पुष्पा - बेतवा बहती रही, पृ. 98
2. संजीव - धार, पृ. 134

हैं और मनुष्य की सेहत को भी प्रभावित करते हैं । पारिस्थितिकी स्त्रीवाद सामाजिक संकट के विभिन्न रूपों को परखता व पहचानता है । गोया वह सामाजिक संकट को दूर करने की कोशिश करता है क्योंकि समाज व्यक्ति का समूह है और उस समूह के लिए पारिस्थितिकी उतनी ही ज़रूरी है जितनी उसकी ज़िन्दगी ।

सांस्कृतिक संकट

हमारा भारत देश विभिन्न संस्कृतियों का केन्द्र है । संस्कृतियों की भूमिका ही देश को महान बनाती है । भारत की इस महान संस्कृति का संदेश सीधे प्रकृति से जुडा हुआ है । भारतीय संस्कृति की मान्यता है कि प्रकृति में ही जीवन है । मनुष्य के साथ-साथ पशु-पक्षी, पेड-पौधे, नदी-पहाड सबमें जीवन है । इसलिए हमारा यह कर्तव्य बन जाता है कि हम इस जीवन रूपी प्रकृति को, प्रकृति की संस्कृति को बनाए रखने की कोशिश करें। वेदों में भी प्रकृति के साथ जीवन-यापन करने की बात पर जोर दिया गया है । उनके द्वारा बताई गई जीवन-पद्धति इस प्रकार की थी कि व्यक्ति जीव-जन्तुओं, पशुओं , वृक्षों, लताओं को हानि पहुँचाए बिना प्रकृति पर निर्भर रह सके । अत एव हमारी संस्कृति प्रकृति से घुली मिली है ।

आज की संस्कृति भोगवादी है । पश्चिम की भोगवादी सभ्यता ने बाहुल्य को ही विकास माना । इस विकास की अंधी दौड में एक ओर तो

प्रकृति के साथ बलात्कार हुआ और दूसरी ओर मानव और प्रकृति का संबंध टूट गया । पुष्पपाल सिंह जी इस पर अपना विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं "हमारी सांस्कृतिक अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी संस्कृति बन गई है । आर्थिक उदारता, खुलापन और वैश्वीकरण संसार भर में एक अपसंस्कृति फैला रहे हैं । हम इस प्रकृति के असहाय, दर्शक मात्र बन कर रह गए है ।"[1]

सत्य तो यह है कि प्रकृति और संस्कृति का गहरा रिश्ता है । गहराई से समझे तो प्रकृति ऐसी व्यवस्था है जो हमें घेरी हुई है, जिसमें हम रहते हैं और जीतें है यानी जिस पर हम जीवन के लिए निर्भर रहते है वहीं संस्कृति वह उपार्जन है जो हम जीवन के लिए करते हैं । गोविंद चातक संस्कृति व प्रकृति के संबंध को बल देते हैं "संस्कृति प्रकृति, पर्यावरण की वह एकीकृत सत्ता है जिसमें प्रकृति और पर्यावरण तथा सामाजिक जीवन की पारस्परिक सक्रियता की परिणति होती है । इस रूप में प्रकृति की भांति संस्कृति भी मनुष्य की दूसरी माँ होती है जो उसे विचारणा, सोच-समझ, मानवता, ज्ञान और सृजन क्षमता प्रदान करती है । संस्कृति प्रकृति से रिश्ता बनाती है और मनुष्य-मनुष्य के तथा प्रकृति और मनुष्य के बीच एक रिश्ता तय करती है।"[2] दूसरे शब्दों में कहे तो मानव ने जब प्रकृति से अपने उपयोग की वस्तुएं बनानी शुरु की तो एक ओर प्रकृति की रचना की, वहीं संस्कृति है।

---

1. पुष्पपाल सिंह - हिन्दी उपन्यासः भूमंडलीय संस्कृति का वर्चस्व और आक्रमण, वर्ष - 2012-13
2. गोविन्द चातक - पर्यावरण और संस्कृति का संकट, पृ. 34

प्रकृति और मानव के बीच संबंध-सूत्र स्थापित होने के साथ ही संस्कृति का आर्विभाव हुआ । अतः कहा जाए तो संस्कृति मानवीय क्रिया-कलाप और उसकी उपलब्धियों की अभिव्यक्ति ही है । वर्तमान की संस्कृति मात्र एक दिखावा बन गई है । यह उपभोग की है, इसमें प्रकृति का शोषण ही शोषण है । प्रकृति से दूर होती यह संस्कृति मात्र विकास के लिए बनी है । आज उपभोक्ता वस्तुओं के बावजूद भी खालीपन है क्योंकि मानव ने प्रगति और विकास के नाम पर प्रकृति की उपेक्षा की है । इसलिए पारिस्थितिक स्त्रीवाद नए मूल्यों की स्थापना करता है, इसमें नई संस्कृति की गुहार है । वह संस्कृति, जिसमें प्रगति के साथ-साथ प्रकृति के प्रति संवेदना भी सम्मलित हो । प्रकृति से घुलमिल कर बनी संस्कृति ही पारिस्थितिक स्त्रीवाद का उद्देश्य है । जिसमें लोक से जुडी संस्कृति शामिल हो, प्रकृति की ओर वापसी से जुडी नई सोच हो । यह पर्यावरण संस्कृति की पक्षधर है । इसमें सामूहिक बोध, परंपरा, जीवन शैली और कलाओं का मिश्रण हैं, जिससे संस्कृति विकसित होती है । इस संस्कृति के परिणाम स्वरूप इस बात को महसूस किया गया कि जल में भी जीवन है । वनस्पतियां भी पीडा का अनुभव करती हैं । संक्षेप में कहे तो एक ऐसी संस्कृति विकसित होनी चाहिए जिसमें विकास या औद्योगिकीकरण की चकाचौध न हो, प्रगति के नाम संस्कृति दिखावा न बने । अर्थात् एक ऐसी संस्कृति जिसमें प्रकृति के साथ भाईचारे जैसा संबंध हो । स्त्री के समान हर पुरुष भी प्रकृति की चेतना को समझे । यह भी समझने की कोशिश करें कि प्रकृति ने हमेशा मानव को

कुछ न कुछ प्रदान किया है लेकिन वही मानव प्रकृति का शोषक बन गया क्योंकि प्रकृति ने उससे कभी कोई शिकायत नहीं की । लेकिन आज प्रकृति भी सहन की सीमा तोड चुकी है । प्राकृतिक आपदाएँ प्रकृति का मानव के लिए उसके शोषण का जवाब है । जिसे मानव कभी समझना ही नहीं चाहता।

लोक से जुडी संस्कृति

लोक का संबंध प्रकृति के करीब है । लोक मानव समाज का वह वर्ग है, जो अपनी प्राचीन मान्यताओं एवं परंपराओं के प्रति आस्थावान है, वह आधुनिक सभ्यता एवं कृत्रिमता से दूर, अपनी सभ्यता से जुडा हुआ है । डॉ. दीपक पांडेय लोक के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते है कि "लोक शब्द लोक जीवन के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो अपनी प्राचीन मान्यताओं, विश्वासों एवं परंपराओं के प्रति आस्थावन है तथा सीधा-सादा, निर्विकार, निरभिमानी है । इस प्रकार 'लोक' शब्द की व्याप्ति में नगर, गाँव आदि सब कुछ समाहित हो जाता है।"[1] लोक संस्कृति का प्रकृति के साथ करीबी रिश्ता है । दोनों एक दूसरे से जुडे हैं जिससे समाज में सांस्कृतिक संबंध कायम होता है । प्रकृति से रची-बसी संस्कृति लोक का निर्माण करती है । अर्थात् लोक का संबंध जन से है और जन का संबंध प्रकृति के साथ है । लोक प्रकृति के साथ अपने विकारों का आदान-प्रदान करता है । डॉ.

1. डॉ. दीपक पांडेय, भाषा अगस्त 2005

हरिमोहन लिखते हैं "लोक का 'जन' प्रकृति के आँगन में खेलता-कूदता, हँसता-गाता, वृक्षों तक की शादी कराता है, उस आयोजन में सम्मिलित होता रहा है । प्रकृति उसके दुःख में रोती है और उसके सुख में साझीदार बनती है।"[1] यानी लोक का प्रकृति से संबंध गहरा है । आज के इस विकसित युग में हम केवल औद्योगिकीकरण की संस्कृति को ही अपनाना चाहते हैं । यह संस्कृति प्रत्यक्ष रूप में न सही, अप्रत्यक्ष रूप में पूरे समाज पर आधिपत्य जमा चुकी है । विकास की इस संस्कृति ने लोक को यानि प्रकृति से जुडे जन को काफी पीछे धकेल दिया है । सच तो यह है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में, पूँजीवादी सत्ता ने लोक को अपने आधीन कर लिया है, इस पूंजीवादी सत्ता में पुरुष समर्थ है । इसलिए वह स्त्री और प्रकृति का घोर शोषक बन गया है । फलस्वरूप लोक से जुडी स्त्री, स्त्री से जुडि प्रकृति आज संकट की अवस्था से गुज़र रही हैं । दोनों की संवेदना एक होने के कारण स्त्री ने अपने साथ शोषित हो रही प्रकृति को और उससे जुड़े लोक को बचाने का जिम्मा अपने ऊपर लिया है । मृदुला गर्ग का उपन्यास 'कठगुलाब' इस संदर्भ में विशेष महत्व रखता है । नायिका स्मिता लोक के साथ खडी होती है अर्थात् वह लोक की पक्षधर है । पति जिम जरबिस से जीवन संघर्ष करती हुई वह कभी नहीं टूटती बल्कि मारियन और नर्मदा जैसे पात्रों को जीने की नई राह भी वहीं दिखाती है । गोधड गाँव में असीमा के साथ स्मिता जीवन की हर सुविधा को भूलकर प्रकृति से जुडती है । उनकी जन संस्कृति को

1. डॉ. दीपक पांडेय, अगस्त 2005डॉ. महेश गुप्त, लोक साहित्य का शास्त्रीय अनुशीलन, पृ. 23

अपना बनाती है । मृदुला जी लिखती है "स्मिता ने चुपचाप, बिना, शोर-शराबे, एकदम सहज-स्वाभाविक ढंग से पेड-पौधों, प्रकृति और पर्यावरण को अपना हमसफर बना लिया था। प्रकृति और परिवेश के सामंजस्य में आस्था रखने वाला उसका स्वभाव गाँव की आदिवासी औरतों को अपना-सा लगा था।"[1] इस संदर्भ में धर्मवीर भारती भी यह मानते हैं कि प्रकृति के बिना संस्कृति की कल्पना अधूरी है। उन्ही के शब्दों में कहे तो संस्कृति वहाँ नहीं है जहाँ मनुष्य से प्रकृति का रिश्ता केवल उपभोग और उपभोक्ता का है। प्रकृति की दूरी का कारण ईश्वर की मत्यु घोषणा भी समझी जाती है । पाश्चात्य चिंतकों की इस घोषणा ने प्रकृति को भी मानव से अलग कर दिया। विज्ञान की शक्ति इतनी बढ गई कि आज प्रजनन की क्षमता, या जन्म कारकों पर प्रश्न चिह्न लग गया । क्लोनिक की पद्धति ने मानव जीवन को चुनौती दी है । जो आज की संस्कृति का ही एक भाग बन गया है । उपन्यास रह गई दिशाएँ इसी पार में अपने ही पिता की क्लोनिक से बच्चा पैदा करने की सोच आज की संस्कृति का परिणाम है । जैसे "लारा की कोख में पिता का क्लोन ही वह चिरचिराता पलीता था जिसके विस्फोट की आशंका मात्र से थर्रा गया शेष परिवार-यह कैसे होगा ? बाप रे रिश्तों का क्या होगा ? प्रलय आ जाएगा प्रलय।"[2] यानी संस्कृति का ह्रास ही आज चारों ओर हो रहा है । लोक से जुडी प्रकृति आज कृत्रिम हो कर लोक से दूर हो गई हैं। विज्ञान की चपेट ने लोक और प्रकृति के संबंध को तोड कर रख दिया है

1. मृदुला गर्ग - कठगुलाब, पृ. 252
2. संजीव - रह गई दिशाएं इसी पार, पृ. 128

। आदिवासी, पहाडी लोग और गाँव के लोक प्रकृति के साथ घुलमिल कर रहने वाले हैं लेकिन इनकी संस्कृति में भी विकास का ग्रहण लग चुका है । उपन्यास वनतरी में आदिवासी परहिया जाति प्रकृति के करीब है, नायिका वनतरी इसका प्रतिनिधित्व भी करती है जैसे नंगे बदन घूमने वाली परहिया की जाति, कुरहा बनाकर ज़मीन पर सोने वाली जंगली लोग, जाडा में अलाव जला देते और उसके चारों ओर ज़मीन पर लेटे रहते।"[1] आज की उपभोग संस्कृति विकास की भूखी है इसलिए लोक से जुडी संस्कृति का नामों निशान मिटता जा रहा है । स्त्री लोक संस्कृति को सहेज कर उसे दोबारा समाज में लाने की जदोजहद कर रही है ।

सभ्यता और परंपरा में आए बदलाव

सांस्कृतिक संकट का समय है, इसलिए परंपरा और सभ्यताएं भी बदलने लगी है । परंपरा हमारी प्राचीनता से जुडी थी, जिसमें प्रकृति के प्रति स्नेह व आदर था । सभ्यताएं हमारी पहचान थी किंतु संकट की इस अवस्था में स्थिति बिल्कुल बदल चुकी है । यहाँ मानव केवल अपने स्वार्थ के लिए सभ्यता और परंपरा का इस्तेमाल करता है । इस्तेमाल की नीति ने परंपरा और सभ्यता को भी मात्र वस्तु का नाम दे दिया है । इसका एक बहुत बडा कारण संभवतः विज्ञान और उसकी सबसे बडी देन औद्योगिकीकरण है जिसने इन्सान और इन्सानियत के बीच भारी असन्तुलन पैदा कर दिया है ।

---

1. संजीव - रह गई दिशाएं इसी पार, पृ. 128

सभ्यता और परंपरा की डोर प्रकृति से, उसके लोक से टूट गई । इसलिए इस संदर्भ में विजय बहादुर सिंह लिखते हैं - "परंपरा बार-बार कहती आई है कि अगर सारे शास्त्र लुप्त हों उठे, लाइब्रेरियां जला दी जा चुकी हों नगर, महानगर और उनकी सभ्यताएं नष्ट की जा चुकी हों तब अपनी पहचान को ढूँढने के लिए लोक की ओर जाना चाहिए।"[1] दूसरी ओर सभ्यता और परंपरा के बदलाव ने इन्सान को इतना स्वार्थी बना दिया है कि वह मात्र विकास की ओर ही अग्रसर होता है । भौतिक सुविधाओं के साधन जुटाने में लगी सभ्यता मानव की आन्तरिक अभिव्यक्ति, सृजन क्षमता, सौन्दर्य भावना और उदात्त जीवन तत्वों से इतना विमुख है कि मानवता ह्रास के कगार पर खडी हो गई है । समुद्र से जुडे लोग प्रकृति के काफी करीबी हैं, उनकी सभ्यता और परंपरा को इस औद्योगिकीकरण ने रोंदा है । मत्स्य व्यापार से जुडे लोगों की ज़िन्दगी को विकास ने तहस-नहस कर डाला । मछुआरों की परंपरा उनकी सभ्यता का अस्तित्व खतरे में है । उपन्यास रह गई दिशाएँ इसी पार में देखिए "हारबर से भीमली तक विकास, आधुनिकीकरण और सुंदरीकरण के नाम पर सरकार ने जगह-जगह वायोलेट किया है । दूसरे, स्टील, प्लांट, विद्युत उत्पादन और दूसरी इंडस्ट्रीज़ का कचरा कहां गिरेगा, गिरेगा तो समुद्र में । पूरे शहर का कचरा कहाँ गिरेगा तो समुद्र में। मोटर निर्माण उद्योग, पर्यटन उद्योग, फिल्म उद्योग आ रहे हैं । इनका कचरा भी समुद्र में ही आयेगा । मछलियाँ जिंदा रहें तो कैसे ? मछलियाँ मरेगीं तो

1. विजय बहादुर सिंह, साक्षात्कार, जुलाई, 1999

मछुआरे मरेंगे।... समुद्र बचा तो मछलियाँ बचेगी, मछलियां बचेगी तो मछुआरे बचेंगे।"[1] सभ्यता और परंपराएं एक दूसरे से जुडी है, परंपरा यदि प्रकृति से जुडि होगी तो उसकी सभ्यता भी मानव के हित के लिए होगी । सच तो यह है कि सभ्यता का तंत्र अवगुणों और अनैतिकताओं का भँवर जाल बुन रहा है जिसकी जकड से आज का मानव निरन्तर इन्द्रियजन्य संवेगों, स्वार्थ वृत्तियों और शारीरिक ज़रूरतों से प्रेरित हो कर विवश होता जा रहा है । उसकी ज़रूरतें और विलास की वस्तुएं उसकी मूल क्षुधा बन गई हैं । इस प्रकार सभ्यता और परंपरा से मानव कट गया है । आज की सभ्यता हमारा संबंध सब ओर से काटकर केवल उपयोगी अथवा ज़रूरत की चीज़ों के साथ स्थापित कर रह गई है । इस स्थिति में पारिस्थितिक स्त्रीवाद ने प्रकृति से जुडी सभ्यता और परंपरा को नए सिरे से बुनने की कोशिश की है । क्योंकि प्रकृति से घुली मिली सभ्यता और परंपरा ही समाज को नया रूप दे सकती है । जिसमें स्वार्थ जन्य प्रकृति न हो, एक दूसरे के प्रति संवेदना की भावना विद्यामान हो । प्रकृति भी हमें इसी परंपरा में जीने की राह सीखाती है । इसका सीधा अर्थ यह है कि कि यदि प्रकृति का दुरुपयोग कर, उसकी संवेदना के साथ खिलवाड किया गया तो संपूर्ण सभ्यता समाप्त हो जाएगी। पर्यावरण शोषण प्राकृतिक आपदाओं का निमंत्रण है, जिससे परंपरा व सभ्यता का विनाश निश्चित है ।

---

1. संजीव - रह गई दिशाएँ इसी पार, पृ. 194-195

प्रकृति से घुली जीवन शैली

प्रत्येक जीवनशैली वहाँ की संस्कृति से प्रभावित होती है । जीवन शैली याने जीने का ढंग । गाँव की या पहाडी लोगों की जीवनशैली शहर और महानगरों से भिन्न होती है । उनके रहन-सहन और तौर तरीके में भी खासा परिवर्तन होता है । उनके जीवन की दिनचर्या शहर के लोगों से अलग प्रकृति से शुरु होती है । प्रकृति के आंगन से उनका दिन शुरु होता है और रात भी प्रकृति की छाव में ही कटती है । आदिवासी और गाँवों वालों के बहुत करीब है प्रकृति, इसलिए प्रकृति का शोषण इनका भी शोषण है । प्रकृति की जीवनशैली उनके जीवन का अंग है । संजीव का उपन्यास 'धार' इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है जीवनशैली और रहन-सहन का उदाहरण देखिए "आपको एक भी आदिवासी का घर गंदा नहीं मिलेगा, न अंदर से, न बाहर से चाहे वे सुअर ही क्यों न पोसे । आदिवासी औरतें सर पर एक गमछा रख लेंगी जो पीठ के नीचे तक फैली होगा, चाहे वे कोयला ही क्यों न ढो रही हो, जबकि दूसरी देशवाली औरतों, में ये चीज़ आपको नहीं मिलेगी।"[1] यानी आदिवासी स्त्रियाँ अपने जीवन को, अपने घर को सहेज कर रखती हैं जैसे प्रकृति ने मानव को सहेजा और संवारा है । वह तो मानव ही है जो इस प्रकृति का उपकार भूल रहा है और निरन्तर उसका शोषण करने में लगा हुआ है । इसी उपन्यास में उनकी जीवन शैली को दर्शाने वाला एक और उदाहरण देखिए "छोटे-छोटे घर-छोजन फूस की हो या खपेड़ की, सभी घरों

1. संजीव - धार, पृ. 39

में एक बात आम थी-दीवारों का ऊपरी भाग सफेद चिकनी मिट्टी से और नीचे स्याह सलेटी मिट्टी से लिपे हुए - ठीक सौताल औरतों की किनारीदार साडियों की तरह।"[1] यानी आदिवासी का रहन-सहन सीधे प्रकृति से मेल खाता है । उनका जीवन प्रकृति की जमीन पर खडा है । उपन्यास वनतरी में उनके रहन-सहन को देखिए 'परहिया ज़िन्दगी भर नीचे जमीन पर सौते हैं, वह भी पुआल अथवा पेडों की पत्तियाँ बिछाकर"[2] इस प्रकार प्रकृति से घुली जीवनशैली में विश्वास रखने वाली स्त्री की संवेदना अभिनंदनीय है ।

उत्सव व त्योहारों के विभिन्न रूप

सामाजिक जीवन में त्योहारों व उत्सवों का महत्वपूर्ण स्थान है । यह संस्कृति का ही एक रूप है । इससे लोगों में आपसी संबंध सुदृढ बनता है। प्रकृति के साथ जुडे पर्व लोगों को प्रकृति के निकट लाता है । इसमें स्त्रियाँ ही प्रमुख होती है । कभी सड़क की पूजा, कभी वृक्षों की, कभी चंद्रमा और ग्रहों की पूजा, प्रकृति के साथ के संबंध को गहरा बना देती है । उत्सवों के दौरान स्त्रियाँ पुरुषों को भी प्रकृति के करीब ला कर खडा कर देती है यानी जो पुरुष प्रकृति के शोषण में जुटा है, इन त्योहारों के माध्यम से वह प्रकृति के द्वारा किए गए एहसानों को याद करने की कोशिश करता है ।

उपन्यास 'चाक' में नायिका सारंग सभी उत्सवों को बडे चाव से मनाती है क्योंकि वह जानती है कि उत्सव मानव जीवन में उत्साह व खुशी

1. संजीव - धार, पृ. 38
2. सुरेश चन्द्र - श्रीवास्तव, वनतरी, पृ. 22-23

पैदा करते हैं । इससे आपसी संबंध और गहरे बनते हैं । नायिका के वैयक्तिक जीवन में दुखों का पहाड टूट पड़ता है लेकिन वह उत्सवों से परंपराओं से कभी नहीं भागती । स्त्रियों की संवेदना और प्रकृति की संवेदना एक है इसलिए वे एक-दूसरे से जुड कर ही संस्कृति का निर्माण कर सकती है । सारंग करवा चौथ का व्रत या उत्सव मनाती है "सारंग ने करवा चौथ काढी है, ज्यों कागज़ पर छपी तस्वीर हो पूरे चंद्रमा का गोला, जिसके हाथ, पाँच, पेट, कमर, आँख, नाक कान सब कुछ।"[1] इसी उपन्यास में दीवाली का उत्सव आता है, इसमें भी सारंग की भूमिका प्रमुख है "दीवाली के दिन घर-आँगन लिपा । चौका-चूल्हा सहेजा । पूरी-पकवान का दिन है दीवाली। सारंग सवेरे से लगी है।"[2] आगे संक्रा ति का दिन भी चित्रित है । यानी उपन्यास में कई पर्वों, उत्सवों, व्रतों का जिक्र हुआ है जो प्रकृति से घुल-मिल कर बने उत्सव हैं । इसमें कभी चांद की पूजा है तो कभी नदी में स्नान। स्त्रियां इसमें आगे है । यही भारतीय संस्कृति की पहचान है । उदाहरण के तौर पर संक्रन्ति दिन की शुरुआत देखिए "सूरज का घाम है कि चांदनी? माघ माह की किटकिटाती ठंड में अतरपुर की जन परजा करबन नदी के पाट पर जमा है । ... पार पर नहाई भीगी औरतें बेर, तिल, चावल, दाल और नया गुड थालियों में धर-धरकर बैठी।"[3] हर उत्सव प्रकृति का होता है प्रकृति का सबसे खास उत्सव है वनमहोत्सव, इस उत्सव में प्रकृति को कई

1. मैत्रेयी पुष्पा - चाक, पृ. 186
2. मैत्रेयी पुष्पा - चाक, पृ. 196
3. मैत्रेयी पुष्पा - चाक, पृ. 244

नए पौधे भेंट में मिलते हैं । इस दिन प्रकृति खुशी से झूम उठती है । उपन्यास 'वनतरी' में इसका चित्रण ऐसे है "वनतरी की दिनचर्या में कोई अन्तर नहीं पडा । रोज़ की तरह एक दिन सुबह उठी तो उसने देखा कि डुमरी गाँव में आज वनमहोत्सव मनाया जा रहा है .... वनतरी ने सोचा "जब सरकार वृक्षों पर इतना जोर दे रही है, तो वह क्यों पीछे रहे ।"[1] इस प्रकार उपन्यासों में रक्षाबंधन, सनूना, करवाचौथ, दीवाली, संस्कृति, होली का चित्रण है । इन सब उत्सवों में स्त्री केन्द्र में है । स्त्री द्वारा उत्सवों को मनाते हुए दिखाने का उद्देश्य भी यही है कि स्त्री का प्रकृति से संबंध, पुरुष के बजाय गहरा है । पूँजीवादी संस्कृति का प्रधिनिधित्व करता हुआ पुरुष अपनी संस्कृति, अपने त्योहार को भूल रहा है, प्रकृति से जुडे उत्सव भी वह भूलता जा रहा है क्योंकि विकास की इस दौड में वह प्रकृति का शोषण कर रहा है, फिर इस दौड के दौरान प्रकृति के उत्सव व त्योहारों के लिए उसके पास समय कहाँ? वह अपनी संस्कृति से दूर हो गया है । इस पर उपन्यास चाक में त्योहार से दूर होती संस्कृति पर विचार किया गया है । उपन्यास में पात्र, इस उदाहरण को प्रस्तुत करता है कि "साल-साल का त्योहार, आजकल नाच-गाने के लिए किसको फुरसत है।"[2] इस प्रकार त्योहार व उत्सव मिल कर ही संस्कृति का रूपायन करते हैं । यानी वह संस्कृति जिसमें प्रकृति का मेल है । जो भारतीय संस्कृति की निशानी है ।

---

1. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव - वनतरी, पृ. 32
2. मैत्रेयी पुष्पा - चाक, पृ. 356

लोकगीतों और हस्तकला

लोकगीत का लोप आज सरेआम हो रहा है । पूँजीवादी संस्कृति ने लोक को हाशिये में धकेल दिया है । सहज अभिव्यक्ति के लोकगीत, लोककलाएं सब नष्ट हो रहे हैं । पाश्चात्य संस्कृति ने लोक की उपेक्षा की है । वर्षा के लिए गीत, शादी-ब्याह के गीत, शोक गीत आदि प्रकृति से जुडे हैं । लोक गीत विभिन्न धार्मिक, व सामाजिक परंपराओं, मान्यताओं, भिन्न परिस्थितियों और मन के विभिन्न भावों से स्पन्दित होते हैं । शादी ब्याह में गाए जाने वाले गीत देखिए "अरी छोरी, अब चन्दा बादर ओरी । जुर मिल के डोर दोऊ भांवरी जी ऽऽऽ"[1] यानी लोक गीतों को हर उत्सव में गाया जाता है । इसमें प्रेम की अभिव्यक्ति, से लेकर शोक तक के सभी गीत शामिल है । विकास ने लोक गीतों की सच्चाई और उसके महत्व को भूला दिया है । स्त्री इन गीतों को सहेजती है, संवारती है क्योंकि लोकगीतों की संवाहिक स्त्री है । उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में कबूतरी जाति की विशेषता का बखान है । कबूतरों की जाति, उनकी जीवन गाथा पर इस उपन्यास में विचार किया गया है । उपन्यास में जंगलिया नामक पात्र की मृत्यु पर शोक गीत गाया जाता है । कबूतरियाँ चिता के पास बैठकर गाती हैं -

"आज तो जाओ तो पनफटे मत जातोरे
छोडो छोडो घूमती, मोर आवती फुलवादी
आवती, आवती, हमीर दे, वीर फोवडा...."[2]

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - चाक, पृ. 247
2. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 26

यानी हर जाति में अपने-अपने लोक गीत हैं । उपन्यास 'इदन्नमम्' में भी लोक जीवन और उससे जुडे हुए अन्य तत्वों की स्त्री के माध्यम से बचाए रखने का प्रयत्न प्रकट है । इसमें झांसी के आस-पास के गांवों की सभ्यता व परंपराओं का चित्रण है । नायिका मंदा, लोक जातियों यानि राऊत, भील, साहरिया के लिए संघर्ष करती है, उन्हें मज़दूरी दिलाती है । मंदा इन जातियों की परंपरा से जुडती है और उनकी सहज संस्कृति को ठेस पहुँचाए बिना उनके विकास के लिए प्रयास करती है । लोक गीत का उदाहरण देखिए

'बंधा सेतु नील-नाल नागर
राम कृपा जसु भयउ उजागर
बांधि सेतु अति सुदृढ बनावा
देखि कृपानिधि के मन भावा।"[1]

अर्थात् लोक से जुडे रामायण का बाचन इस उपन्यास में नायिका मंदा करती है । इसलिए इस उपन्यास में रामायण का पाठ पुनः पुनः किया गया है क्योंकि नायिका मंदा लोक की मिट्टी से जुडी है । वह वहाँ के साधारण से साधारण लोगों के शोषण के खिलाफ खडी होती है । लोकगीतों को बचाए रखने का कार्य मंदा स्वयं करती हुई दिखाई देती है । उसी प्रकार लोक गीतों के साथ-साथ लोक कलाओं का भी लोप हो रहा है । लोक कलाएं गाँवों या आदिवासियों के पास सुरक्षित थी । लेकिन आज जब कलाएं नष्ट हो रही है तो उनका नमोनिशान मिट चुका है । उपन्यास इदन्नमम्

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम्, पृ. 89

का उदाहरण देखिए "अब लोक चित्रकलाएं तो देखने को मिल जाएं वहीं बहुत । कहाँ सूनी भीतें रखना अपसुगन माना जाता था, परन्तु अब कौन परवाह करता है हस्तकला का लोप ही समझो।"[1] अर्थात् पूँजीवादी इस संस्कृति में लोककथाओं और कलाओं का लोप हो चुका है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद लोक से जुडी कथाओं और उसकी संस्कृति को बचाने का जिम्मा अपने ऊपर लेती है ।

जनसंख्या एवं पर्यावरण संकट

प्रकृति दोहन का सबसे बडा कारण जनसंख्या वृद्धि है, इस बात को नकारा नहीं जा सकता । बढती जनसंख्या से मानव का प्रकृति में स्थान घटता जा रहा है, इसलिए वह दिन ब दिन प्रकृति पर आक्रमण करता है । मानव की सबसे बडी ज़रूरत उसका आवास है किंतु जनसंख्या की इस बढती दर ने व्यक्ति का आवास छीन लिया है । साथ ही मानव के अधिवास पर भी खतरा मंडरा रहा है । यानि अपने रहने या बसने के स्थान को लेकर वह चिंतित है । वैसे तो मानव के मूलभूत तीन ज़रूरते हैं रोटी, कपटा, मकान । इसमें सबसे पहले मानव मकान के लिए चिंतित होगा, क्योंकि शायद उसकी मूलभूत ज़रूरत उसका आवास है । उपन्यास 'समय सरगम' में नायिका आरण्या आवास की सच्चाई को इस प्रकार ब्यान करती है "सच तो यह आवास ही मानसिक विकास और नागरिक का मूल है ।... आवास

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम् - पृ.356

की सुविधा ही नागरिक जीवन का आधार है।"[1] शताब्दी के शुरु में दस में से सिर्फ एक व्यक्ति शहर में रहता था और शताब्दी के अंत तक आते-आते ज़्यादा से ज़्यादा लोग शहरों में रहने लगे । शहरीकरण अथवा नगरीकरण ने हर प्रकार के संकट को न्योता दिया । आवास, पानी, यातायात दूसरी मूलभूत समस्याएँ मानव के लिए चुनौती बन गईं । जनसंख्या वृद्धि से सबसे ज़्यादा असर प्रकृति पर ही पडा । आवास की खोज ने और औद्योगिकीकरण ने प्रकृति का शोषण किया । बढती जनसंख्या ने अपने वातावरण को भी प्रभावित किया है इससे मानवीय संबंध भी बिगडे हैं । क्योंकि जब किसी प्रदेश विशेष की जनसंख्या का भार वहाँ के भौतिक साधनों की धारणा क्षमता से अधिक होता है तो वहाँ संकट की अवस्था बन जाती है ।

जनसंख्या वृद्धि के दुष्प्रभावों में प्रमुख यह है कि पृथ्वी की प्राकृतिक संपदा सीमित है, भविष्य में इसी सीमित संपदा से ही हमें अपना निर्वाह करना पडेगा । लेकिन जनसंख्या वृद्धि तथा प्राकृतिक संपदा का दोहन दोनों में समन्वय निश्चित ही सीमा विशेष के बाद असन्तुलित हो उठेगा । यह भविष्य में सबसे बडा संकट होगा । कृष्णा सोबती अपने उपन्यास समय सरगम में जनसंख्या विस्फोट पर लिखती है "इस लोक की सीमा पर भारतीय नागरिकों के लंबे क्यू होंगे । एक ओर से निरोध बँट रहे होंगे और दूसरी ओर भारतीय बच्चों को पोलियों के टीके लग रहे होंगे ।... जनसंख्या को लेकर ऊपरवाली संसद में विरोध बिल भी पारित हो सकता है ।"[2] इसमें

1. कृष्णा सोबती - समय सरगम, पृ. 125-126
2. कृष्णा सोबती - समय सरगम, पृ. 141

कोई शक नहीं कि अगर जनसंख्या में इसी प्रकार वृद्धि होती रही तो जल्दी ही पृथ्वी की धारण क्षमता से अधिक लोग हो जाएगें । भूमि विनाश, व्यर्थ अपशिष्यों की उत्पत्ति, प्राकृतिक साधनों का स्खलन, तथा पृथ्वी का प्रदूषण आदि सभी पर्यावरण संकट जनसंख्या वृद्धि के साथ बढेगें । एक चेतावनी के अनुसार यदि जनसंख्या इसी तरह बढती रही तो अगले सात सौ से भी कम वर्षों में पृथ्वी के प्रत्येक वर्ग फुट क्षेत्र में एक व्यक्ति होगा ।

प्राकृतिक आपदाएँ

आज पर्यावरण के अत्यधिक दोहन से समस्त परिवेश संकट में पड गया है । प्रकृति को विकास के नाम पर शोषित किया जा रहा है, शोषण की निरन्तर बढती इस प्रक्रिया ने प्रकृति की क्षमता को चुनौती दी है । मानवकृत विपदाओं का कोई अंत नहीं है, वनों की कटाई, बांधों का निर्माण, कृषि का विनाश, पेड-पौधे, जीवन-जन्तुओं का शोषण आदि ने प्रकृति को पूरी तरह खाली कर दिया है । प्राकृतिक आपदाएं इसी शोषण के परिणाम हैं । डॉ. हरिश्चन्द सिंह इस संदर्भ में लिखते हैं "प्राकृतिक प्रक्रियाओं या मानवी-क्रियाओं द्वारा जो गंभीर घटनायें होती हैं वे प्राकृतिक पर्यावरण की प्रक्रियाओं को भंग करती है फलस्वरूप मानव मात्र के लिए संकट उत्पन्न होता है - जैसे भूकंप, बाढ, ज्वालामुखी आदि।"[1] दो तीन साल पहले हुए उत्तराखंड की प्राकृतिक आपदा इसका एक उदाहरण है । पर्यटन और विकास की लालसा

1. नवीन जोशी - दावानल, पृ. 113

ने उस प्रदेश के पर्यावरण को ठेस पहुँचाई । प्रकृति का दोहन असीमित हो गया परिणाम स्वरूप प्राकृतिक आपदा के कारण कई प्रदेश पानी में मिल गए । हाल ही की इस घटना ने यह साबित किया कि प्रकृति की क्षमता पर बार-बार चोट करने का यही परिणाम होता है । उपन्यास 'दावानल' में प्राकृतिक प्रकोप के दृश्य को यों अंकित किया गया है "जानवर एक हफ्ते से गोठ में ही बंद हैं, ऐसे में चरने के लिए जंगल कैसे भेजे? ..... ठीक गाँव के सिर पर यह पहाड खतरनाक भी बहुत हो गया है । जबसे पेड सफाचट हुए मिट्टी और पत्थर बिल्कुल ही आज़ाद हो गए।"[1] यानी प्राकृतिक आपदाओं का कारण मनुष्य द्वारा प्रकृति का शोषण ही है । उपन्यास 'पहाड चोर' में भी पहाड को तोडने और उससे खनिज संपदा लूटने की वजह से पहाड टूट कर गिर पडता है । गांव वाले विकास के नाम से अपने पहाड को बेचने के लिए तैयार हो जाते हैं लेकिन वे यह भूल चुके थे कि जिस पहाड ने उन्हें हवा, पानी, संकटों से बचाए रखा, उसी पहाड- को उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए बेच दिया । अब जब पहाड पर डाइनामाइट लगा कर उसे तोडा जा रहा है तो गाँव वाले पहाड के प्रति चिंतित हैं । मतलब पहाड का गिरना उनके गांवों का नष्ट होना है । "हे भगवान, बखत से हमने अपना पहाड नी बचाया । जीवन देने वाला यह पहाड आज टूटकर बिखर रहा है और मौत का भय पैदा कर रहा है । हमने इसके साथ जो होने दिया, यह भी हमारे साथ आज वैसा ही कर रहा है । हम जब अपना पहाड बचाने को

1. नवीन जोशी - दावानल, पृ. 113

जागे, तब देर हो चुकी थी... बहुत देर... हमे पापों को क्षमा करना प्रभो.... सब कुछ छीन लेना, पर न झूंडखाल को छीनना, न इसके पहाड को छीनना और न ये जीनव छीनना।"[1] प्राकृतिक आपदाएं आज के समय का सबसे बडा संकट है । इसका कारण भी मानव की विकास नीति है । उसके स्वार्थ ने ही प्रकृति को यह आचरण करने पर मज़बूर किया है । वस्तुतः वर्तमान परिस्थितियों में प्राकृतिक आपदाओं से बचने के लिए पर्यावरण प्रबंधन ही एक मात्र ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा पर्यावरण संकट पर नियंत्रण पाया जा सकता है । पर्यावरण प्रबंधन आज के समय की सबसे बडी ज़रूरत है ।

मानवीय मूल्यों का विघटन

पर्यावरण संकट के इस दौर में व्यक्ति अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष रूप से मूल्यों के ह्रास का पुतला बन चुका है । उसकी संवेदनाएं, उसकी प्रतिक्रियाएं सब आधुनिकीकरण की चपेट में है । वह यह समझने में भी असमर्थ हो गया है प्रकृति का विनाश सीधे उसके विनाश का कारण बन चुका है । आज जिस समय में हम खडे हैं उस समय में मानवीयता खत्म हो चुकी है । चारों ओर असुरवृत्ति का तांडव है, असुरवृत्ति के इस तांडव में मानवीयता खत्म होती जा रही है । इस समय में जब थोडी बहुत मानवीयता बची है जिससे सही गलत की पहचान कर सकते हैं, यही से नव-मानवीयता की शुरुआत मानी जाती है । आधुनिकता व वैज्ञानिकता से पूर्व व्यक्ति-व्यक्ति की संवेदना का

1. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 359

मोल पहचानता था किंतु अब एक-दूसरे के पास देने के लिए उनके पास समय ही नहीं है । इसी भाग-दौड में उसने अपनी संस्कृति की क्षति संरक्षण की देवी रूपी प्रकृति को भूला दिया । ऐसा माना गया है कि प्रकृति का सिर्फ बाह्य पक्ष नहीं होता है उसका प्रभाव अंतर्मुख में भी वास करता है जो उसके भाव जगत को ही नहीं, उसके जीवन मूल्यों, जीवन शैली और क्रिया-कलाप को एक समन्वित सत्ता के रूप में प्रकट करता है । इसका परिणाम यह होता है कि कभी मानव पर्यावरण की सत्ता को स्वीकार करता है तो कभी उसी पर्यावरण को अपने अधीन करने की कोशिश करता रहता है । लेकिन जब मानव पर्यावरण को अपने हाथों विकृत करता है तो उसके भीष्ण परिणाम निकलते हैं । मूल्यों का ह्रास मानवता के लिए सबसे बडा संकट है । यानी मानव प्रकृति और मानव-मूल्य को लेकर आज की सबसे प्रमुख समस्या मनुष्य के शेष प्रकृति के साथ संबंध को नए सिरे से परिभाषित करने की है। वैज्ञानिक विकास के प्रारंभ के साथ ही मनुष्य और मनुष्येतर प्रकृति के बीच एक संघर्ष शुरु हो गया । जब से यह स्पष्ट हुआ कि प्रकृति का ध्वंस कर मानव अपने ही विनाश को आमंत्रित कर रहा है तो प्रकृति की रक्षा के प्रयास आरंभ हुए, पारिस्थितिक स्त्रीवाद मात्र प्रकृति की रक्षा के लिए प्रयास ही नहीं करता बल्कि प्रकृति से जुडे मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए प्रयासरत है । मानवीय मूल्यों की श्रेष्ठता पर विचार करते हुए नवल किशोर लिखते हैं "मनुष्य की प्रकृति मूलतः अथवा अनिवार्यतवश मनुष्य और मनुष्येतर सृष्टि के प्रति मैत्रीभाव की है और इस मैत्रीभाव से प्रेरित प्रेम ही चरम

मानवीय मूल्य है।"[1] सच्चाई तो यह है कि जब तक मानव प्रकृति से जुडा था तब तक उसके मूल्य संवेदना से युक्त थे । अर्थात् उसके अंदर मानवीय मूल्य जीवित थे । लेकिन जब से मानव प्रकृति से दूर होकर विज्ञान की शरण में गया है तब से उसकी हर संवेदना बिखर गई है । अब मानव प्रकृति से दूर होकर मृत्यु तक को चुनौती देना चाहता है । उपन्यास रह गई दिशाएं 'इसी पार' में मूल्यों के ह्रास का सबसे बडा उदाहरण यह है कि पात्र बिजारिया मृत्यु को जीतना चाहता है । इसके लिए वह अपनी संपति लूटाता है ताकि वह कभी भी मृत्यु का वरण न कर पाए । वैज्ञानिकों के माध्यम से वह अपनी इस इच्छा की पूर्ति करना चाहता है । कहता है 'मेरी प्राब्ल्म् अमर होने की नहीं, अजर होने की है।"[2] इस प्रकार कहा जाए तो मूल्यों के ह्रास के चलते मानव-मानव से दूर हो गया है लेकिन पारिस्थितिक स्त्रीवाद नव-मानवीयता की स्थापना करता है जिसमें प्रकृति से मिलकर बने मानव-मूल्य हों । जो मानव को मानव का दर्जा दे और प्रकृति की संवेदना को भी अपनाए । प्रकृति से जुडी संस्कृति ही आज की पारिस्थितिक संकट का समाधान है ।

संक्षेपतः कहा जाए तो भारतीय संस्कृति का भारतीय पर्यावरण से अटूट संबंध रहा है । हमारी संस्कृति के निर्माण में पर्यावरण का भी योगदान माना जाता है । भले ही यह योगदान परोक्ष रूप से हो । लेकिन संस्कृति का सौन्दर्य पर्यावरण की वैविध्यता की छवि से ही सुसज्जित है । अर्थात् हमें

1. नवल किशोर - मधुमती जनवरी - वर्ष 1995
2. संजीव - रह गई दिशाएं इसी पार, पृ. 121

जितनी ज़रूरत संस्कृति को बनाए रखने की है उतनी ही ज़रूरत प्रकृति को बचाए रखने की है ।

जीवनदायिनी शक्तियों का संकट

जीवनदायिनी शक्तियाँ प्रत्येक जीव-जन्तु व पेड-पौधों को जीवन प्रदान करती है । यदि जीवनदायिनी शक्तियों पर संकट आ गया तो जीवन भी संकट में पड जाएगा । यानि जब जीवनदायिनी प्रणालियाँ (Life supporting system) फेल हो जाए तो पर्यावरण संकट आरंभ हो जाता है । मानव जीवन के संचालन के लिए, उसकी सुरक्षा के लिए इन शक्तियों की उपस्थिति अति आवश्यक है । जीवनदायिनी शक्तियों में प्रमुख रूप से भूमि, वायु और जल है । इन तीनों का अस्तित्व आज खतरे में है । औद्योगिकीकरण और विकास की इस भाग दौड में सबसे अधिक दूषित व शोषित भूमि, वायु और जल है । जैसा कि हम सब जानते है कि इन तीनों की वजह से ही मानव जीवन व प्रकृति के जीव-जन्तु व पौधों का अस्तित्व कायम है, इसलिए इनके शोषण से विनाश का खतरा बढ गया है । अब इनकी सुरक्षा व संरक्षण के लिए प्रयास किए जा रहे हैं । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में इन तीनों की सुरक्षा के प्रयास के लिए स्त्री केन्द्र में आई है यानी जीवन देनी वाली स्त्री ही जीवनदायिनी शक्तियों की सुरक्षा व संरक्षण में लगी है ।

भूमि

पारिस्थितिक के शोषण का सबसे अधिक प्रभाव भूमि पर पडता है। औद्योगिकीकरण की चपेट ने भूमि का शोषण इतना किया है कि भूमि अब दिन ब दिन समाप्त होने की कगार पर है । विकास के नाम पर भूमि के साथ बलात्कार हो रहा है । नगरीकरण और शहरीकरण ने भूमि को और अधिक शोषित किया है । उस पर हो रही योजनाएं, उद्योग, फैक्टरियां आदि इसके शोषण का एक भाग है । यानी दिन प्रतिदिन भूमि पर विकास के नाम पर कई ईमारतें और भवन बन रहे है जो सीधे भूमि को विनाश की ओर पहुँचाता है धरती के बढते पारिस्थितिकीय असंतुलन पर सुंदरलाल बहुगुणा लिखते है "वस्तुस्थिति यह है कि धरती में बढते हुए पारिस्थितिकीय असंतुलन को सुधारने के लिए किसी के पास ऐसा अजूबा नुस्खा नहीं है, जिसे अचूक माना जा सके । परिस्थितियाँ इतनी जटिल हो गई है कि तत्काल कोई कदम नहीं उठाया गया तो सारे उपग्रह के लिए मौत मुँह बाये खडी है ।"[1] यानी धरती पर शोषण की मात्रा सबसे अधिक है । भूमि को सहन का पर्याय माना जाता है लेकिन शोषण ने इतनी हद पार कर दी है कि आज भूमि भी सहन शक्ति को भूल चुकी है । पहले भूमि पर पॉव रख कर चलने पर भी खेद होता था अर्थात् प्राचीन समय में ऐसा विश्वास था कि भूमि पर चलने से उस पर रहने वाले कीटमकोडे मर-मिट सकते हैं इसलिए उनसे प्रार्थना कर ही भूमि पर कदम रखा जाता था । प्रार्थना का संकेत कुछ ऐसा है

1. सुन्दरलाल बहुगुण -धरती की पुकार, पृ. 61

"विष्णु पत्नी नमः स्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे"

(हे धरती माता! मैं तुम्हे नमस्कार करता हूँ । मज़बूरी से मुझे तुम्हारे ऊपर चलना पडता है । पैरों से स्पर्श करना पडता है, इसलिए मुझे क्षमा करो ।") लेकिन आज स्थिति पूरी बदल चुकी है । आज भूमि को देवी का दर्जा देकर उसकी पूजा नहीं की जाती बल्कि उसे बेचा खरीदा जाता है, उसकी छाती पर विशालकाय भवन बनाकर विकास की नीति अपनाई जा रही है । इन सब के पीछे उपभोगवादी संस्कृति ही काम कर रही है । 'रह गई दिशाएँ इसी पार' नामक उपन्यास में भी ज़मीन पर हो रहे शोषण की चर्चा है। "आबादी की रफ्तार देख ही रहे हो । अन्न की पैदावार, माना कि बढी है, मगर बढने की भी एक सीमा है, फिर ज़मीन की भी सीमा है, वह सीमा दिनों दिन छोटी होती जा रही है।"[1] अर्थात् आबादी की बढती दर से भूमि पर भार बढता जा रहा है । भूमि की शक्ति भी अब जवाब दे रही है । अच्छी पैदावार के लिए कीटनाशों का प्रयोग भी भूमि को जहरीला बना रहे हैं । भूमि अब बंजर बनती जा रही है । भूमि की उपजाऊ शक्ति भी घट गई है । जिससे पैदावार भी कम हो रही है । भूमि पर दोबारा से अच्छी पैदावार के लिए कीटनाशकों का प्रयोग किया जाता है जो भूमि को और बंजर बनाने में सहायक होती है । 'पांव तले की दूब' नामक उपन्यास में प्लाण्ट के बनने से जो धरती का हाल हुआ है उस पर विचार किया गया है । प्रदूषण से धरती बंजर और सूखी

1. संजीव - रह गई दिशाए इसी पार, पृ. 65

हो गई है । "जब से प्लाण्ट बना है, चिमनी से उडने वाली राख और गैसों के चलते प्रदूषण बढा है और ज़मीन बंजर होती चली गई है। अब इन गांवों के खेतों में पहले का एक-चौथाई अनाज भी नहीं पैदा होता।"[1] भूमि को शोषण से बचाने के कई उपाय किए जा रहे हैं । यदि भूमि संरक्षण के उपाय नहीं किए गए तो भूमि का विनाश निश्चित हो जाएगा और मानव राशी पूरी तरह से नष्ट हो जाएगी । भूमि की सुन्दरता उसकी प्रकृति से है, लेकिन इस सुन्दरता को मानव ने ही नष्ट किया है । जैसे "अंगी-अधनंगी, पहाडियाँ... जहाँ-तहाँ खडे शाल, महुए, खजूर और ताड के पेड, ढेरे की झाडियाँ, बलुई बंजर धरती..."[2] यही आज की भूमि की सुन्दरता है जो सही अर्थों में असुन्दरता का प्रतीक है, चारों ओर ईमारतें और भवन हैं, हरियाली व वृक्षों का कही नामोनिशान नहीं ।

जल

मानव जीवन का सबसे ज़रूरी तत्व जल ही है । वैसा माना भी गया है, जल ही जीवन है । जीवन के लिए अनिवार्य इस तत्व की आज किल्लत है । चारों ओर पानी के संकट को लेकर चिंता जताई जा रही है । क्योंकि जल धरेलू आवश्यकताओं, कृषि आवश्यकताओं तथा औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ज़रूरी है । यदि जल की कमी हुई तो इन सब क्षेत्रों में सूखे की स्थिति आ जाएगी ।

---

1. संजीव - पाँव तले की दूब, पृ. 84
2. संजीव - धार, पृ. 41

दरअसल, आज़ादी के बाद जो नीतियां अपनायी गयीं, उनसे हमारे जल प्रणाली पर गहरा आघात पहुँचा है । पेड काटे गए, वन क्षेत्र सिकुडता गया । नतीजा यह हुआ कि वर्षा का पानी ज़मीन के भीतर कम जमा हुआ। जल स्तर नीचे चला गया । सत्तर के दशक के बाद जिस रफ्तार से ट्यूबेल लगाए गए, उससे भू-जल स्तर और भी सिकुड गया । इस प्रक्रिया में धीरे-धीरे पानी समाप्त हो गया । दूसरी ओर जल प्रदूषण से जल और भी विनाश की कगार तक पहुँच गया । यानी फैक्टरियों और उद्योंगों से आने वाले रसायन कचरा आदि सीधे पानी में जा कर मिलता है, लोगों के कचरे का भार भी पानी को ही झेलना पडता है । साथ ही खनन की प्रक्रिया से, विस्फोटो से धरती कंपित हुई और इसका पानी के स्रोतों पर सीधा प्रभाव पडा । कई स्रोत लुप्त हो गए । उपन्यास 'पहाड चोर' में देखिए तो पता चलता है कि विस्फोटों की वजह से पानी सूख जाता है ।उपन्यास की पात्र सुखिया जब पानी लेने जाती है तो उसे कहीं पानी नज़र नहीं आता । "सुखिया को लगा जैसे बच्चा माँ को हैरान, परेशान करने के लिए कहीं छिप जाता है, वैसे ही धार भी आज शरारत कर रही है।.... वह पहाड के किनारे दौडने लगी । फिर उसकी यह दौड़ उस औरत की बेचैन दौड में बदल गई, जिसका बच्चा शरारत में कहीं छिपा हुआ नहीं, सचमुच खो गया हो । दौडते-दौडते पस्त हो गई । धार नहीं मिली, पहाड के पता नहीं किस अंतर-कोने में दुबक गई।"[1] पारिस्थितिक संकट का ही परिणाम है यह कि

1. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 175-176

पानी की धार हर कहीं सूख रही है । वनों के कटाव से, आधुनिकीकरण की व्यवस्था से खनन प्रक्रिया से पानी का बहाब रुकता जा रहा है । इसलिए उपन्यास दावानल में पुष्कर की माँ कहती है "पेड ही नहीं बचे, पानी कहाँ बचता।"[1] यानी पेडों के कटने से पानी की भी कमी हो गई है । स्त्री पानी को बचाने का अथक प्रयास करती है क्योंकि प्रकृति के सबसे करीब वही है । राजस्थान के गांवों में जहाँ पानी की किल्लत सबसे ज़्यादा थी, वहाँ स्त्रियों ने मिलकर तलाई खोदी जिससे पानी का संकट दूर हो गया । पुरुषों ने पहले तो स्त्रियों का मज़ाक उठाया पर बाद में वे भी स्त्रियों के साथ हो लिए । "महिलाएं अगर तलाई बनाने का प्रस्ताव देती हैं तो उस समूह की आगेवान की जिम्मेदारी होती है उसे पूरा करवाना । काम शुरु करवाने से लेकर भुगतान तक का काम वही करती है।"[2] अर्थात् राजस्थान की महिलाओं ने पानी के संकट से इस प्रकार निजात पाई । उपन्यास 'वनतरी' में नायिका वनतरी भी पानी को लेकर चिंतित है । क्योंकि मानव तो प्यास से तडप ही रहे हैं साथ ही जानवर भी प्यास से मर रहे थे । इसलिए वह दुखी है, वह अपने गांव में पानी लाने का प्रयास करती है । कहती है "हम लोगों को भले ही कष्ट हो, पर ये बिचारे जानवर ? पानी बिना मर रहे हैं।"[3]

संक्षेपतः पानी का महत्व इतना है कि मानव शरीर 80% पानी से ही निर्मित है । जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ पीने के स्रोत कम होते गये तथा

1. नवीन जोशी - दावानल, पृ. 280
2. नीलम गुप्त - छोटी दखी और नर्मदा, पृ. 76
3. सुरेश चंन्द्र श्रीवास्तव - वनतरी, पृ. 80

स्वच्छ पानी की कमी होने लगी । जो पानी हमें मिलता है वह पीने योग्य नहीं है । इसमें अनेक तत्व मिले रहते हैं जो मानव शरीर में या अन्य जीवों में प्रतिक्रियाएं करते हैं जिससे प्राणी रोगग्रस्त होकर अपना जीवन खो देता है।

वायु

वायु मानव के लिए उसके जीने का आधार है । वायु से तात्पर्य उस हवा से है जो हम श्वास के रूप में ग्रहण करते हैं और जिंदा रहते हैं । यह वायु मात्र मानव के लिए ही नही वरन् जीव-जन्तु व पेड-पौधों के लिए अनिवार्य है । वायु विभिन्न गैसों का मिश्रण है जो वायुमंडल में व्याप्त है . मानव आक्सीजन (Oxygon) प्राप्त कर जिंदा रहता है तो पेड पौधे कार्बनडाइआक्साइड लेकर । यह आदान-प्रदान की प्रणाली है जहाँ मानव ऑक्सीजन लेकर कार्बनडाइऑक्साइड छोडता है वहीं पेड-पौधे कार्वनडाइऑक्साइड लेकर आक्सीजन छोडते हैं । इसी प्रणाली पर प्राकृतिक संतुलन कायम है । वैसे तो वायुमंड़ल में विभिन्न गैसों का अपना-अपना अनुपात है लेकिन आज वायुमंडल में कार्बन की मात्रा अधिक हो गई है । इसका कारण बढते उद्योग, जनसंख्या व प्रदूषण की अधिकता है । दूसरी ओर पेड-पौधों का आवरण नष्ट हो रहा है जिससे कार्बन जैसी गैस का अवशोषण (Absorbtion) नहीं हो पा रहा । ताप बढना, वर्षा ना होना, सूखा होना इसी के परिणाम है । वायु के प्रदूषण को दूर करने से ही पारिस्थितिक संतुलन बन सकता है । इसलिए आज इस मुहिम पर प्रयास चल रहे हैं ।

तापमान के बढने से संपूर्ण जीवमंड़ल का अस्तित्व खतरे में पड गया है।

आज हम जिस हवा में सॉस ले रहे हैं वह पूरी तरह से गैस-चैम्बर' का रूप ले चुकी है । यानी पूरा वायुमंडल जहरीला बन गया है । वायु प्रदूषण का मुख्य कारण वाहनों, उद्योगों से निकली जहरीली गैसें हैं । उपन्यास 'समय सरगम' में नायिका कृष्णा सोबती वायु प्रदूषण को लेकर चिंतित है, स्त्री की यह चेतना पारिस्थितिक स्त्रीवाद की सोच है । "वैसे आज ही एक ज्ञापन देने जा रही हूँ नगरपालिका को कि हमारे प्राचीन फेफडों का भी कुछ ख्याल करें । शहर का धुआँ हमारी आत्माओं को काला कर रहा है।"[1] यानी वायु प्रदूषण से मानव जाति ही नहीं, जीव-जन्तु भी प्रभावित हो रहे है, उनकी धमनियों में भी जहरीली वायु प्रवेश कर रही है । आधुनिकता और विकास के नाम पर मानव ने जो कदम उठाए, आज वही प्रदूषण के रूप में मानवीय अस्तित्व के लिए ही प्रश्नचिह्न बन गए हैं । वायु प्रदूषण के मुख्य स्रोत मोटर-गाडियों से उत्सर्जित गैसें, धुआ एवं कणीय पदार्थ, उद्योगों द्वारा कोयला एवं पेट्रोलियम पदार्थ का दहन तथा अन्य उपक्रमों द्वारा उत्सर्जित हानिकारक है गैसें तथा धरेलू ईधन एवं कचरे का जलना है । फलस्वरूप वायु प्रदूषण से श्वास, दमा और कैंसर आदि बीमारियों का उत्पन्न होना । सबसे बडी बात वायु प्रदूषण के फलस्वरूप ओज़ोन स्तर में लगातार कमी आ रही है । जो सीधे धरती को प्रभावित करती है ।

कुल मिलाकर पर्यावरण में वायु प्रदूषण का जो परिदृश्य सामने है,

---

1. कृष्णा सोबती - समय सरगम, पृ. 33

उससे ऐसा नहीं लगता है कि आगामी चार-पांच वर्षों में अभी से बेहतर स्थिति बन पाएगी, लेकिन इतना ज़रूर है कि पर्यावरण सुधार के तहत जो भी तरकीब अपनाई जाएगी, उसके परिणाम सकारात्मक होंगे ।

खनिज संपदाओं का संरक्षण

हमारे जंगल प्राकृतिक संपदा के स्रोत है । हमारे पहाड, नदियां आदि संपदा के ही अंग है । उपन्यास 'पहाड चोर' में पहाड है, उसके नीचे बसे गाँवों की कहानी है । पहाड औरतों के हंसने के साथ हंसता है रोने के साथ रोता है और गाने के साथ गाता है । क्योंकि संपदा सीधी स्त्री से संबंध रखती है । "ऊर्जा, प्रकाश कोयला और राख की कहानी है, पहाड की औरत"[1] प्राकृतिक संपदा का खजाना है 'पहाड चोर' नामक उपन्यास का गांव । यह गाँव वैसे तो मोचियों के सोलह परिवार का है लेकिन इस झण्डुखाल नामक गाँव में प्राकृतिक संपदा भरपूर है । जिसे विकास के नाम पर लूटा गया "उस इण्डूखाल में जो चारों ओर पहाडियों से घिरा अंगूठी में जड़े नग की तरह चमकता था और जिसके पहाड में तुन, साधन, भिमल, सुनधा, ककडाल, गुरियाल, जंगली खजूर और चीड के आसमान से होड लेते दरखतों के पैरों में मालू, बेर, करोंदे, लिलवाडा, अरण्डी, सेमला, वांसा, हंसराज के झाड धूंधरु की तरह बँधे थे, जो हवा चलने पर संगीत सिरजते और बारिश के साथ नाचने लगते ।"[2] प्राकृतिक संपदा को जंगल का धन भी कहा जाता है।

---

1. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 72
2. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 9

इस धन को आज लूटा जा रहा है । उपन्यास 'वनतरी' भी जंगल से जुडी कहानी है, इसमें भी प्राकृतिक संपदा के खजाने को दिखाया गया है "महुआ के फूल हैं, कोयना है और डोरी भी । इमली, गैंता, टेना और गेठी जंगल के धन है।"[1] यानी प्राकृतिक संपदा का मानव जीवन में बहुत महत्व है लेकिन आज के स्वार्थ के लिए मानव इस संपदा को लूट रहा है ।

दूसरी और खनिज संपदा का शोषण बडे पैमाने पर हो रहा है । खनिज संपदा की माँग ने खनन उद्योग को फैलाया है । खनन की बढती रफ्तार ने पर्यावरण को क्षति पहुँचाई है । उपन्यास 'धार' में खनन क्षेत्र को आधार बनाया गया है । उपन्यास की नायिका मैना कोयला खनन में काम करती है । खनिज संपदा को बनाने से लेकर बेचने तक का काम यहां होता है । लेकिन इसमें भी हेराफेरी होती है । कोयले के लिए ज़मीन को अधिक से अधिक खोदा जाता है । इससे ज़मीन की मिट्टी और उसकी उपजाऊ क्षमता में कमी आती है । जैसे "यह तो ए-ग्रेड का कोकिंग कोल लगता है - बाज़ार में काफी कीमत है इसकी । अगर यहाँ से निकला है तो ज़रूर नीचे का होगा जैसे- जैसे नीचे जायेंगे । अच्छा कोयला मिलेगा ।"[2] इस प्रकार खनन की प्रक्रिया से पर्यावरण का शोषण होता है । विकास और तरक्की के नाम पर पहाडों को बेचा जाता है । उपन्यास 'पहाड चोर' में भी पहाड

---

1. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव - वनतरी, पृ. 24
2. संजीव - धार, पृ. 95

को चूना पत्थर वालों को बेचा जाता है जिससे पहाड के नीचे रहने वालों का जीवन दूभर हो जाता है । पहाड को तोडने से पर्यावरण संकट का खतरा अधिक बढ जाता है । जैसे "बहुत असुरक्षित हो गया उनका पहाड । उसके सीने में डाइनामाइट बिछ गए हैं, टोलियों को सुरक्षित जगह कहाँ मिलेगी? यह असुरक्षित पहाड भयत्रस्त झण्डूखाल, उसके पेड और पर पखेरुओं को कैसे सुरक्षा देगा।"[1] स्त्री प्राकृतिक संपदा और खनिज की संरक्षिका है । वह पर्यावरण को बचाने में समर्थ है, इसलिए उपन्यास धार की नायिका मैंना मर के भी नहीं मरती । ऐसा विश्वास है लोगों में कि मैंना इस पर्यावरण को औद्योगिकीकरण से बचाने के लिए दोबारा जन्म लेगी । "वह मरी नहीं, मर सकती ही नहीं, जिस दिन सब बुलडोज़र को उलट आयेगी, वह फिर हमारे बीच चली आयेगी।"[2] इस प्रकार जिस प्राकृतिक संसाधनों का दुरुपयोग हमने आज तक किया है उसका परिणाम अब हमारे सामने है । वनों की कटाई, खननों की प्रक्रिया ने पर्यावरण के अस्तित्व को हिला कर रख दिया है । इसलिए आज इनके संरक्षण की बात पर जोर दिया जा रहा है । आशा है कि भविष्य में प्राकृतिक संसाधनों की मात्रा का उचित उपयोग किया जाएगा और पर्यावरण को इस कमी की कीमत नहीं चुकानी होगी । क्योंकि वर्तमान में तो हर कमी की कीमत पर्यावरण को ही चुकानी पड रही है इसलिए आज इन प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण अतिआवश्यक हो गया है।

---

1. संजीव - धार, पृ. 210
2. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 46

सारांश यह है कि यह आधुनिक प्रौद्योगिकी एक ऐसी संस्कृति में पनपी और बढी जो मूलतः आक्रमणशील थी, उसमें उदारता और संयम के गुण नहीं थे, और यही कारण है कि वह आगे चलकर भयंकर साबित हुई । मानव प्रकृति पर निर्भर होने के बजाय यंत्रों पर आश्रित हो गया या यूं कहें कि यंत्रों के आधीन हो गया । परिणाम स्वरूप जिस रफ्तार से प्रकृति पैदा होती है, उसी रफ्तार से मानव प्रकृति को काट कर नष्ट कर रहा है । जब मानवीय हस्ताक्षेप प्रकृति पर होता है तो इसका घातक प्रभाव पेड-पौधों, पशु-पक्षियों व मनुष्यों पर भी पडता है । आज पारिस्थितिक असंतुलन के प्रभावों से हम सब वाकिफ हैं । पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रखना ही आज की सबसे बडी मांग है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद (Eco- Feminism) इस मुहिम में अपना हाथ आगे बढा चुका है क्योंकि पारिस्थितिक को बचाने की सबसे पहल जिम्मेदारी स्त्री की है, वह अपनी जिम्मेदारी बखूबी परिचित है । वह यह मानती है कि प्रकृति को बचाने का मतलब मानव जाति को बचाना है । इस प्रकार ह्रासमान पारिस्थितिक तंत्र को संभालने और भविष्य के विकास की नीति को तय करने के लिए इस अवधारणा को आधार बनाना ज़रूरी है ।

❖ ❖ ❖

चौथा अध्याय

समकालीन पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में अन्य हाशियेकृतों की अस्मिता

समकालीन हिन्दी उपन्यास और अन्य हाशियेकृत

आज हिन्दी उपन्यास का दायरा बहुआयामी है यानी उपन्यास का संबंध सीधे समाज से जुडा है । समाज के हर एक मुद्दे से उसका ताल-मेल है । अर्थात् समकालीन उपन्यास में, समाज के हर तबके के लिए एक निश्चित स्थान है । प्रतिरोध का स्वर समकालीनता की प्रमुख विशेषता है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद भी इसी प्रतिरोध का परिणाम है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में जहाँ प्रकृति के खिलाफ शोषण दर्ज है, वहीं हाशियेकृतों के शोषण का भी प्रतिरोध शामिल है । हाशियेकृतों की आत्मा प्रकृति से जुडी है क्योंकि प्रकृति से इनका संबंध गहरा है । प्रकृति को शोषण से मुक्त करवाने का अर्थ है, उससे जुडे हाशियेकृतों को शोषण से मुक्ति दिलवाना । इसी मुहिम की शुरुआत समकालीन उपन्यासों में देखने को मिलती है । औद्योगिकीकरण व पूँजीवादी संस्कृति ने प्रकृति से जुडे लोगों का शोषण बडे पैमाने पर किया है । समकालीन साहित्य की प्रमुख विशेषता है कि उसने हाशिये पर पडें लोगों को केन्द्र में लाने की कोशिश की है । परिणाम स्वरूप समकालीन हिन्दी उपन्यास में हाशियेकृतों के शोषण का मुद्धा प्रमुख है । वही उत्तर आधुनिकता ने यह साबित कर दिया है कि समाज का एक समूह दूसरे समूहों से, अपनी मूल-सांस्कृतिक-सामाजिक, राजनीतिक, संरचनाओं के कारण संस्कृति, संवेदना, परंपरा, रीति-रिवाज़, भाषा-विश्वास, लोक रूढियों, लोक अभिप्राय के कारण भिन्नता रखता है । हाशियेकृतों की स्थिति

अब ऐसी हो गई है कि वह केन्द्र में आना तो चाहती है लेकिन उन्हें गुमराह किया जाता है । कृष्णदत्त पालीवाल लिखते हैं "हाशिए पर पडे लोग केन्द्र में आ ही रहे थे कि उत्तर-आधुनिकतावाद ने उन्हें फिर केन्द्र से धकेलकर गुमराह कर दिया है और नव-पूँजीवाद का जादू हमारे सिर पर चढकर बोल रहा है।"[1] यानी हाशियेकृतों के शोषण संबन्धित विचार, समकालीन साहित्य में हो रहा है । शोषण से मुक्ति के प्रयास किए जा रहे हैं । इस संदर्भ में पारिस्थितिक स्त्रीवाद ने इस जिम्मेदारी को अपने ऊपर उठाया है । अर्थात् स्त्री द्वारा प्रकृति का संरक्षण तो होगा ही, साथ-साथ हाशियेकृतों को भी शोषण से मुक्ति की राह मिलेगी । हाशियेकृतों के प्रति सहज संवेदना का भाव पारिस्थितिक स्त्रीवाद की विशेषता है । इसका कारण यह है कि स्त्री-प्रकृति से जुडी है, और प्रकृति हाशियेकृतों से बंधी है, यानी प्रकृति हाशियेकृतों के करीब है । इसलिए स्त्री का सीधा संबंध हाशियेकृतों से है । स्त्री का यह कर्तव्य बन जाता है कि वह हाशियेकृतों के लिए संघर्ष करें, उनके शोषण के खिलाफ अपनी आवाज़ उठाए । हाशियेकृतों के साथ-साथ अल्पसंख्यकों और विस्थापितों के शोषण के खिलाफ भी आवाज़ बुलंद होती है ।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में हाशियेकृतों की आवाज़ को अनदेखा नहीं किया गया । उसे केन्द्र तक लाने की कोशिश चल रही है । हाशियेकृतों

---

1. कृष्णदत्त पालीवाल - उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, पृ. 233

पर हो रहे शोषण के प्रति उपन्यास सजग है । हिन्दी उपन्यासों में, प्रमुख रूप से हाशियेकृतों पर आधारित उपन्यास समाहित है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद उपन्यासों में मुख्य रूप से उनकी पीडा वेदना और दर्द को दिखाने की कोशिश हुई है । हाशियेकृत हर तरह से शोषित वर्ग है । सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक रूप से हाशियेकृतों का दमन होता है समकालीन उपन्यास का कैनवास बडा है । क्योंकि इसमें वर्तमान समाज के बहुआयामी यथार्थ अनावृत होते हैं । हाशियेकृतों का यथार्थ इसमें प्रमुख है। विकास के नाम पर हो रहे शोषण से हाशिए में पडे लोग विस्थापित हो रहे हैं । विस्थापन के दर्द से जूझ रहे, हाशियेकृतों की स्थिति दयनीय व शोचनीय है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद हाशियेकृतों की इस स्थिति में उसका साथ देता है, यानी वह उनके शोषण के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाता है । प्रकृति से जुडे हाशियेकृतों की हमदर्द स्त्री है, वह इन्हें बचाना व सुरक्षित करना चाहती है । समकालीन हिन्दी उपन्यास में इन हाशियेकृतों की वेदना और यथार्थ को बखूबी पेश किया गया है ।

हाशियेकृतों से अभिप्राय

हाशियेकृतों का अर्थ है, हाशिए के नीचे से संबंधित लोग । जिन्हें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व धार्मिक दृष्टि से अलग रखा जाता है । इन लोगों की अस्मिता पर हमेशा सवाल किया जाता है । सामाजिक तौर से हाशिएकृत लोगों को समाज में अलग रखा जाता है । इन लोगों की अलग दुनिया है क्योंकि यह सभ्य समाज के नहीं है, यानी सभ्य व उच्च समाज इन्हें

हाशिए पर रखता है । शोषण के विभिन्न रूपों को अपना कर सभ्य समाज हाशिएकृतों पर अपना हक जमाता है । हाशियेकृतों में विभिन्न जाति व समुदाय है, वैसे माना जाए तो आधी आबादी भी हाशिएकृत है, यानी स्त्री भी एक ऐसा समुदाय है जो पुरुष वर्चस्ववादी समाज के घिनौने रूप से शोषित व पीडित है । आदिवासी, दलित, अल्पसंख्यक व विस्थापित जनता भी हाशियेकृत है । इसका सीधा कारण यह है कि ये सारे वर्ग आज भी अपनी अस्मिता की तलाश में है ।

हाशियेकृतों को समाज दोयम दर्जे पर रखता है । राजनीतिक व आर्थिक रूप से शोषित यह वर्ग आज भी अपनी अस्मिता के लिए प्रयासरत है । हाशिये पर पडे लोग केन्द्र तक आना चाहते हैं लेकिन पूँजीवादी संस्कृति व औद्योगिकीकरण की संस्कृति न तो हाशियेकृतों को केन्द्र तक सीमित कर पा रही है और न ही विकसित । हाशियेकृत आज दोयम अवस्था की स्थिति झेल रहे हैं । सांस्कृतिक रूप से हाशियेकृतों की संस्कृति प्रभावित है अर्थात् उन्मूलन से अनुकूलन तक की उनकी यात्रा पीडा दायक है । उन्मूलन की संस्कृति को छोडना और नए के अनुकूल अपने को ढालने में भी हाशियेकृत संघर्षरत हैं ।

हाशिएकृतों के विभिन्न रूप

हाशियेकृत विभिन्न प्रकारों में बंटा हुआ है । जैसे, आदिवासी दलित, अल्पसंख्यक आदि।

आदिवासी

आदिवासी हाशियेकृतों की जमात में प्रमुख है । आदिवासी उपभोग संस्कृति अथवा मीडिया संस्कृति से कोसों दूर, प्रकृति की गोद में अमन चैन की ज़िन्दगी बिताने वाला है । रमणिका गुप्ता लिखती हैं - "आदिवासी यानी मूल निवासी यानी भारत का मूल बाशिन्दा, इस धरती का पुत्र, धरती और प्रकृति के साथ पैदा हुआ, पनपा, बढा और सहजीवी बना ।"[1] हाशियेकृतों में आदिवासी का स्थान मुख्य माना जाता है क्योंकि आदिवासी हाशिए के नीचे है, उनको केन्द्र में लाने की जदोजहद हो रही है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में स्त्री आदिवासियों के लिए नेतृत्व करती है । वह आदिवासियों को हक दिलाना चाहती हैं ।

दलित

हाशियेकृतों की श्रेणी में दलित की गिनती भी की जाती है । दलित समाज का एक अलग हिस्सा है, उसे गंदा, उसे अछूत, माना जाता है । समाज उसे हाशिए से ऊपर उठने नहीं देता । वह समाज का भंगी है, जिसे समाज के हर मैंल को साफ करने की पाबंदी है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में दलितों के प्रति संवेदना का भाव है । उसके अधिकारों के लिए लडने का संघर्ष करने का विचार लेकर पारिस्थितिक स्त्रीवाद कार्यरत है ।

अल्पसंख्यक : अल्पसंख्यकों को भी हाशियेकृत माना जाता है, क्योंकि

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी कौन?, पृ. 5

वर्तमान संस्कृति में इन्हें भी शोषित किया जा रहा है । धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक दृष्टि से परखे तो देखेगें कि अल्पसंख्यक अपने अधिकार के लिए लड रहे हैं । स्त्री इन अल्पसंख्यकों के हक के लिए लडती है । क्योंकि पारिस्थितिक स्त्रीवाद में स्त्री अपने साथ-साथ शोषित हो रहे हर वर्ग, हर नस्ल को बचाने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेती है ।

इस प्रकार समकालीन उपन्यास में हाशियेकृतों के लिए, उनके अधिकारों के लिए विचार-विमर्श हो रहा है । डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं "उपभोक्तावादी संस्कृति व हाशिए के लोगों की दास्तान समेटे हिन्दी उपन्यास ने जहाँ अपने सरोकारों का विस्तार किया है, वहीं कथ्य व रूप की एकरसता को भी तोडा है । कहा जा सकता है कि इस दौर में उपन्यास महज साहित्यिक संरचना न रहकर एक सामाजिक संरचना के रूप में भी अधिक पुष्ट और समृद्ध हुआ है।"[1] यानी समकालीन उपन्यासों में हाशियेकृतों के हित और उनके अधिकारों के लिए आवाज़ बुलंद होती है । समकालीन उपन्यासों में यह संघर्ष ज़ारी है ।

सामाजिक अस्मिता का संकट

हाशियेकृतों की सामाजिक अस्मिता संकट की अवस्था से गुज़र रही है । औद्योगिकीकरण की इस दौड में समाज का हर हिस्सा प्रभावित हो रहा है, यानी हाशियेकृतों की स्थिति और अधिक नाजुक हो गई है । विकास ने

1. संपादक डॉ. नामवर सिंह - आधुनिक हिन्दी उपन्यास - 2, प्लैप से

उन्हें समाज से विस्थापित कर दिया है । आदिवासी, दलित, स्त्री और प्रकृति विकास की इस यंत्रणा को झेल रहे है । समाज में इनकी स्थिति दयनीय है। समकालीन पारिस्थितिकी स्त्रीवादी उपन्यासों में इन हाशियेकृतों की सामाजिक अस्मिता पर प्रश्न उठाया गया है । इन उपन्यासों में हाशियेकृतों के सामाजिक परिवारों पर भी ध्यान दिया गया है । हाशियेकृतों की अस्मिता को बनाए रखने की माँग आज उठ रही है, इसका सीधा व सच्चा कारण यह है कि समकालीनता का स्वर प्रतिरोध का स्वर है । समाज में हो रहे हाशियेकृतों के अन्याय पर, होने वाले प्रतिरोध को पारिस्थितिकी स्त्रीवादी उपन्यासों ने अपनी आवाज़ दी है । समाज का शोषित वर्ग हाशिए पर खड़ा है । वह समाज में उपेक्षित है, इसलिए समकालीन उपन्यासों में उनकी समाजिक अस्मिता के प्रश्न को रेखांकित किया गया है । इस समाजिक अस्मिता का सबसे बडा प्रश्न हाशियेकृतों को उनके मूल से खदेडना है । विस्थापन की इस सच्चाई को हाशियेकृतों का यथार्थ माना जा सकता है ।

विस्थापन की त्रासदी

विस्थापन की त्रासदी को झेलने वाले हाशियेकृतों की संख्या सबसे अधिक है । विकास योजनाओं से उत्पन्न विस्थापन से प्रभावित हाशियेकृत अपनी ज़मीन ढूढने में आज भी असफल साबित हो रहे हैं । डॉ. एन. मोहनन विस्थापन की परिभाषा यूँ पेश करते है "मनुष्य के अपने जन्मस्थान और निवास स्थान छोडकर एक नए स्थान की ओर गमन करने की प्रक्रिया को

'विस्थापन' कहा जाता है ।"[1] हाशिये के नीचे धकेले गए वर्ग का विस्थापित हो जाना आज एक नई घटना बन कर नहीं रह गई है । विस्थापन की त्रासदी, का सबसे बडा यथार्थ यह है कि विस्थापित न अपने मूल से दृट कर अलग हो पाते हैं और न ही नए परिवेश में अपने को ढाल पाते हैं । यह त्रासदी ज़िन्दगी भर विस्थापितों का पीछा नहीं छोडती । विस्थापितों की स्थिति मानसिक रूप से तनाव ग्रस्त हो जाती है, आर्थिक, रूप से भी कमज़ोरी इन्हें घेरे रहती है । अर्थात् आवास-व्यवस्था, धंधा, काम, शिक्षा आदि के अभाव में एक ओर तडपतें हैं तो दूसरी ओर हमेशा मूल मिट्टी की याद ताजी रहती है और वहाँ लौट जाने के लिए तरसते हैं । विस्थापन की इस त्रासदी को हाशियेकृतों की श्रेणी में आने वाले वर्ग झेलते हैं और संभलने की कोशिश भी करते हैं । हाशियेकृत अपनी सत्ता बनाने की बेजोड जदोजहद करते हैं लेकिन उनकी यह कोशिश कामयाब होने के बजाय नाकामयाब साबित होती है । विस्थापन का दर्द उन्हें बार-बार टीसता है और उनके जीवन को हाशिये में धकेल देता है । आदिवासी, दलित, स्त्री और प्रकृति हाशियेकृतों की श्रेणी में प्रमुख हैं । इनके विस्थापन का कारण विकास है । विकास का अर्थ है सड़कें, कारखाने और बांध जैसी बड़ी-बड़ी परियोजनाएँ । इन परिजनाओं से हाशियेकृतों का जीवन दूभर हो गया है, वे अपनी मूल संस्कृति से छिटक कर अलग हो गए हैं । उन्हे हाशिये से जोडने और मूल संस्कृति के साथ अपनाने की मांग पारिस्थितिकी स्त्रीवादी उपन्यासों में प्रमुख है । इसलिए

1. डॉ. एन. मोहनन - समकालीन हिन्दी उपन्यास, पृ. 69

आदिवासी, दलित, स्त्री और प्रकृति को हाशिये तक लाने की कोशिश की जा रही है ।

आदिवासी विस्थापन

आदिवासी हाशियेकृतों की श्रेणी में प्रमुख है । आदिवासी अपनी समाजिक अस्मिता को बनाए रखने की कोशिश करता है । लेकिन विस्थापन का यथार्थ उनके वजूद को मिटा कर रख देता है । उन्हें उनके जीवन-यापन से दूर करने का जो षड्यंत्र नई-नई विकास परियोजनाएं करती हैं, वह वाकई में आदिवासी अस्मिता को मिटाने का एक जरिया है । रमणिका गुप्ता इस बात की पुष्टि करती हुई लिखती है "दरअसल आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न जहाँ उनके नाम की परिभाषा से गहरा संबंध रखता है, वही वह उनकी सामाजिक संरचना और जीवन-यापन के साधन जल, जंगल-ज़मीन से भी जुडा है । उसका उद्‌गम उसकी पहचान को पुष्ट करता है तो उसकी विरासत, भाषा, शिक्षा, संस्कृति और जीवनशैली, उस पहचान को जिंदा रखती है।"[1] यानी आदिवासी की विरासत उसका जंगल है । लेकिन आज वह इस जंगल से विस्थापित हो रहा है । विस्थापन ने उसे जंगल से खदेड कर ऐसे मोड पर ला कर खडा कर दिया है, जहाँ से वह न तो नई संस्कृति को अपना रहा है और न ही वह अपनी पुरानी संस्कृति को भूल पा रहा है । विकास ने आदिवासी से उसकी ज़मीन छीन ली है । उपन्यास 'धार'

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी अस्मिता का संकट - पृ. 50

की आदिवासी स्त्री मैना इस बात को स्वीकारती व समझती है कि विकास ने उन्हें उनके ज़मीन से बाहर खदेड दिया है, इसलिए वह गोपाल को सजग करवाती है । वह उसे उसके ज़मीनी रिश्ते का एहसास दिलाती है । "तौर, हमने ज़मीन से केतना कोयला निकाल के बिल्डिंग पीट लिये सब और तू... तोरा रहे का भी ठिकाना नई..."[1] यानी विकास के कारण अदिवासी अपने ही ज़मीन से बेगाने हो गए है ।

उपन्यास 'वनतरी' में भी आदिवासियों को उनके अधिकार से वंचित होते दिखाया है । उपन्यास की नायिका वनतरी अपने अधिकारों से भली-भान्ति परिचित है, इसलिए वह अपने अधिकारों के लिए लडती भी है लेकिन उसे उसके अधिकार अंत तक नहीं मिलते । वह अपने मित्र मिथिल के लिए लडती है, लेकिन उसका यह संघर्ष अधूरा ही रह जाता है । वह अपने आदिवासी होने के विशेष अवसर को भी नहीं मांगती "देखो मिथिल, मैं आदिवासी हूँ, तो किसी की दया का पात्र नहीं । मैं किसी से भीख नहीं मांगती, और न आदिवासी होने का विशेषाधिकार ही।"[2] आदिवासी प्रकृति का पुत्र है, वह उसका साथी है, लेकिन विकास ने उसे उसके जंगल से दूर कर दिया है । उसका जंगल, उसकी प्रकृति आज उसकी नहीं रही है । इसलिए रमणिका गुप्ता लिखती है "दरअसल आदिवासी अपने श्रम के बल पर सदैव आत्मनिर्भर और स्वावलंबी रहा है । अपने समूह और समाज से

1. संजीव - धार, पृ. 113
2. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव - वनतरी, पृ. 80

जुडकर, प्रकृति का साथी बनकर जीना उसकी शैली और उसका स्वभाव रहा है । वह प्रकृति से संवाद करता चलता है, उसका सहयात्री है । उसको गाय की तरह पौसता और दुहता है । उसे कब्जे में लाने का कभी भी उसका लक्ष्य नहीं रहा ।..... वह उसे रिझाता है, मनाता है और केवल जीने भर ज़रूरत भर उससे लेता है पर उसे बदले में देता भी है, अपना प्यार, अपनी देख-रेख और अपनी संवेदना ।"[1] यानी आदिवासी प्रकृति का दोस्त है, उसकी संतान है, फिर भी आज आदिवासी जंगल से विस्थापित हो रहा है । वही नवीन जोशी के उपन्यास 'दावानल' में भी जंगलवासियों के दर्द का चित्रण है । पहाडो में रहने वालों को भी विस्थापन की त्रासदी से गुज़रना पड रहा है । पहाड के दूर-दराज क्षेत्रों में, जंगलों में रहने वाले लोगों को अपनी ज़मीन से अलग होना पड रहा है । "पहाड उजडते जा रहे हैं और उसकी कीमत पर मैदानों में नेता और बिचौलिए मौज कर रहे हैं । दिल्ली लखनऊ और बडे उद्योगों को बिजली देने के लिए टिहरी बांध बनाया जा रहा है, जिसके लिए हज़ारों पहाडवासियों को उनकी पुश्तैनी ज़मीन पर बसे घरों से उजाडा जा रहा है । यह कैसा विकास है ? यह कैसा बदलाव है ?"[2] यानी विस्थापन के लिए विकास की नीतियाँ ही जिम्मेदार हैं ।

संपूर्णतः कहे तो आदिवासी अपनी ही अस्मिता से अलग हो चुका है। सरकारी विकास योजना के लिए जंगल कटाई, खानखदान, बिजली संयंत्रों

---

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ.8
2. नवीन जोशी - दावानल, पृ. 86

के कारण पहाड उखड रहे हैं । वनवासी विस्थापित हो रहा है, उनकी भूमि मिट्टी के मोल पर लेने वाली सरकार उनका पुनर्वास करने में असमर्थ है। पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में विस्थापित हो रहे आदिवासियों के प्रति संवेदना का भाव देखने को मिलता है । इसका कारण यह है कि आदिवासी की ही तरह, स्त्री भी प्रकृति की सहयात्री है । जिस प्रकार आदिवासी जंगल से सरोकार रखता है, उसी प्रकार स्त्री की संवेदना भी प्रकृति से ही पगी है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विकास परियोजनाओं ने जहाँ वनवासियों को वनों से दूर किया है, वहीं आज स्त्री वनों को सुरक्षित करना चाहती है । आदिवासियों से उनकी ज़मीन छीनने वालों के खिलाफ पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में संघर्ष शुरु हो चुका है ।

दलितों का विस्थापन

समाज का एक प्रमुख अंग दलित है । जिसे आज मुख्य धारा तक लाने की कोशिश साहित्य करता है । पश्चिम से आए हुए "उत्तर आधुनिकता' के दर्शन ने हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण बदलाव किए है । स्त्री एवं दलित विमर्श उसी दर्शन की देन है । उत्तर आधुनिकता के दर्शन ने जो सबसे महत्वपूर्ण काम किया, उसका परिणाम यह हुआ कि 'हाशिए' के विषय एवं विवरण अचानक मुख्यधारा के स्वयंभू हो गए । उत्तर आधुनिकतावाद ने दलित, स्त्री, आदिवासी सब को केन्द्र में लाने की कोशिश की है । कृष्णदत्त लिखते हैं - "उत्तरआधुनिकता हर तरह के केन्द्रवाद या सेंट्रिलजम को

तोडता है और विकेन्द्रीयतावाद में क्षेत्रीयता या स्थानीयता पर पूरा बल देता है । मूल बात यह है कि उत्तर आधुनिकतावाद एकीकृत के बजाय विभिन्नता (डिफरेन्स) को बुनियादी सवाल मानता है और केन्द्र से परिधि की ओर चल पडता है । उसका नतीजा यह हुआ कि दलित, जनजातियां, नारी समाज, समलैंगिक, स्त्री-पुरुष, हाशिए पर स्थित लोग, दलित प्रताडित परिधि पर स्थित जातियां, विरोधी-विचार, हर प्रकार के झटके-अटके थामे वे लोग जिनकी पहचान या आवाज़ या (सत्ता-राजनीति-संस्कृति) नहीं थी और जिन्हें अभिजात्यवादी वर्चस्ववादी, अगडी जातियों-वर्गों के लोगों ने सजा की भागीदारी से बाहर या वंचित रखा था । साथ ही जिन्हे 'सांस्कृतिक संवाद' से दूर रखा गया था, अब 'पॉवर-शिफट' के युग में अपनी पहचान अपनी आवाज़ अपने वर्चस्व के नए समूह बनकर जी-तोड संघर्ष करने लगे ।"[1] यानी समकालीन साहित्य में दलितों के शोषण को लेकर विचार किया गया है । दलित विमर्श इसी का परिणाम है । दलितों का विस्थापन समाज में हो रहा है, धार्मिक रूप से दलित अपने को बदलते है ताकि समाज में उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बनी रहे, लेकिन यह धार्मिक विस्थापन भी उन्हे समाज में ऊंचा दर्जा नहीं दिला पाता । दलित अपने आप को मात्र एक मनुष्य के रूप में देखना चाहता है । लेकिन यह समाज उसे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक रूप से विस्थापित करता है । इसलिए दलित विमर्श विद्रोह का स्वर खडा करता है । दलित साहित्य की ओर जा कर परखे तो पाएंगे कि दलित

1. कृष्णदत्त पालीवाल - उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, पृ. 21

साहित्य में नकार और विद्रोह का स्वर व्याप्त है ।" दलित साहित्य का 'नकार' और विद्रोह दलितों की वेदना से उपजा है । यह नकार और विद्रोह लाद दी गई अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध है । यह नकार जिस विषम व्यवस्था ने दलितों का शोषण किया उस व्यवस्था के विरुद्ध है । इस विरोध का स्वरूप दुधारू है । विषम व्यवस्था को नकारते हुए समता स्वातंत्र्य, न्याय और बंधुता की माँग करने वाला यह विचार है । वेदना को नकारने पर अगली अटल व्यवस्था, विद्रोह की होती है । इस विद्रोह का जन्म 'मैं मनुष्य हूँ' मुझे मनुष्य के सभी अधिकार चाहिए, इस चेतना से हुआ है।"[1] उपन्यास अल्मा कबूतरी में भी दलितों के शोषण पर विचार अभिव्यक्त हुआ है । कबूतरा जाति पर हो रहे अमानवीय हरकतों पर मैत्रेयी ने अपनी कलम चलाई है । मैत्रेयी पुष्पा ने उपन्यास में कबूतरा जनजाति का यथार्थ वर्णन किया है । अगर यह कहा जाय कि यह उपन्यास कबूतरा जनजाति के जीवन का दर्पण है तो अतिशयोक्ति न होगी । "तू नल नहीं हुएगा । नल के आस पास भी देख लिया तो.... याद रखना, यहाँ सिपाही आते हैं, पकडवा दूंगा। प्यास के कारण उसका गला चटकने को आ गया, नल नहीं छू सका।"[2] यानी दलित, समाज के लिए अछूत व अस्पृश्य है । दलित को स्पष्ट रूप देते हुए शंभुनाथ द्विवेदी लिखते हैं कि "भारतीय समाज व्यवस्था में वर्णव्यवस्था के कारण दलित की निर्मिती हो गई । सबसे निचला तबका या निम्न वर्ग को दलित कहा गया । उपेक्षित, रौंदा, कुचला हुआ, अविकसित, शोषित,

1. सं. शरणकुमार लिबाले - दलित साहित्य वेदना और विद्रोह, पृ. 43
2. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी - पृ. 82

सभी भौतिक सुविधा और विकास से वंचित वर्ग को दलित माना गया । मनु स्मृति और दास स्मृति में भी दलितों की व्यथा चित्रित है । दास, चांडाल, शुद्र, अछूत आदि कई नामों से इस वर्ग को संबोधित किया जाता है।"[1] उपन्यास 'पहाड चोर' में मोचियों के परिवारों का चित्रण है । विकास ने किस कदर वहाँ की ज़मीन को खोद डाला है । खनन के दौरान पहाडों को डाइनामाइट से उडाया जाता है । कंपनी की सडक के लिए ज़मीन बेची जाती है । दलित शोषित होते हैं, उनकी अपनी ज़मीन विकास के नाम पर छीनी जाती है । इण्डरवाल का गाँव पहाड की वजह से सुरक्षित था, लेकिन जब से गाँव में चूना बनाने वाली कंपनी ने पहाड का खनन करना शुरु किया है, पूरा गाँव विपदा की स्थिति झेल रहा है । विस्थापन की स्थिति से गुज़रते हुए ये दलित अपनी ज़मीन से दूर हो गए हैं "अपनी ही धरती पर बीडी पीने का अधिकार छिनने से साबरा की आत्मा को गहरी ठेस लगी । उसने बिना किसी प्रतिवाद के चुपचाप बंडल जेब में वापस रख दिया।"[2] यानी ज़मीन के छीन जाने का गम, उससे विस्थापित होने का गम साबरा में है ।

समकालीन साहित्य शोषण के खिलाफ प्रतिरोध करता है । पारिस्थितिकी स्त्रीवाद शोषितों, पीडितों की तरफदार है । वह उन्हे शोषण से बचाना चाहती है । पूँजीवादी वर्ग ही इन दलितों के विस्थापन का कारण है । पूँजीवादी वर्ग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए इस दलित वर्ग का उपयोग करते हैं । यह श्रमिक वर्ग जो कि तमाम समस्याओं से ग्रस्त है अपने

1. डॉ. शंभुनाद द्विवेदी - हिन्दी उपन्यासों में दलित जीवन, पृ. 52
2. सुभात पंत - पहाड चोर, पृ. 41

अधिकारों को नहीं माँग सकता क्योंकि या तो उनके अधिकार पूँजीपतियों के पास गिरवी हैं या विपरीत परिस्थितियों के शिकार। आवश्यकता है मुक्ति के लिए गहरी इच्छा शक्ति । पारिस्थितिकी स्त्रीवादी उपन्यासों में दलितों की शोषण अवस्था को पेश किया गया है । उनकी सामाजिक स्थिति में आज परिवर्तन आ गया है । दलित गाँवों से निकलकर शहरों में आ गए हैं लेकिन उनकी सामाजिक स्थिति में कोई खास परिवर्तन नज़र नहीं आता। उसी तरह विकास के लिए, लोग पहाडों व गाँवों में जाते है, यानी विकास परियोजनाओं के तहत सवर्ण जब पहाडों व गाँवों की दहलीज पर पाँव रखते हैं, तब भी उन्हें दलितों के प्रति अछूत व अस्पृश्य का भाव रहता है । 'पहाड चोर' उपन्यास में भी मोहन बऊ नाम का पात्र जब विकास परियोजना के लिए पहाड झूडखाल में जाता है तो वहाँ मोची साबरा से उसकी मुलाकात होती है । लेकिन मानसिक तौर पर दलितों के प्रति जो विचारधारा है वह नहीं बदलती । सवर्ण हमेशा सवर्ण की ही भाषा बोलता है "मोहन बऊ उलझन में फँस गए । अच्छा दोस्त कह दिया उसे । अब भुगतो । मोची के घर चाय! भारद्वाज गोत्र के कुलीन ब्राह्मण हो । अपने कुल को मत लजाओ मोहन बऊ। कुम्भीयान नरक में भी जगह नहीं मिलेगी । फँस गए न, एक तरफ संस्कार खडे हैं और दूसरी तरफ एक ऐसा सिक्का, जिसे तुम्हे गाँव की सतह पर अनेक बार, अनेक कोणों से चलाना है।"[1] यानी दलितों के प्रति जो संवेदना सदियों से चली आ रही है, वह आज भी वैसी की वैसी है ।

1. सुभात पंत - पहाड चोर, पृ. 27

इसलिए पारिस्थितिक स्त्रीवाद की निष्ठाएँ केवल अछूत, दुखी पीडित मानव समाज तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वे संपूर्ण मानव समाज के मूल्य है । अछूत दलित तथा दुखी समाज इस का प्राथमिक और महत्वपूर्ण क्षेत्र है, क्योंकि इस समाज को आज तक कोई भी मानवीय अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिए पारिस्थितिक स्त्रीवाद जाति व्यवस्था को नष्ट करना चाहता है, सामाजिक विषमता का निर्मूलन चाहता है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में यह कोशिश नज़र आती है, कि दलितों के प्रति जो अमानवीयता है, उसका खात्मा हो । संपूर्ण दलित समाज में जो अंधविश्वास, कुरीतियों पनप रही है, उनका नाश हो । इन उपन्यासों की यह खासियत है कि स्त्री इन दलितों के प्रति अधिक जागरूक है । वह दलित समाज को शोषण से मुक्ति दिलाने की राह को अपनाती है । क्योंकि दलित इस समाज का एक अभिन्न अंग है ।

विस्थापन की त्रासदी हर रूप में भयानक है । विस्थापन कई समस्याओं को साथ लेकर आता है । विस्थापन से गरीबी और भुखमरी बढती है । विस्थापन एक तोडक तथा आर्थिक और सांस्कृतिक रूप में दर्दनाक प्रक्रिया है । उत्पादक की जमा पूँजी को नष्ट करने तथा उत्पादक व्यवस्था को मिटाने से गरीबी बढने की संभावना अधिक होती है । जमा पूँजी नष्ट होने से भूमिहीन होना, बेरोज़गार होना, बेघर होना, हाशिए पर धकेले जाना, बीमारी या भुखमरी के संकट बढ सकते हैं । हाशिए पर धकेले जाने

वाले हाशिएकृत कहलाए । हाशिएकृत विस्थापित जनता आज भी शोषण की शिकार है । आदिवासी, दलित, स्त्री और प्रकृति का विस्थापन संपूर्ण समाज के अस्तित्व को हिला देता है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद इन शोषित वर्गों को मुक्त करवाने का जिम्मा अपने ऊपर लेता है क्योंकि पारिस्थितिक स्त्रीवाद अहिंसा का मार्ग अपनाता है । उपन्यास 'शिगाफ' में मनीषा कुलश्रेष्ठ लिखती है कि वह निर्वासित हुई है लेकिन वह अहिंसा का मार्ग भी अपनाती है । "मैं आज निर्वासित हूँ ... क्योंकि तुमने चुना था निहत्थों को मारना । मैं आज निर्वासित हूँ .... मैंने चुना सम्मान से जीना ... हथियार न उठाना।"[1] यानी पारिस्थितिक स्त्रीवाद शोषित हर वर्ग को मुक्ति की राह दिखाता है, बशर्ते वह राह अहिंसा की ओर भी जाती हो ।

वृद्ध जनों की अस्मिता का प्रश्न

समाज के उपेक्षित वर्ग के रूप में वृद्ध जन भी शामिल है । समाज में वृद्धों की स्थिति दयनीय व शोचनीय हो गई है । अणु परिवारों में वृद्ध जन एक बोझ है । पूँजीवादी संस्कृति और औद्योगिकीकरण के प्रभाव ने वृद्धों के प्रति संवेदना का रुख बदल दिया है । वृद्ध जनों की इस शोचनीय स्थिति का कारण उपभोक्तावाद भी है । 'उपयोग करो और फेकों' की नीति ने वृद्धों की अस्मिता को मिटा दिया है । बुढापा जीवन का अटूट सत्य है, जो हर मानव की जिन्दगी में आता है, लेकिन इस बुढापे की समस्याएँ काफी तीक्ष्ण

1. मनीषा कुलश्रेष्ठ - शिगाफ, पृ. 29

है । बुढापे की अवस्था में मानव दुर्बल और कमज़ोर हो जाता है, संघर्ष करने की क्षमता लगभग न के बराबर हो जाती है। लेकिन समाज इस सत्य को कभी नहीं मानता, वह वृद्ध जनों को अलग करना चाहता है, समाज से दूर करना चाहता है । .... उपेक्षा का शिकार, वृद्धजनों के अस्तित्व को समाज में बनाए रखने के लिए पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में पहल हो रही है । वृद्धों के प्रति दिन-ब-दिन अत्याचार बढ रहे हैं । उपन्यास 'समय सरगम' में भी पात्र दमयंती एक बूढी स्त्री है । बूढापा उसके लिए शाप बन जाता हैं, उनका सजना-संवरना ठीक नहीं है। लेकिन दमयंती खुद अपने को संवार कर रखती है । "मेरे बेटों और बहुओं की सुनो । रेशम पहलूँ तो कहते है, इस उम्र में यह चमक-दमक अच्छी नहीं लगती । सूती पहनूँ तो वह भी पसंद नहीं । कहते हैं इनमें आप हमारी माँ ही नहीं लगती।"[1] यानी वृद्ध जनों की समस्याएं पूर्ण रूप से उन्हें दुविधा में डालती है । वृद्ध लोगों को अपने ढंग से जीने का अधिकार भी नहीं है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवादी मूल्यों को आत्मसात करने वाली है 'समय सरगम' उपन्यास की प्रमुख पात्र अरण्या शोषित व पीडित लोगों की सहायता करने में आगे है । वह खुद वृद्ध है, बुढापे की अवस्था से गुज़र रही है, फिर भी दूसरों के प्रति आत्मीयत संवेदना का भाव उसमें है । इसलिए अरण्या दूसरी वृद्धा दमयंती को सलाह भी देती है कि वह दूसरें वृद्धों की मदद भी करें । अरण्या मुलायम आवाज़ में दमयंती से कहती है "आपके नज़दीक ही

1. कृष्णा सोबती - समय सरगम, पृ. 72

वृद्धों का आश्रम चल रहा है । कुछ समय उनके लिए दिया करें ।.... उनकी दिनचर्या में जो भी योगदान आप दे सकें । उन्हें अखबारें-किताबें पढकर सुना सकती है । उनकी चिट्ठी- भी लिख सकती हैं।"[1] मतलब मकसद यही है कि पीडितों की सहायता करें । अल्का सरावगी का उपन्यास 'शेष कादंबरी' भी बूढापे की ज्वलंत समस्याओं को पेश करने में सक्षम है । रूबी दी आज बूढापे की समस्याओं की शिकार है । लेकिन वह फिर भी समाजिक कामों अर्थात् समाज सेवा में अपना ध्यान लगाती है। परामर्श संस्था से जुडकर रूबी गुप्ता कई असहायों और पीडितों की मदद करती है । लेकिन कुल मिलाकर कहें तो रूबी गुप्ता के जीवन में बुढापे का सत्य अटल है । वह कभी मिटने वाला नहीं है । बूढों के लिए एक दवा है टीवी, लेकिन यही टीवी अफीम के नशे का काम करता है । इस टी.वी. से बूढे समझते हैं कि वह अपने दुख-दर्द से निजात पा लेंगे लेकिन टी.वी. बूढों के लिए अफीम का काम करता है । वे सोचती हैं "अकेले बूढों के लिए अफीम है टी.वी. उन्हे लगा सारे दुख-दर्दों से निजात पाने का सुलभ माध्यम। एक के बाद एक सारे टी.वी. सीरियल रिमोट दबा-दबाकर रूबी दी देखने लगी । कई बार तो बीच के विज्ञापनों के समय दूसरा सीरियल देखकर दो-दो एक साथ भी देख लेती । विज्ञापनों को भी देखा । पन्द्रहवें दिन तक आते-आते इस अफीम का नशा अपना असर खोने लगा ।"[2] यानी बूढापे के दर्द के सामने अफीम का नशा भी बेकार है । टी.वी. जैसे मनोरंजन प्राप्त करने के साधन भी

1. कृष्णा सोबती - समय सरगम, पृ. 74
2. अलका सरावगी - शेष कादंबरी, पृ. 121

बुढापे की समस्याओं से निजात नहीं दिलवा पाते । यह तो बूढापा काटने का एक तरीका ही समझो । रूबी गुप्ता की नाती कादंबरी उसके सामाजिक फलसफे को आगे बढाने में मदद भी करती है । इस उपन्यास के अन्तर्गत एक उपन्यास को रचा जाता है । लेकिन उपन्यास को अधूरा कहकर अपने जमाने के साथ समाप्त करके अगली पीढी की कथा लिखने के लिए रूबी गुप्ता अपनी उत्तराधिकारिणी नाती कादंबरी के लिए छोडती है ।

जीवन का एक ओर सत्य यह है कि हर शोषित व पीडित वर्ग को प्रकृति में राहत मिलती है । प्रकृति उसके हर दुख में उसका साथ देती है । बूढापे की समस्याओं में भी वृद्ध जन प्रकृति को अपना हमसफर बना लेते हैं । शेष कादंबरी उपन्यास में भी वृद्ध जनों का प्रकृति से सरोकार बताया है । जब टी.वी. का अफीम अपना असर खो देता है तो वह फिर बूढापे को प्रकृति के लिए सौंप देती है । कुछ चिडियाँ जो खुर-मुर में दिखाई दी उन्हें लगा कि अपने पति सुधीर की आत्मा इस रूप में आकर उन्हें तसल्ली दे रही हैं । उपन्यास 'समय सरगम' में भी बूढे प्रकृति के करीबी है । "बूढे सयानों की टोली हर शाम इस छोटे से बगीचे में पहले टहलती है, फिर बतियाती है।.... सुख है, क्योंकि हवा है, धूप है, जल है । धरती पर हरियाली है और तन में घटकती साँस है । निःसंदेह हम पुराने हैं, फिर भी यह समय निस्तेज नहीं ।"[1] यानी बूढे समाज के पुराने हैं लेकिन फिर भी वह समाज ही के सदस्य हैं । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में इस विचारधारा को स्थान दिया गया है।

1. कृष्णा सोबती - समय सरगम, पृ. 89

समाज के असहाय बूढों की मदद व उनका पुनर्वास ही पारिस्थितिक स्त्रीवाद का लक्ष्य है ।

अल्पसंख्यकों की समस्यायें और स्त्री का प्रतिरोध

अल्पसंख्यक का अर्थ थोडी संख्या में विभाजित वर्ग । यानी इन वर्गों की मात्रा बहुत कम होगी । यह बहु संख्या में नहीं होंगे । अल्पसंख्यकों की श्रेणी में वेश्या, जनजातियां, मुसलमान आदि प्रमुख हैं । पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यास अल्पसंख्यकों की मुक्ति का प्रयास भी करता है । इन उपन्यासों में अल्पसंख्यकों के शोषण का चित्रण भी मौजूद है । विस्थापन की त्रासदी, अल्पसंख्यकों के जीवन का यथार्थ भी है । हाशियेकृत अल्पसंख्यक समाज से दूर होते जा रहे हैं । गाँव के गाँव उजड रहे हैं, भूमंडलीकरण और औद्योगिकीकरण ने समाज को विकसित बनाने का सपना तो पूरा किया है पर समाज के गाँव अब शहरों में बदल गए हैं । गाँवों का निशान मिटता जा रहा है । इसलिए नीलाभ भूमंडलीकरण के इस झूठे नकाब के पर्दे को उलट कर इस सच्चाई को यूं बयां करते हैं "पूरी दुनिया को एक गाँव बनाने लेकिन दुनिया के गाँवों को इससे बाहर रखने की यह कोशिश भूमंडलीकरण के नकाब को उलट कर उसका असली चेहरा उजागर कर देती है।"[1] यानी समाज आज शहरों और महानगरों से भरा हुआ है । इस स्थिति में अल्पसंख्यकों के शोषण का रास्ता सीधा है । समाज से उन्हे खदेडा जा रहा है क्योंकि आज पूँजीवादी संस्कृति का बोल-बाला है, वहाँ इन अल्पसंख्यकों

1. नीलाभ - प्रतिमानों की पुरोहिती, पृ. 53

की संस्कृति व सभ्यता कोई मायने नहीं रखती । इसलिए समाज इन अल्पसंख्यकों की दुनिया के अस्तित्व को नकारता है और शर्त यह रखता है कि वह भी पूँजीवादी संस्कृति में घुल मिल जाएं । राजेन्द्र यादव लिखते हैं "हम मानसिक रूप से स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं कि दलितों और अल्पसंख्यकों की दुनिया भी अपनी ही है । वे कोई दूसरे अलग और नीचे के लोग है, यह कुंठा कहीं गहरे में जड जमाए है । शायद इसके पीछे प्रतिरोध यही है कि वे हमारी सुविधा, शर्तों और संस्कारों के हिसाब से आएगें, तभी हमारे हो सकते हैं वरना वे अपनी शर्तों पर हमारे अपने कैसे होंगे ?"[1] पारिस्थितिक स्त्रीवाद अल्पसंख्यकों की संस्कृति को बनाए रखते हुए विकास का मार्ग अपनाना चाहता है । मछुआरों का संकट, कश्मीरी मुस्लमानों व कश्मीरी हिन्दू भट्टों का शोषण, वेश्या समस्या या वेश्या समाज से जुडे प्रश्न, दलित व आदिवासी वर्गों का संकट आदि पारिस्थितिकी स्त्रीवादी उपन्यासों में प्रमुख समस्याएँ हैं ।

मछुआरों का संकट

मछुआरे अपने जीवनयापन के लिए ही नहीं, बल्कि अपनी संस्कृति और सभ्यता को बनाए रखने के लिए भी मछली पकडते हैं । तट से जुडी उनकी संस्कृति, समाज से अलग है । पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी मछली पकडने का काम करती हैं । इनकी संस्कृति में ग्रहण लग गया है । विकास की इस

1. राजेन्द्र यादव - उपन्यास - स्वरूप और संवेदना, पृ. 29

दौड ने मछुआरों की संस्कृति को तहस-नहस कर दिया । औद्योगिकीकरण ने समुद्र तटों पर कब्जा कर लिया । समुद्र के राजा, मछुआरों के अस्तित्व पर खतरा मंडराने लगा है । उपन्यास 'रह गई दिशाएँ इस पार' में बेला नामक पात्र समुद्र की रानी है अर्थात् वह को बचाना चाहती है । मछुआरों पर हो रहे शोषण के खिलाफ बेला आवाज़ उठाती है "आठ हज़ार इकतालीस कि.मी. समुद्री तट है हमारा, सिर्फ आंध्र में ही 941 किलोमीटर। सारी लडाई इस तट पर कब्जे को लेकर है । उनके पास ट्रालर्स, मेकनाइजड़ बोट्स और आधुनिक उपकरण हैं, लैंडिंग और हार्बर केन्द्रों पर उन्हीं के बिचौलिये हैं । ... वे 12 समुद्री मील का कानून तोडकर दो-दो मील से भी ज़्यादा अंदर घुस कर मछलियों को हडप ले जाते हैं जो देशी और अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक कल्याण नियमों का घोर उल्लंघन है । मछलियाँ तो मछलियाँ, उनके ट्रालरों और प्रोसेसिंग सेन्टरों पर भी हम मछुआरों का तरह-तरह से शोषण होता है। ये देखिए मेरी उंगलियाँ आज भी सीधी नहीं हुई, छह महीने का समुद्र में गया मेरा बाप नागप्पा मर गया, या जिंदा है, कोई नहीं जानता ।"[1] बेला मछुआरों के लिए अपना जीवन समर्पित करती है । वह अपनी पूरी ज़िन्दगी मछुआरों के हित में गुज़ारती है । जब अजय बेला से शादी का प्रस्ताव रखता है तो तेलम्मा साफ कह देती है कि बेला को पाना आसान नहीं है, क्योंकि बेला एक मछुआरिनी है । वह कभी महल की रानी नहीं बनेगी, वह समुद्र की रानी है और वहीं बन कर रहेगी । "इतने मछुआरों

1. संजीव - रह गई दिशाएं इसी पार, पृ. 195

की ज़िन्दगी को नरक में जलता छोड वह तुम्हारे महल में रानी बनकर राज करेगा ? अरे अगर उसे रानी बनाना है तो उतारो-कोट-पैंट, पहनो कच्छा, आधी रात को मछुआरों के साथ उत्तरो समुद्र में, मछली पकडो । वो तुमको हंस के विदा करेगा, लौट के आते ही गले से लिपट जाएगा।"[1] यानी मछुआरों के समुदायों को सुरक्षित रखा जाना चाहिए, क्योंकि उनकी संस्कृति भी समाज की अपनी है।

कश्मीरी हिन्दू का संकट

कश्मीर में हिन्दू व मुसलमानों की आपसी टकराहट सांप्रदायिकता का कारण बनती है । लेकिन कश्मीर में स्थित हिन्दू भट्टों पर विस्थापन का खतरा मंडरा रहा है । कश्मीरी पंडितों का निर्वासन अमानवीयता का विकराल रूप है । कश्मीरी भट्टों को शोषण का शिकार होना पडता है क्योंकि वहाँ के मुसलमान कश्मीर को अपनी जमीन मानते हैं इसलिए वहाँ के हिन्दुओं को विस्थापित करने की साजिश रचते हैं । पाकिस्तानी कबाइली का हमला कश्मीरी भट्टों पर ऐसा प्रभाव छोडता है कि उनका अस्तित्व मिट्टी में मिल जाता है । भट्ट स्त्रियों की दारुण स्थिति का वर्णन देखिए "जो स्त्रियाँ अकस्मात विधवा हो गयीं ... समय के बहाव के साथ वैधव्य प्राप्ति की दारुण घटना के क्षण का अक्षुण्ण बहाव बना रहा उनके साथ... बहता रहेगा.... पता नहीं कितनी दूर-दूर तक मृत्यु पर्यन्त। जिन स्त्रियों के साथ बलात्कार हुए .. हवा में उनकी व्यथा डोलती रही, रहेगी बहुत-बहुत देर

1. संजीव - रह गई दिशाएं इसी पार, पृ. 212

तक, दूर तक बहने वाले वायु-गट्ठरों में । जो यतीम हुए अपने अन्तकाल तक प्रश्नमय रहेंगे स्वयं से.. कि क्यों भला वे यतीम किये गये.. क्योंकि भट्ट थे।"[1] उसी प्रकार उपन्यास 'दर्दपुर' में ही नायिका अपनी अस्मिता व पहचान का खुलासा करती है । वह जानती है कि शरणार्थी की कोई पहचान नहीं होती । विस्थापन के दर्द को अपने दीदी से बाँटते हुए नायिका कहती है "अब हमारा जम्मू में भी कोई स्वागत नहीं करेगा । मैंने कहा न कि हम घर के रहे न घाट के । ऐसे हिन्दूस्तानी कुत्ते हो गये हम । डैडी का ट्रांसफर भी कोई नहीं करेगा । हमें जम्मू में राहत भी नहीं मिलेगी ।... ओ दीदी, सचमुच हम कहीं के .... कहीं के भी न रहे । जम्मू में हमें शरणार्थी दर्जा भी नहीं मिलेगा।"[2] विस्थापित हिन्दुओं का भविष्य कहाँ तक फैला है, वे अपने से उखडकर कहाँ बसे, इस पर उपन्यास 'शिगाफ' में मनीषा कुलश्रेष्ठ लिखती है 'विस्थापित हिन्दुओं की भी अपनी हताशा है । उसका रिजल्ट कौन सोचता है ...? क्या वे भी हथियार उठा लें । मगर बेचारे विवश हैं । उनके साथ तो उनका ही देश नहीं ...। वे यहाँ से उजडकर एक जंजीर की टूटी कड़ियों की तरह कहाँ नहीं फैल गए हैं - हर प्रदेश के महानगरों में...छोटे शहरों में... जिसे जहाँ जगह मिली... जहाँ नौकरी मिली । जम्मू से लेकर दिल्ली, फिर दिल्ली से भी जयपुर, लखनऊ, आगरा, बैग्लोर, मुंबई। वहाँ से फिर विदेशों तक में।"[3] यानी विस्थापितों का कोई खास ठिकाना

1. क्षमा कौल - दर्दपुर, पृ. 48
2. क्षमा कौल - दर्दपुर, पृ. 101
2. मनीषा कुलश्रेष्ठ - शिगाफ, पृ. 180

नहीं, खासकर कश्मीरी हिन्दुओं का । इस विस्थापन की तीक्ष्णता में भी स्त्री द्वारा प्रकृति के साथ सरोकार का संबंध जारी था । काकनी नामक पात्र अपने प्रकृति से जुडने का तैयार थी । उपन्यास 'दर्दपुर' की पात्र काकनी जब बसंत आया तो अपने गाँव लौटने के लिए तैयार हो गई । देखिए "एक दिन जब बसंत आया था तो काकनी ने अपना बोरा-बिस्तर बांधना शुरु किया था। गाँव के लिए । अब वह गैदे के फूल बोयगी । सबसे पहले । फिर मूँग, माश, राजमाश, रोंगी, वारिमुठ, मक्की, फिर खेत लहलहाऐ । तित्तलियाँ समाँ बाधेगी ।"[1] कश्मीरी हिन्दुओं की विस्थापित स्थिति का वर्णन इन्हीं उपन्यासों में देखने को मिलता है, जो अत्यन्त मार्मिक है ।

वेश्या समाज

समाज का सबसे अधिक शोषित व पीडित, समाज वेश्या समाज है, इसमें कोई शक की गुंजाइश नहीं । कारण चाहे कोई भी रहा हो, वेश्यावृत्ति समाज के लिए कलंक ही है । वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में वेश्याओं के तीन श्रेणियाँ बनाई हैं प्रथम श्रेणी में वे वेश्याएँ आती हैं जो मालिकों द्वारा बाध्य किए जाने पर वेश्यावृत्ति करती है । दूसरी श्रेणी में वे वेश्याएं आती हैं जो अपनी इच्छानुसार वेश्यावृत्ति को अपनाती हैं । तीसरी श्रेणी में वे वेश्याएं हैं जो तत्कालिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वेश्यावृत्ति करती है । इस प्रकार वेश्याओं का शोषण, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक,

1. क्षमा कौल - दर्दपुर, पृ. 231

राजनीति हर परिवेश में होता है । लेकिन आर्थिक रूप ही प्रमुख होता है । वेश्यावृत्ति में पुरुष की भावनाओं अर्थात् ग्राहक की संतुष्टि ही मायने रखती है । उपन्यास 'रेत' की पात्र रुकमणि इस बात को सही ढंग से पेश करती है कि पुरुष मात्र स्त्री का इस्तेमाल करना जानता है चाहे वह खुद उसकी स्त्री हो या, वेश्यावृत्ति में संलग्न कोई वेश्या । इसलिए रुकमणि कहती है "मरद तो बाईजी इसके लिए पठार पर बहता पानी है, जितना चाहे बह जाए । ज़्यादा बहेगा तो कुछ देकर जाएगा और कम बहेगा, तो भी कुछ देकर जाएगा।"[1] वेश्यावृत्ति को रोकने और स्त्रियों के पुनर्वास की कई योजनाओं को उपन्यास 'पिछले पन्ने की औरतों' में देखा जा सकता है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद भी इन शोषित स्त्रियों की मुक्ति का प्रयास करता है । उपन्यास में इस योजना की चर्चा भी की गई है जो कार्यरत है । बेडनी समुदाय की स्त्रियों की मुक्ति का प्रयास इसमें हैं साथ ही उपन्यास 'रेत' में कजरी जाति की स्त्री मुक्ति का प्रसंग है । प्रयास यह होना चाहिए कि कजरी व बेडनी जाति की लुप्त स्थिति को खोजने का काम हो और साथ ही इन जातियों की कुरीतियों को समाप्त किया जाए न कि जाति की संस्कृति को । उपन्यास पिछले पन्ने की औरतों में वेश्यावृत्ति को दूर करने की योजनाओं को प्रमुखता दी गई है। उपन्यास में इस व्यवस्था को पांच चरणों में रखा है, इसमें पहला चरण है; बच्चे के लिए आश्रम शाला संचालित करना । दूसरा चरण था, बच्चियों के लिए अनुरक्षण तथा नवीनग्रह की स्थापना । तीसरा चरण थाः वेश्याओं के

1. भगवान दास मोरवाल, पृ. 215

लिए आर्थिक कार्यक्रम । चौथा चरण था: जन चेतना जागृत करने के लिए प्रचार-प्रसार योजना तथा पांचवां चरण था : वेश्याओं के स्वास्थ्य-परीक्षण एवं चिकित्सा की योजना । शरद सिंह अपने इसी उपन्यास में शोषित बच्चों व पीडित महिलाओं के पुनर्वास की योजना बनाती है । वे लिखती हैं कि "वेश्यावृत्ति पर अंकुश लगाने की दृष्टि से स्वैचेद्दिक संस्थाओं द्वारा ऐसी महिलाओं तथा बच्चों के कल्याण एवं विकास की गतिविधियों को संचालित करने के उद्देश्य से योजना का संचालन किया जा रहा है।"[1] पारिस्थितिक स्त्रीवाद भी इसी मुक्ति को प्रमुख मानता है ।

अन्य अल्पसंख्यक

अन्य अल्प संख्यक वर्गों में गाइको और लेस्बियन्स की अस्मिता का प्रश्न भी उठता है । लेस्बियन्स को भी समाज द्वारा उपेक्षित माना जाता है। यह वर्ग शोषित है, साथ ही समलैंगिकता पर भी शोषण होता है । लेकिन समलैंगिकता को स्त्री विमर्श के अन्तर्गत रख कर उसे कानूनी मान्यता प्राप्त है । उन्हें विवाह करने की छूट है, समाज उनके अस्तित्व को सम्मान भी देने लगा है । आंकडे विसर्मत करने वाले हैं किंतु समलैंगिकता पर अधिक बल नहीं दिया जाता । हिजडों यानी कि गाइको पर भी शोषण होता है । यह वर्ग समाज में उपेक्षित हैं । इनकी अस्मिता पर प्रश्न उठाया जाता है । यह एक ऐसा वर्ग है जिसे कभी सभ्य समाज की उपाधि प्राप्त नहीं होती । समकालीन

---

1. शरद सिंह - पिछले पन्ने की औरतें, पृ. 234

उपन्यासों में इन वर्गों पर विचार हो रहा है । राजकमल की 'मछली मरी हुई में भी समलैंगिकता को आधार बनाया गया है । समलैंगिकता या लेस्बियन्स एक ऐसी मानसिकता है जिसमें शोषण से मुक्त होने की प्रवृत्ति है । संभोग के दौरान शोषण की इस स्थिति से हटकर समलैंगिकता पर बल दिया गया। आज यह वर्ग भी अपने अधिकारों के प्रति सचेत है । उपन्यास 'रह गई दिशाएं इसी पार में' अपने अस्तित्व को लेकर यह सवाल देखिए "सर आप लोग काले लोगों के लिए दलितों, स्त्रियों, हौंडीकैप्ट्स, पशुओं, पेड-पौधों के कॉज के लिए फाइट करते हैं, हमी ने कौन-सा गुनाह किया है कि अछूत हो गए?... हमारा होना एक बडे सवाल की तरह जलता रहेगा।"[1] यानी पारिस्थितिक स्त्रीवाद अल्पसंख्यकों को शोषण से मुक्त करवाने की क्षमता रखता है, इसका प्रमाण भी यही है कि इन उपन्यासों में उपेक्षित वर्गों का ज़िक्र है ।

सांस्कृतिक अस्मिता का संकट

हाशियेकृतों की सांस्कृतिक अस्मिता के संकट को आज एक बडा प्रश्न माना गया है । उनकी संस्कृति आज लुप्त होती जा रही है । संस्कृति का विकास तो दिनोंदिन हो रहा है लेकिन हाशिये से जुडे वर्ग की संस्कृति मिटती जा रही है । विकास की संस्कृति, औद्योगिकीकरण व पूँजीवादी की संस्कृति ने हाशिये से जुडे वर्ग की सभ्यता के निशान को मिटा दिया है ।

1. संजीव - रह गई दिशाएं इस पार, पृ. 143

इन संस्कृतियों के चेहरे आज नष्ट हो रहे हैं । यह नष्ट होती संस्कृति आज संग्रहालाओं की शोभा मात्र बन कर रह गई है । ऐसी संस्कृतियों को हाशिये में धकेला जाता है । निर्मल वर्मा की पुस्तक में भी इस सत्य का उद्‌घाटन हुआ है कि संस्कृति अवशेष बन कर रह गई है । "आज धरती के नीचे न जाने कितनी संस्कृतियों के अवशेष दबे पडे हैं हर अवशेष के साथ मनुष्य का एक विस्तृत चेहरा दबा है, उन विस्मृत देवताओं की तरह जिनकी खंडित मूतियाँ संग्रहालयों में दिखाई देती है।"[1] हाशियेकृतों की संस्कृति के बदलते स्वरूप को समकालीन उपन्यासों में स्थान मिला है । क्योंकि इससे पहले हाशिये लोगों के समाज की संस्कृति को भी साहित्य से दूर रखा जाता था। लेकिन उपन्यास में इसकी पहल हुई । मैनेजर पांडेय लिखते है "भारतीय समाज के जो हिस्से, समुदाय और व्यक्ति मुख्य धारा से अलग हाशिए पर रहने के लिए मज़बूर थे, वे साहित्य के भी हाशिए पर अदम्य ही रहने के लिए अभिशप्त थे । मुख्यधारा से प्रायः बहिष्कृत, उपेक्षित, अध्याय और बेजुवान जन को उपन्यास में जगह मिली।"[2] यानी समकालीन उपन्यासों में हाशियेकृतों को स्थान मिला या फिर यूँ कहिए कि उनकी सांस्कृतिक अस्मिता को मंच मिल गया ।

इस बात में कोई संदेह की गुंजाइश ही नहीं है कि हाशियेकृतों की संस्कृति का विघटन हो रहा है । हाशियेकृतों की संस्कृति प्रकृति से रची-

1. निर्मल वर्मा - आदि अंत और आरंभ, पृ. 86
2. मैनेजर पांडेय - उपन्यास और लोकतंत्र, पृ. 36

बसी है । उनकी संस्कृति प्रकृति की संस्कृति है । आज यह संस्कृति घुट-घुट कर दम तोड रही है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद हाशियेकृतों की संस्कृति को मानता है । वह उसे बचाने और सुरक्षित रखने का प्रयास भी करता है। क्योंकि पर्यावरण व प्रकृति को बचाने का अर्थ सहज सांस्कृतिक अस्मिता को बनाए रखना है।

कृषि भूमि से अलग होती संस्कृति

औद्योगिकीकरण से पाश्चात्यीकरण और शहरीकरण हुआ । इसके चलते लोग कृषि को छोडकर नगरों में मज़दूर बनने के लिए बाध्य हो गए। कृषि से दूर होती संस्कृति उपभोग संस्कार का रूप लेने लगी । उपभोग संस्कार की विशेषता यह थी कि उसने मानव को प्रकृति से अलग कर दिया। प्रकृति से जुडी संस्कृति, कृषि भूमि की संस्कृति थी, जिसे समाप्त कर दिया गया ।अब वर्तमान इस स्थिति पर खडा है कि संस्कृति की भूमि बंजर हो गई है, उसमें संवेदना मिट चुकी है । संस्कार अब यंत्रवत् हो गए हैं । डॉ. वनजा लिखती है कि "यंत्र संस्कार के पनपने के कारण अकेलापन एवं शून्यता का बोध व्यक्ति महसूस करने लगा । पूँजी, एवं अन्य उपभोग की चीजें बढने लगी । लेकिन मानसिक शान्ति एवं सुख किसी के वश में नहीं है।"[1] विकास ने मानव को कृषि भूमि से अलग कर दिया यानी गाँव से दूर होते ही मानव परिवर्तित हो गया । खेत, खलिहान मात्र सपनों तक ही सीमित रहने का समय आ गया है । उपभोग की इस संस्कृति ने मानव को स्वार्थकेन्द्रित बना

1. डॉ. के. वनजा - अनुशीलन, जुलाई 2014, पृ. 76

दिया है, वह अब मात्र अपने विकास को ही प्रमुखता देने लगा है । उपन्यास 'दावानल' में नवीन जोशी इसी बात को प्रमुखता देते हुए कहते हैं कि गाँव की संस्कृति मानव-मानव के बीच एक रिश्ता कायम करती थी, जो आज कहीं लुप्त हो गई है । मानवीय चेतना व संवेदना का भंडार गांव से, कृषि भूमि से जुडा है । वे लिखते हैं "गाँवों-कस्बों, छोटे शहरों का जीवन आदमी के ज़्यादा करीब है । पिछडे इलाको में आदमी, आदमी को पहचानता है । एक दूसरे के सुख में शामिल होता है । वहीं इंसान लडता भी है - अपनी जीवन स्थितियों को बेहतर बनाने के लिए गाँवों में गरीबी है, विकास नहीं है, मगर मानवीय संवेदना व चेतना सबसे ज़्यादा वहीं है।"[1] यानी विकास की अधिकता और पूँजीवादी संस्कृति ने मानव की सहज संवेदना को रौंद कर रख दिया है ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद में इस उपभोग वादी संस्कृति का प्रतिरोध है । स्त्री अपनी संस्कृति से, मतलब प्रकृति की संस्कृति से मानवीय संवेदना को एक नया रूप देना चाहती है । उसकी संस्कृति प्रकृति से घुली-मिली है । वह शोषितों, पीडितों की हमदर्द है । क्योंकि कृषि भूमि की संस्कृति, प्रकृति की संस्कृति है, गाँव की संस्कृति है, इसमें मानव के प्रति स्नेह भरी, भावना विद्यमान है । 'दावानल' उपन्यास में इसी रूप में, डॉ. ज्योति को देखते हैं वह पीडितों की हमदर्द है, यदि वह चाहती तो अपने पति के साथ शहर में

1. नवीन जोशी - दावानल, पृ. 289

बस कर शोहरत व पैसा कमा सकती थी, लेकिन उसने मानवीय संवेदना को प्रमुख स्थान दिया । उसने गाँव-गाँव जाकर महिलाओं व बच्चों के स्वास्थ्य का परीक्षण किया । डाक्टर पति से तलाक लेकर समाजिक कार्यों की पूर्ति में संलग्न हो गई । देखिए "डॉ. ज्योति वहाँ अल्मोडा में खुश है । अस्पताल में मरीजों के प्रति समर्पित रहती है । इतवार के दिन गाँव-गाँव जाकर महिलाओं-बच्चों का स्वास्थ्य परीक्षण करती है । उन्हें जागरूक बनाने का काम करती है । उसका कांखा बढता जा रहा है । डॉ. ज्योति के पास पैसा नहीं है, मगर उसके पास ज़िन्दगी के अर्थ है । वह अपने होने को सार्थक कर रही है।"[1] उपन्यास 'कठगुलाब' में भी गाँव की आदिवासी संस्कृति को अपनाने और आत्मसात करने की बात पर जोर दिया गया है । उपन्यास की नायिका स्मिता शहरी संस्कृति व नगरी संस्कृति में जीती है, लेकिन उपभोग संस्कृति उसके जीवन में कई उतार-चढाव लाई । इसीलिए वह वापिस अपनी कृषि से जुडी संस्कृति यानी जमीनी संस्कृति की ओर लौटती है । वहाँ उसे जीने की नई राह मिलती है । वही दूसरी ओर यांत्रिक होती आज की संस्कृति का उदाहरण भी इस उपन्यास में बखूबी अंकित किया है। जिस बच्चे के जन्म के लिए हम सहजता और कृत्रिमता से दूर भागते थे, आज उस अजन्मे शिशु के लिए जीवविज्ञान में कई आविष्कार हो चुके है । रचना और निर्माण के बीच सूक्ष्म अंतर होता है । "टैस्ट-ट्यूब शिशु ।

---

1. नवीन जोशी - दावानल, पृ. 284

शुक्राणु संग्रह । मनचाहे बच्चे की पैदाइश । शुक्राणु और अंडा दोनों दान लिए जा सकते हैं, गर्भाशय उधार । रंग-रूप, कद-काठी, यहाँ तक कि प्रबुद्धता तक का चयन करके, अपनी पसंद का बच्चा पैदा किया जा सकता है । अजन्मे मादा बच्चे के बीज कोश का इस्तेमाल करके मनचाहे बच्चे के निर्माण पर शोध हो रहा है । तब तो, कुछ समय बाद, हम वह अधिकार भी चाहेंगे कि अगर, किसी वजह से बच्चा हमारी उपेक्षा के अनुरूप न हो या हमारी अपेक्षाएँ ही तब तक बदल जाए तो उसका वध करके, दूसरे नूमने का बच्चा निर्मित कर लें । रचना और निर्माण के बीच सूक्ष्म अंतर होता है । उस अंतर को मिटाने से जिस भयानक प्रक्रिया का सूत्रपात होगा, उसकी कुछ झलक हमें फासिज्म के दौरान मिल चुकी है । हिटलर के सूपर-रेस के सिद्धान्त ने दुनिया पर जो कहर ढाया, हमारा देखा-भोगा हुआ है । फिर भी, हम सुपरमैन बनाने की दुर्बुद्धी से बाज नहीं आ रहे । मनुष्य के बजाय, हम यंत्रों को जन्म देंगे तो हमारे दुख की सीमा नहीं रहेंगी । मैं जानता हूँ । खूब भोगा है मैंने । मनुष्य को यंत्र बनते देखने से भयानक पीडा नहीं है।"[1] यानी यांत्रिकता ने हमें घेर लिया । वैयक्तिकता से लेकर समाजिकता तक में यंत्र की संस्कृति विराजमान है । स्मिता का गोधड गाँव की ओर आना, आदिवासी संस्कृति को अपनाना, कृषि भूमि से जुडना वास्तव में जीवन की सार्थकता को व्यक्त करता है ।

---

1. मृदुला गर्ग - कठगुलाब, पृ. 261

पुश्तैनी धंधों से अलगाव

हाशियेकृतों की सबसे बडी बिडम्बना यह है कि वे आज अपने पुश्तैनी धंधों से अलग हो गए हैं । विकास के बढते कदमों ने उन्हें अपने धंधों से अलग कर उन्हें बेरोज़गार बना दिया है । आज हाशियेकृत समाज बेरोज़गारी की समस्या से जूझ रहा है । उपन्यास 'पहाड चोर' का पात्र धीरी भी अपनी इस बेरोज़गारी से परेशान था । जब से विकास ने उनके गाँव झूंडखाल पर कदम रखा था, तब से वहाँ के नौजवान अपने पुश्तैनी धंधों से दूर हो गए थे । धीरी को काम मिल चुका था, ऐसा काम जो खतरनाक था, लेकिन धीरी ने एक नया इतिहास रच दिया था । "वह झंडूखाल का पहला आदमी था, जो आसमान में तैरता कमेरा बनकर इतिहास रच रहा था । निरन्तर क्षैतिज अवस्था में काम करते रहने से उसके रक्तप्रवाह का दबाब माथे, चेहरे, आँख, नाक, कान, छाती, हाथ और पैरों के अग्र भाग की ओर बढ गया था, जिससे उसके माथे पर तिड़कती नसों का गुच्छा दिखाई देने लगा था । उसकी निराशा की हद तक सफेद रहने वाली आँखे खताभ हो गई, पपोटे सूज गए और चेहरे का गोश्त बाहर को लटक गया । लेकिन ये शारीरिक विकृतियाँ उस अपरिमित सौन्दर्य सुख के सामने एकदम अर्थहीन था ।"[1] उपन्यास 'धार' में भी आदिवासियों का पुश्तैनी धंधा कोयला निकालना था, लेकिन विकास के बढते हाथों ने उनसे उनका धंधा छीन

---

1. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 234

लिया। तेजाब की फैक्टरी ने उनके कामधंधों को तो समाप्त किया ही साथ में उनके जीवन को भी नरक बना दिया । "टैंगर और मैना एक साथ । एक बाज़ार दूसरी मजूरी के लिए नयी जगह तलाश्ते आ गए हैं।"[1] पुश्तैनी धंधे, इन हाशियेकृतों की पहचान है लेकिन जब से यह धंधे छुटे हैं, बेरोज़गारी ने इनकी ज़िन्दगी में डेरा डाल दिया है । विकास की नीति इसके पीछे काम कर रही है । हाशियेकृतों की यह बेरोज़गारी उनके जीवन को तहस-नहस कर रही है । नई संस्कृति के रूपायन में हाशियेकृतों का अस्तित्व मिट गया है । समकालीन उपन्यासों में हाशियेकृतों के सांस्कृतिक विघटन पर गहरी नज़र डाली गई है ।

लोक संस्कृति का ह्रास

लोक संस्कृति का ह्रास दिनोंदिन बढता ही जा रहा है । संस्कृति को एक बिकाऊ चीज़ बनाने का उपक्रम नियम तरीके से चल रहा है । इस उपक्रम का विरोध भी व्याप्त है । इसिलए मैनेजर पांडेय लिखते हैं "जब से किसानों, मज़दूरों, आदिवासियों, हरिजनों और स्त्रियों ने शोषण और दमन के खिलाफ आवाज़ उठाना आरंभ किया है उनके आंदोलन तेज हुए है, तबसे उनकी कला और संस्कृति में सरकार की दिलचस्पी बढी है । जनता की कला की असहमति और विरोध की आवाज़ को दबाकर उसे सजावट और मनोरंजन की वस्तु बनाने की कोशिश ज़ारी है । लोककलाओं को उनके मूल

1. संजीव - धार, पृ. 69

संदर्भों से अलग करके कलाओं को नए घर और बाज़ार में लाया जा रहा है।"[1] लोक संस्कृति की विशेषता पर गौर करें तो पाएगें कि लोक संस्कृति अपनी जडों से कभी नहीं कटती । लोक संस्कृति में लोक के विभिन्न रीति-रिवाज़ों, उत्सवों, पर्वों, लोकगीतों को पिरोया है ।

वर्तमान में इन लोकसंस्कृतियों को पहचानने की कोशिश की जा रही है । खासकर आदिवासियों की संस्कृति को परखा जा रहा है । आदिवासी संस्कृति को उत्तम दर्जा दिया जा रहा है । उपन्यास 'धार' में आदिवासी संस्कृति की विशेषता पर विचार किया गया है "आपको एक भी आदिवासी का घर गंदा नहीं मिलेगा, न अंदर से, न बाहर से, चाहे वे सुअर ही क्यों न पोसें । आदिवासी औरतें सर पर एक गमछा रख लेंगी जो पीठ के नीचे तक फैला होगा, चाहे वे कोयला ही क्यों न ढो रही हो, जबकि दूसरी 'देशवाली औरतों' में ये चीज़ आपको नहीं मिलेगी ।"[2] उसी प्रकार उपन्यास 'चाक' में भी लोक संस्कृति के कई उदाहरण देखने को मिलते हैं । ढोला नामक लोक कथा का उदाहरण देखिए "कि दूरगे माता आई द्वार/ कि भैमाता ने काटयो ना / कि लछमन सेठ बने गढवान कि रथ में मंझा लाई बैठाए।"[3]

लोक संस्कृति से जुडी एक कला है, चित्रकला । आज चित्रकला भी लुप्त हो रही है । लोक संबंधित हस्तकला व चित्रकला का लोप वर्तमान युग

---

1. मैनेजर पांडेय - भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा, पृ. 181
2. संजीव - धार , पृ. 39
3. मैत्रेयी पुष्पा -चाक, पृ. 85

की सबसे बडी त्रासदी है । जैसे "अब लोक चित्रकलाएं तो देखने को मिल जाएं, वही बहुत । कहाँ सूनी भीतें रखना असुगन माना जाता था, परंतु अब कौन पहवाह करता है हस्तकला का लोप ही समझो।"[1]

लोक संस्कृति का ह्रास का अर्थ प्रकृति की संस्कृति से दूर होना है। आज इन लघु संस्कृतियों को बचाने के लिए उपन्यास रचे जा रहे हैं, जिससे यह बात साफ हो जाती है कि साहित्य में हाशियेकृतों के अस्तित्व को लेकर चिंता जताई जा रही है । विकासवादी इस संस्कृति से सहज लोक संस्कृति को अपनाने की प्रकृति मानव को एक नए सिरे से जीवन की सार्थकता से जोडेगी ।

उन्मुलन से अनुकूलन तक

तेज रफ्तार से बढती विकास की इस दौड में हाशियेकृतों की संस्कृति नष्ट हो चुकी है । अब वह विवश है, अलग समाज, भिन्न परिवेश और नई संस्कृति में पनपने को । यह विवशता उसे कहीं का नहीं छोडती यानी न वह सही अर्थों में आदिवासी, दलित, या हाशियेकृत रह पा रहा है और न ही नई संस्कृति में खुद को ढाल पा रहा है । दोनों ही स्थितियों में वह मज़बूर व बेसहारा बन गया है । उन्मूलन से अनुकूलन तक की यात्रा वह तय नहीं कर पा रहा । आदिवासी को विशेष संदर्भ में इसी स्थिति का सामना करना पड रहा है, मैनेजर पांडेय भी आदिवासी की इस दयनीय स्थिति पर

1. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम्, पृ. 356

लिखते हैं "वर्तमान समय में भारत के आदिवासी समुदायों के सामने एक खतरा उन्मूलन का है दूसरा अनुकूलन का । उन्मूलन का अर्थ अपनी अस्मिता को खोकर दूसरे धर्मों, संस्कृतियों और समाजों में विलय।"[1] विलयीकरण की यह स्थिति वास्तव में इन हाशियेकृतों की नींव को हिला कर रख देती है ।

हाशियेकृतों की संस्कृति और विकास की इस संस्कृति में ज़मीन आसमान का अंतर है । यह अंतर कभी दूर नहीं हो सकता किंतु इन संस्कृतियों के बीच संघर्ष की स्थिति तो खत्म की जा सकती है । माना कि इन दोनों संस्कृतियों की दुनिया अलग है, फिर भी सांझेदारी का परिवेश बन सकता है । उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में इन दो संस्कृतियों पर विचार किया गया है "दो संस्कृतियाँ, दो दुनिया, जो एक दूसरी की पूरक और सहायक हो सकती थीं, अफ्सोस एक-दूसरी के खिलाफ खडी कर दी गई हैं।"[2] इन दो संस्कारों पर कृष्णा सोबती भी लिखती है कि "ऊंची जात-बिरादरी ने भी कम घृणा नहीं फैला रखीं । अपने को संस्कारी जातियाँ कहकर पुकारते है और दलितों-पिछडों को असंस्कार, संस्कार विहीन, नीच, पिछडा । आरक्षण को लेकर कभी मनुबादी उबलते हैं, और कभी दलित और कमज़ोर वर्ग।"[3] हाशियेकृतों को उनके मूल से हटकर नई संस्कृति की ओर कदम बढाना पड रहा है जो कतई इनका भला नहीं करता । इनकी

1. मैनेजर पांडेय - नया ज्ञानोदय, मार्च 2010
2. संजीव - पॉब तले की दूब, पृ. 48
3. कृष्णा सोबती - समय सरगम

संस्कृति को बनाए रखते हुए विकास करना ही, सही मायने में विकास है । हाशियेकृतों की संस्कृति की रक्षा करना, सामाजिक स्वस्थ्य के लिए हानिकारक नहीं है । बल्कि सामाजिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक भी है ।

उन्मूलन का शिकार झेलते लोगों की भी यही दिले ख्वाहिश थी कि वे अपनी संस्कृति को बनाए रखे, पर विस्थापन की मार ऐसी है कि खुद को दूसरी संस्कृति से जोडना ही पडता है । उपन्यास 'शिगाफ' में भी विस्थापित लोगों के जख्मों को कुरेदने और मरहम लगाने की कहानी है । लेकिन अपनी संस्कृति प्रकृति से मिली थी, उसमें मनुष्य मात्र के अस्तित्व का प्रश्न ही प्रमुख था । जैसे "कौन कहता है कि ये तरक्की कर चुके हैं या हम तरक्की के दौर से गुज़र रहे हैं ? बल्कि हम तब बेहतर थे जब दूसरों समूहों में रहते थे, नदी, पहाड, पेड और आंसमा को पूजते थे और प्राकृतिक विपदाओं को शैतान का स्वरूप मान उसे भी खुश रखने के लिए जाने क्या-क्या करते थे। नस्ल की शुद्धता तब मस्ला थी ही नहीं । मसला था, तमाम विषमताओं के बावजूद मनुष्य मात्र के अस्तित्व के जीवित रहने का।"[1] यानी वह संस्कृति प्रकृति से, संपूर्ण मनुष्य राशी से जुडी थी ।

हाशियेकृतों के उन्मूलन से अनुकूलन की इस विगत परिस्थिति में पारिस्थितिक स्त्रीवाद मानवीयता की संस्कृति को अपनाता है । इसमें स्त्री आगे बढती है, और मानवतावाद, मानवीय मूल्यों की संस्कृति को समाज के

1. मनीषा कुलश्रेष्ठ - शिगाफ, पृ. 16

सामने रखती है । संपूर्ण धरती को शोषण से मुक्त करवाने की कोशिश इकोफेमिनिज़्म के अन्तर्गत हुई है । इसलिए इन हाशियेकृतों की लडाई अपनी धरती को बचाने की लडाई है, इसलिए ही उपन्यासों में भी उपन्याकार सोचते हैं कि धरती भी स्त्री, प्रकृति भी स्त्री, सरना माई भी स्त्री और सत्यभामा, इरोम शर्मिल, सी.के. जानू भी स्त्री । इन सब स्त्रियों ने पुरानी संस्कृति को पहचाना है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वह इस नई संस्कृति की पक्षधर नहीं है, वह चाहती है, एक संस्कृति और दूसरी संस्कृति की दूरी को पाटना ।

धार्मिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में हाशियेकृतों की समस्या

हाशियेकृतों को हर क्षेत्र में शोषण का शिकार होना पडता है । चाहे वह सांस्कृतिक क्षेत्र हो या सामाजिक परिवेश । राजनीति का हर दावपेच हाशियेकृतों को शोषण का शिकार ही बनाता है । इसका सीधा अर्थ यह है कि सत्ता के कारण नेताओं में लालच पैदा हो गया, वह अब किसी भी हालत में अपना स्वार्थ पूरा करने में लगे थे । इसी स्वार्थता की पूर्ति में नेता लोग सबसे ज्यादा हाशियेकृतों को चूसते हैं । उपन्यास 'धार' में भी कोयला खदानों में काम करनेवालों की कहानी है । यह कहानी उन असहाय लोगों की है जो अपना पुश्तैनी धंधा छोडने के लिए मज़बूर है । राजनीतिक दावपेच ने उन्हें उनके कोयलों से दूर कर दिया है । कोयला निकालने की कला में वे माहिर हैं लेकिन उनकी इस मेहनत का कोई परिणाम नहीं निकलता । वे

जानते हैं कि राजनीति या सरकार कभी भी इन हाशियेकृतों को स्वीकार नहीं करती । इसलिए कहते भी हैं । "सरकार ने आज तक हमें साफ-साफ स्वीकार नहीं किया । उसकी स्वीकृति के बिना तो यह हमें सीधे-सीधे कोयला चोरों के दल में ढेलने जैसा हो गया।"[1] यानी इन सीधे-साधे लोगों की मेहनत बेकार है । कोई भी राजनीतिक इनकी इस मेहनत पर खुश नहीं होती बल्कि इनसे यह काम करवा कर, अपना स्वार्थ पूरा करती है । इसी उपन्यास की नायिका मैना राजनीतिज्ञों के इस षड्यंत्र से वाकिफ है, कहती है "ई.एम. पी. साला घूस वसूलने आ सकता, रंडीबाजी करने आ सकता लेकिन हमारा मेहनत-मशक्कत का फल देखने में इसका नानी मरता।"[2] उसी प्रकार आदिवासी संस्कृति को बेचने का काम भी सरकार ही करती है, उनकी दयनीय तस्वीरे समाज तक पहुँचा कर उनकी इस दयनीयता का दिखावा करती है । इन वन वासियों की सहायता का झूठादावा कर यह राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थ की पूर्ति करते हैं । सरकार की पद्धति यानी सरकार के प्रेम का एक छोटा उदाहरण उपन्यास 'वनतरी' में देखने को मिलता है । वनवासियों की जाति धीरे-धीरे समाप्त हो रही है, लेकिन सरकार इस विषय पर कोई टिप्पणी नहीं देती, वह तो आदिवासियों की नंगी तस्वीरों को प्रदर्शन के लायक बना सकती है जैसे "गजब है तुम्हारी सरकार का यह प्रेम । फिर, मेरी संस्कृति और मेरी परंपरा की तस्वीर जो तुम किताबों में छापते हो ? क्या तुम उसे प्रदर्शित नहीं करते ? क्या आदिवासियों की नंगी तस्वीरें

1. संजीव - धार, पृ. 201
2. संजीव - धार, पृ. 202

छापकर प्रदर्शित करने में तुम्हारी यह भावना नहीं कि हम पिछडे हैं, हम असत्य है, और हमें तुम्हारी दया चाहिए । जैसे हम किसी प्रदर्शनी में रखी हुई अचरज की वस्तु हो ? तुम यह सब बन्द करो और अगर इतना ही प्रेम है तो इस गाँव में स्कूल खोलो इस नदी पर पुल बाँधो, पीने के लिए कुँआ खोदो।"[1] यानी राजनीतिज्ञ या नेता लोग हाशियेकृतों की मदद का दिखावा तो करते हैं किंतु मदद नहीं करते । मज़दूर संगठनों की बात भी इसी राजनीति से जुडी है । उपन्यास आवाँ में नायिका नमिता मज़दूरों की हमदर्द है । वह उनके लिए लडती है, संघर्ष करती है । अन्ना साहिब को कहीं न कही यह विश्वास है कि वह (नमिता) इन मज़दूरों के लिए संघर्ष करेंगी । उपन्यास में नमिता मध्यवर्ग से उच्च मध्य वर्ग में पलायन करती है और फिर उच्चमध्यवर्ग से पुनः निम्नवर्ग में लौटती है । वह मज़दूरों के लिए लडती है। अन्ना साहिब का वक्तव्य देखिए "यूनियन के क्रियाकलाप में नमिता की कोई रुचि है भी या नहीं । श्रमिकों के श्रमिकोत्थान के आदोलन में वह सहर्ष भाग लेना चाहेगी या नहीं । हमने निर्णय ले नहीं लिया है, लेकिन उसके अंतर्भावों से परिचित हुए बिना निर्णय पर अंतिम मोहर लगाना संभव नहीं । बाध्यता से व्यक्ति का उन्मेष कुंठित होता है । प्रत्येक युवा हृदय के कुछ सपने होते हैं । एक 'आवां' होता है आंच से दहकता । जिसकी पकावट से वह आकांक्षा की भीति उठाता है । छाजन छाता है । मैं नहीं चाहता कि ट्रेड यूनियन में आने का निर्णय वह विकल्पहीनता से आक्रांत होकर करे ।

1. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव - वनतरी, पृ. 71

समाज सेवा का संकल्प मरुभूमि की तपती पीठ है ।"[1]

धार्मिक रूप से भी हाशियेकृतों की स्थिति शोचनीय है । छूत-अछूत की प्रणाली, अंधविश्वास, संस्कार आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं । कश्मीरी भट्टों पर धार्मिक शोषण का प्रभाव अधिक दिखाई देता है । कश्मीरी मुसलमाल उन कश्मीरी भट्टों पर धार्मिक शोषण करता है यही नहीं उनकी भक्ति पर भी प्रश्न चिह्न लगता है । मंदिर में जहाँ भगवान की पूजा होती है, उस मंदिर का पानी लेकर मुसलमान अपना पाखाना साफ करते हैं । यानी उपन्यास दर्दपुर में इस अघोर पाप का चित्रण किया गया है । मुसलमान, कश्मीरी भट्टों की भवित व विश्वास का मज़ाक उठाते हैं । इसी उपन्यास में सुधा कहती है "यह हमारी किस्मत है । कोई गाज गिरनी होगी इन पर । त्रेठ पडेगी इन अधकटों पर । पता नहीं जो दूसरे के धर्म की पवित्रता भंग करता है वह धार्मिक कैसे कहलाता है अपने धर्म में भी।"[2] धार्मिक क्षेत्र में हाशियेकृतों की स्थिति शोचनीय है इसमें कोई संदेह नहीं ।

इस प्रकार हाशियेकृतों की अस्मिता का संकट आज कहीं ज़्यादा भयानकता की स्थिति पैदा कर रहा है । विकास की नीति ने हाशियेकृतों को सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक हर क्षेत्र से शोषित किया है । निर्वासन की पीडा झेलते इन गरीब, असहायों का अस्तित्व खतरे में है । आज की भौतिकवादी संस्कृति, नगरीकरण की मतलबी दृष्टि, पहाड की

---

1. चित्रा मुद्गल - आवां, पृ. 74-75
2. क्षमा कौल - दर्दपुर, पृ. 285

प्राकृतिक संपति की ओर आकर्षित हो रही है । पहाड की खुदाई से, कोयला खदान से पहाड नष्ट हो रहे हैं, हरे जंगल उजड रहे हैं । पहाड की गोद में छिपी खदान, लोह-मैगनाईट, ताँबा की प्राप्ति के लिए खुदाई शुरु है । बडे-बडे मिशन पहाड को ध्वस्त करने में जुटे हैं । पूँजीवादी, कारखानदार पहाडों में बस रहे हैं । फैक्टरियों के लग जाने से जंगल अब बंजर बन गए हैं । हर कही सूनापन है । धरती नंगी सी हो गई है । उपन्यास 'धार' में प्रकृति के इस विस्थापन पर विचार किया गया है । हरियावी कहीं विस्थापित हो गई है। यानी सब कुछ निर्वासित हो गया है, प्रकृति भी । "धार' उपन्यास में इस विस्थापित प्रकृति को यों दिखाया गया है । "गोधूलि बेला के सलोनेपन में दूर-दूर की नंगी धरती अब रूक्ष नहीं लग रही थी । बॉसुरी की लय में जर्रा-जर्रा जीवन्त लग रहा था । इतना सूनापन । उसे लगा मैना और शर्मा के बताये हुए जंगल खेत, धान के कोठले, नाच के आसर जो कब के काल के गर्त में समा चुके थे, बॉसुरी की लय से इस सुहानी संध्या में साँप की तरह सर उठा रहे हैं । कोई एक शाप है कि वे अश्‌रीरी आत्माएँ मवेशियों में बदल गई।"[1] इस प्रकार देखा जाए तो प्रकृति भी विस्थापित है, अन्य हाशियेकृतों की तरह ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद हाशियेकृतों की पक्षधर है । समकालीन उपन्यासों में पारिस्थितिक स्त्रीवाद के ज़रिए दलित, पीडित, व शोषित वर्ग को शोषण से मुक्त करवाने की कोशिश प्रमुख है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में स्त्री ने अपने

1. संजीव - धार, पृ. 39

कर्तव्य को पहचान लिया है, अर्थात् वह जान गई है कि वह प्रकृति के सबसे करीब है । प्रकृति पर हुए हर शोषण से स्त्री भी प्रभावित होगी । फलस्वरूप प्रकृति से जुडे प्रत्येक हाशियेकृत वर्ग को बचाने की जिम्मेदारी स्त्री पर है। विस्थापित होती हर समुदाय की वेदना से वह परिचित है, क्योंकि वह खुद भी हाशियेकृत है । इसलिए स्त्री अपने साथ-साथ शोषित हो रही, हर शोषित, दमित, वर्ग को बचाती है । यह मार्ग अहिंसा का है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद अहिंसा के मार्ग पर चल कर संपूर्ण मानव राशी को बचाने का लक्ष्य रखता है । विकास ने अपनी स्वार्थता से जिस प्रकृति, आदिवासी, दलित और स्त्री को शोषित किया है, उन्हें शोषण से मुक्त करवाने और मानवीय मूल्य को बनाए रखने और मानवता का संदेश देते हुए पारिस्थितिक स्त्रीवाद अपनी जय यात्रा आगे बढ़ा रहा है ।

❖ ❖ ❖

पाँचवाँ अध्याय

पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों की हरित भाषा

पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों की हरित भाषा

भाषा मानव की सामाजिकता का महत्वपूर्ण लक्ष्ण, माध्यम और प्रमाण है । समाज और मनुष्य के जीवन में भाषा का बुनियादी महत्व होता है । तात्पर्य यह है कि भाषा मानव जीवन में कोई बाहरी वस्तु नहीं है वह मानव-चेतना का अनिवार्य हिस्सा है । भाषा जीवन के हर क्षेत्र में अनिवार्य तत्व है । औद्योगिकीकरण के इस दुस्समय में भाषा भी परिवर्तित हो चुकी है। पूँजीवादी संस्कृति ने मानव के संस्कार को तोड-मरोड कर रख दिया है । भाषा में आए इस भारी बदलाव के जवाबी तौर पर हरित भाषा का उदय माना जाता है । हरित भाषा मानव को संस्कार से जोडती है, प्रकृति से मिली यह भाषा कृत्रिमता को दूर करती हुई, सहज भावना को परिप्रेक्षित करती है। इस भाषा की बुनियाद स्त्री से शुरु होती है । इसका सीधा कारण यह भी है कि स्त्री प्रकृति से अधिक जुडी है या स्त्री प्रकृति के वाक् से तालमेल रखने वाली है, इसलिए हरित भाषा की नींव स्त्री से ही शुरु होती है । भाषा विज्ञान की नई शाखा के रूप में इको-लिग्विस्टिक्स का उदय हुआ । 1990 में माइकेल हॉलिडे द्वारा लिखित प्रपत्र 'New says of meaning: the challenge to applied linguistics." ने पर्यावरण के संदर्भ में भाषा को देखने का प्रयास किया । हालिडे ने भाषा विज्ञान को आधार बनाकर पर्यावरण संकट को एक प्रमुख मुद्धा बनाया । जो हरितभाषा के लिए मील का पत्थर साबित हुआ । उनके अनुसार मनुष्य-मनुष्य के बीच मनुष्य और

अन्य जीव-जन्तुओं और पर्यावरण-व्यवस्था के बीच जीवन को बनाए रखने के रिश्ते को भाषा के प्रभाव के स्वर पर 'इको-लिग्विस्टिक्स जाँचता है ।

हरित भाषा से अभिप्राय: हरित भाषा पर्यावरण से पगी एक भाषा है । प्रकृति से रची-बसी एक भाषा, जिसमें समस्त पृथ्वी के कल्याण की भावना है । हरित भाषा में मानव-मानव के बीच संतुलन की बात निहित है । वर्तमान संदर्भ में जहाँ पर्यावरण संकट की बात जोर पकड रही है, वहाँ इस क्षेत्र में भाषा भी बदलती जा रही है । भाषा के इस बदलाव से प्रकृति से संबद्ध संस्कृति नष्ट होती जा रही है । भाषा एक नदी है, जो बहती हुई, हर नए रिवाज़ और रीति को अपनाती हुई आगे बहती ही रहती है । हरित भाषा भी प्रवाहमान है, इसमें प्रकृति से मिली-जुली भाषा, महत्व रखती है । पर्यावरण की व्यवस्था को संतुलित करने के लिए एक भाषा की अनिवार्यता है । 'इको-लिग्विस्टिक्स' भाषा विज्ञान की एक नई शाखा है । प्रो. आलविन फिल के अनुसार 'इको-लिग्विस्टिक्स' भाषा विज्ञान की एक नई शाखा है, जो पर्यावरणीय एवं पारिस्थितिकीय समस्याओं के विकास और साध्य-समाधान में भाषा का अनुसंधान करती है । हिन्दी साहित्य में पहली बार हरित भाषा पर डॉ. के. वनजा ने विचार किया । पर्यावरण या पारिस्थिति को सुरक्षित करने के प्रयास में उन्होंने भाषा को महत्व दिया । भाषा संस्कार है, इसलिए हरित भाषा पारिस्थितिक संस्कार से जुडी भाषा है । डॉ. के. वनजा लिखती हैं "पर्यावरण व्यवस्था में परिवर्तन हो रहा है, अलबत्ता पर्यावरण

संतुलन के लिए यथासंभव साध्य मार्गों का इस्तेमाल करना चाहिए । इसके लिए दुनिया भर की भाषिक व्यवस्था में नए प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य है। 'इको लिग्विस्टिक्स' इसकी जाँच-पडताल करता है।"[1] उनकी इस पुस्तक (हरित भाषा वैज्ञानिक विमर्श) में हरित भाषा के वैज्ञानिक तथ्यों पर भी विचार किया गया है । हरित भाषा का स्पष्टीकरण करते हुए डॉ. के. वनजा लिखती है "इको-लिग्विस्टिक्स मनुष्य, पर्यावरण और भाषा के बीच के आदान-प्रदान से संबन्ध सामान्य ज्ञान को बढाने हेतु या सामाजिक और प्राकृतिक पर्यावरण की समस्याओं पर योगदान देने के लिए मीडिया के अनुभवों के रूपायन की प्रक्रिया को भाषा वैज्ञानिक पहलुओं के आधार पर गहराई से विचार करना है।"[2] इस प्रकार हरित भाषा पर्यावरण की व्यवस्था को अलग नज़रिये से पेश करती है ।

समकालीन उपन्यासों में प्रकृति और भाषा का आंतरिक संबंध

प्रकृति और भाषा का संबंध अटूट है । औद्योगिकीकरण के युग में भाषा वस्तु बन गयी है । प्रकृति का शोषण, मानव को प्रकृति से दूर कर रहा है । मानव की प्रकृति के ऊपर जो निर्मितियाँ हो रही है, उन्हें संस्कार, प्रगति आदि नामों से हम पुकारते हैं तो हमें यह समझना चाहिए कि ये सब प्रकृति से मानव की दूरी के सोपान है । प्रकृति की अपनी भाषा है, लेकिन औद्योगिकीकरण व बजारू संस्कृति ने उस आवाज़ को यानी प्रकृति की

1. डॉ. के. वनजा - हरित भाषा वैज्ञानिक विमर्श, पृ. 32
2. वही - पृ. 34

भाषा को अनसुना कर दिया है । प्रकृति की भाषा सहज और सुन्दर है, वह मानव को एक सूत्र में बांधती है । मानव कल्याण की भाषा ही प्रकृति की भाषा है ।

हर रचना में पारिस्थितिक को स्थान देते हुए उसकी समकालीनता पर विचार करना है । रचनाओं की श्रेष्ठता पारिस्थितिक दर्शन से रूपायित होनी चाहिए । भाषा विज्ञान ने रूपायित कर दिया कि जनसमूह के द्वारा प्रयुक्त भाषा से उनकी जीवनदृष्टि और जीवन परिस्थितियाँ रेखांकित हो जाती है । व्यक्ति की अपनी भाषा में प्रयुक्त शब्दों से उसकी ज़िन्दगी की परिस्थितियों की पहचान तथा सांस्कृतिक इतिहास का पता मिल जाएगा । इस तरह के रहस्यों की सीपी है सचमुच प्रत्येक भाषा-शब्द । आज यह विचार मज़बूत है कि पारिस्थितिवाद की जीवन्तता की पहचान भाषा के शब्दों से की जा सकती है ।

वर्तमान युग इस प्रकृति की भाषा को भूल चुका है । स्वार्थ केन्द्रित मानव मात्र आर्थिक सत्ता के पीछे दौड रहा है । स्नेह, सहिष्णुता, ममता, अपनापन यह सब गुण प्रकृति की ही देन है या यूँ कहे तो ये सब गुण प्रकृति की भाषा ही है । उपन्यासों में प्रकृति की भाषा को बडे ही अच्छे व सुसज्जित तरीके से सहेजा गया है । समकालीन उपन्यास प्रकृति जन्य भाषा के सर्वोत्तम उदाहरण है । उपन्यास 'दर्दपुर' में प्रकृति से रमी भाषा का एक सर्वोत्तम उदाहरण देखने को मिलता है । उपन्यास की नायिका सुधा

विस्थापित स्त्रियों और बच्चों की सेवा केलिए कार्यरत है । विस्थापित होती प्रकृति की स्थिति भी दर्दनाक है । लेकिन इस बीच बसंत प्रकृति को हरा-भरा कर देता है, रहमाना को इन्तज़ार था राजरानी का । यानी दुख और वेदना की इस घडी में भी सुधा प्रकृति से, रूबरू हो कर अपने कष्ट को मिटाना चाहती थी "बीज बोने में देर नहीं होनी चाहिए । वह भी इस शीत-प्रवृत अत्यन्त संवेदनशील स्थल पर तो बिल्कुल भी नहीं । फसलों से बढकर है धरती को हरे-भरे कालीन उढाना, आच्छांदित करना । तितलियों का लयबद्ध नृत्य देखना और भौरों का हवा के महीन भँवरों के साथ-साथ लय-ताल मिलाकर घूमकर, निस्सीम और निगूढ शान्ति को संगीत से भर देना । फिर उस सारे वातावरण में फुदक-फुदक कर दौडना, झूम-झूमकर नाचना, खेलना, आनन्द विभारे होना और हवा और भौरों के संयुक्त बोल समझने की कोशिश करना । उन पाररहित गीतों का छंद पकडना और अर्थ खोलना ।"[1] अर्थात् प्रकृति की भाषा में प्रकृति का सौन्दर्य छिपा है । चाहे व्यक्ति दुखी हो या सुखी, प्रकृति उसके हर रंग को पहचानती है और प्रकृति के हर रंग में व्यक्ति के मन की भाषा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है । विस्थापन का दुख, उपन्यास में प्रकृति के माध्यम से बडे ही मार्मिक तरीके से दिखाया गया है ।

उपन्यास 'पहाड चोर' में भी प्रकृति जन्य भाषा का उदाहरण देखने को मिलता है । उपन्यास में पहाड के खदान में खनन के कारण नदी व धार

1. क्षमा कौल - दर्दपुर, पृ. 232

सूख जाती है । धार के सूख जाने के कारण पहाड की स्त्रियाँ पानी के लिए इधर-उधर भटकती हुई दिखाई देती है । 'धार' की विशेषता प्रकृति की ही खूबी है यानी प्रकृति की भाषा, प्रकृति के सौन्दर्य को पेश करती है । "सूरज की किरणें इस पर फैलती तो वे एक रंग में नहीं सात रंगों में बिखरकर बहुत शालीनता-सम्मान के साथ इसके हृदय-प्रदेश पर फैलती । यह तो इन किरणों की सीमा थी कि उनके पास सिर्फ सात ही रंग थे, वरना इस पर उत्सर्ग होने के लिए तो हज़ारों रंग भी कम थे।.... लेकिन इण्डूखाल की इस अनाम धार में जो कुछ बहता उसकी अंजुरी शरीर के रोमकूपों में ही नहीं, आत्मा की अतल गहराई तक उतरती है और जीवन देने के साथ जीवनेच्छा भी पैदा करती है ।... पहले इस धार के किनारे घास का हरा दुशाला बिद्दा होता और रंगबिरंगी चिडियों का कलरव गूँजता रहता । ... इसके सम्मोहन के जादू से कोई नहीं बच सकता था । न सजीव, न निर्जीव।"[1] यानी उपन्यास में धार की प्रमुखता को, उसकी विशेषता को बडी ही बारीकी और सुसज्जित भाषा से पिरोया गया है । प्रकृति की सुन्दरता को भाषा में संवारने का काम उपन्यास 'वनतरी' में बखूबी हुआ है । "चारों और फैला हुआ घना जंगल, किनारे-किनारे बहती ननबेलिया नदी, और इन सबके बीच कई टोलो में बसा हुआ अकेला गाँव डुमरी । सैकड़ों मील पसरे हुए इस जंगल में जहाँ अनगिनत पेड और अनपहचानी असंख्य झाडियाँ हैं, वहीं इन जंगलों के बीच हिंसक जानवर भी विचरते हैं, जैसे बाध, तेन्दुआ, और भालू।"[2] प्रकृति के

1. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 174
2. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव - वनतरी, पृ. 9

शोषण को भी भाषा बडे ही मार्मिक रूप से पेश करती है । पारिस्थितिक शोषण को उपन्यास 'धार' में यों व्यक्त किया गया है कि तेजाब की फैक्टरी के कारण सारा गाँव तहस-नहस हो गया है । अर्थात् तेजाब के गंध ने जलवायु को दूषित कर दिया है, साथ ही प्रकृति भी मलिन हो गई है। फसल, खेत और लोगों की सेहत पर तेजाब के जहर का बहुत गहरा असर हो गया है "हवा जब गाँव की ओर घूमती है तो अपनी रही-सही जान लिए बाँसगड़ा खांसता है... न, बाँसगड़ा नहीं, उनकी ऊँगली फैक्टरी की ओर उठ रही थी, वह उजली-उजली फफूँदी की झुर्रियों में लरजती तेजाब की फैक्टरी खाँसती है, अपनी धीमी बत्तियों की बुझी आँखों की चिलम में गाँव को भरकर पीती और सों-सों की खुराक आवाज़ के साथ उजला-उजला जहर उगलता हुई फैक्टरी।"[1] यानी फैक्टरी ने तेजाब के धंधे से पूरे गाँव को दूषित व अस्वस्थ कर दिया है । इस प्रकार, प्रकृति के सुन्दर और हरे-भरे दृश्य को भाषा अपना रंग देती है । वही दूसरी ओर भाषा द्वारा ही हम प्रकृति के शोषण को भी देख सकते हैं । भाषा प्रकृति के हर बदलते रंग को पेश कर सकती है ।

उपन्यास में स्त्री की भाषा

'भाषा स्त्री के अधिकार में नहीं' ऐसी गलत धारणा अक्सर देखी गई है । भाषा पर तो केवल पुरुष ही विराजमान है । भाषा पुरुष सत्ता के अधिकार की है, उसमें स्त्री मात्र, उसका उपयोग कर सकती है । नारीवादियों

1. संजीव - धार, पृ. 37

में मेरी डाली और डोरोथी स्मिथ आदि ने यह जाहिर कर दिया की भाषा की निर्मित पुरुष के हाथों में ही है । इसका प्रमुख कारण यह है कि संपत्ति से लेकर, समाज के सभी अधिकार पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने अपने हिस्से डाल लिए हैं । पुरुष की भाषा से अलग, स्त्री की भाषा यदि है तो वह हरित भाषा है । जहाँ पुरुष अधिकार और सत्ता की भाषा बोलता है वहाँ स्त्री हरित भाषा यानी प्रकृति की निकट बसती स्नेह की, साहिष्णुता और त्याग की भाषा बोलती है । स्त्री की हरित भाषा में मानव कल्याण की भावना है । डॉ. के वनजा स्त्री और प्रकृति की भाषा के संबंध को यों पेश करती हैं "भाषा एक सांस्कृतिक निर्मिति है, यह पुरुष वर्चस्ववादी समाज की रुचि पर केन्द्रित है। इसलिए हमारी भाषा पुरुष वर्चस्ववादी शोषक रूप को बनाये रखती है और प्रचार करती है । सूसन ग्रीक की रचना 'Women and Nature' The roaring inside her' स्त्री और प्रकृति के सामने जो चुनौतीपूर्ण यथार्थ है, उस ओर ध्यान आकृष्ट करती है -

"हम स्त्रियाँ हैं
हम प्रकृति हैं
हम फूल और परिन्दे हैं
हम प्रकृति और स्त्रियाँ हैं
पुरुष बोलता है
हमारी बातचीत वह सुनता नहीं है
लेकिन, हम सुनती है।"[1]

---

1. डॉ. वनजा - हरित भाषा वैज्ञानिक विमर्श, पृ. 50

स्त्री की भाषा, प्रकृति से जुडी है । स्त्री शोषित व पीडित वर्गों के लिए भी अपना सहयोग देती है । उपन्यास 'कठगुलाब' में स्त्री द्वारा आदिवासी स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों की देखभाल करना इसी सोच की कडी है कि स्त्री अपनी भाषा से, अपने सहयोग से पूरे परिवेश को बदल सकती है । उसमें स्वार्थजनित भाषा का प्रयोग नहीं है, वह सब को एक साथ मानवता व समता के तराजू में तौलना चाहती है, उपन्यास कठगुलाब में असीमा व स्मिता मिलकर आदिवासी इलाके में शिक्षा का कार्यक्रम चलाती हैं । जिसमें सब भाग ले सकते हैं चाहे वह लडके हो या लडकियाँ । असीमा व स्मिता मात्र लड़कियों को पढ़ा कर उन्हें ही प्रगति के मार्ग पर लाना नहीं चाहते बल्कि वे लडकों को भी शिक्षित करना चाहती हैं । उनके इन वाक्यों को देखिए "हमारा लक्ष्य ऐसा समाज होना चाहिए, जहाँ लड़के-लड़की का फर्क मिट जाए । पर अभी तो हम तराजू के पलडे ऊपर नीचे करने की स्थिति में है । पर घबराओ मत मैं लड़कों को अपने स्कूल में आने से रोकूँगी नहीं । सच, मैं चाहती हूँ, हमारे ही नहीं, गाँवों के सभी स्कूलों में लड़के-लड़कियाँ साथ पढे ।"[1] यही नहीं इसी उपन्यास के अंत में स्त्री की भाषा से प्रेरणा पा कर उपन्यास का एक मात्र पुरुष पात्र विपिन प्रकृति कि ओर लौटता है । वह गोधड गाँव जा कर वहाँ रमने की बात करता है । बंजर हुए अपने जीवन को प्रकृति के साथ मिलकर हरा-भरा करना चाहता है । "सब कुछ होगा । पेड-पौधे लहलहाएंगे । विपिन लहुसुन की खेती करवाएगा ।

1. मृदुला गर्ग - कठगुलाब, पृ. 241-242

बाज़ार में लहुसुन बिकेगा । गोधड के घर-परिवारों की आय बढेगी । बच्चे स्कूल जाएँगे । औरतों को काम मिलेगा । बदहाली कम होगी । बहुत कुछ होगा । विपिन करेगा सब कुछ, बस पाएगा कुछ नहीं।"[1] यानी स्त्री की हरित भाषा ने पुरुष के स्वार्थ को अलग कर दिया । स्वार्थी पुरुष की इच्छा सब कुछ पाने की है, लुटाने की नहीं । लेकिन स्त्री की सहिष्णुता ने, उसके त्याग ने उसे कभी प्रकृति की दोब में ला कर खडा कर दिया जिस दोब में पाने की लालसा खत्म हो जाती है, देने की भावना, लुटाने की भावना जाग उठती है ।

'कठगुलाब' उपन्यास में खुद कठगुलाब शब्द को लिखा जा सकता है । कठगुलाब कभी-फूलता नहीं है, वह बंजरता का प्रतीक है । लेकिन वह भी शोषण मुक्त एक प्राकृतिक वातावरण में लहलहाकर फूलने लगता है । अभी तक उसे बोने का मौका भी उपन्यास में नही है । यांत्रिक एवं औद्योगिक जलवायु में सब बंजर होते जा रहे हैं, लेकिन सामूहिक सहयोग एवं लोकजीवन एवं ग्रामीण पारिस्थितिक में सब लहलहाने लगता है । इसलिए 'कठगुलाब' की भाषा में प्रकृति की भाषा बहुत संजीदगी से अनावृत है ।

धार वह शब्द स्त्री का स्नेह प्रवाह है । पूरे एक गाँव तेजाब की फैक्टरी से उत्पन्न विषैले वातावरण से बचाने के लिए खुद मैना और उसकी माँ कितनी तकलीफों को झेलती है । फिर भी वे अपने जन कल्याणकारी

1. मृदुला गर्ग - कठगुलाब, पृ. 264-265

कर्म से मुडती नहीं है । उस प्रवाह में कई मैल बह जाता है । स्त्री की शक्ति की भाषा है इस उपन्यास में । स्त्री के हाथ में है समाज की सुरक्षा । यह दिखाने में इस उपन्यास की भाषा सहायक है । वह औद्योगिक संस्कृति के खिलाफ अपनी भाषा जाहिर करती है ।

स्त्री की भाषा, प्रकृति की ही अपनी ममता की भाषा है । वह सब को बचाने की और अपने में समेटने की भाषा जानती है । उपन्यास धार में मैना भी हर पीडित और शोषित को बचाती है । चकलाघर में काम करने वाली तुरिया रोग से पीडित है । हुवंइ रोग से पीडित तुरिया को मैना काम दिलवाती है । साथ ही जनखदान में उसे काम के साथ-साथ डाक्टर से उसका इलाज भी करवाती है । उसकी (मैना) सौंताली भाषा में वह कहती है "कोच्छ हरज नई । तू ऐसा कर, कल सितवा और उसका मरद जनखदान जाएगा, तू भी चली आ... तू-ई नई, ऊ सब मागी लोग (औरतें) जो चकलाघर छोड के काम करना चाएता है।"[1] यानी मैना उन सब का भी इलाज करवाना चाहती है और काम भी दिलवाना चाहती हैं जो चकलाघर छोड चुके हैं । वहीं दूसरी ओर उसकी सहेली 'मेरी' जो धर्म परिवर्तन कर के अपनी जिन्दगी का नक्शा बदलना चाहती थी, वह भी वापिस लौटकर मैना के पास आती है । अपने और अपने पति जैकब के लिए मैना से जनखदान में काम माँगती है, इस प्रकार मैना की सहिष्णुता और प्रेमभरी

---

1. संजीव - धार, पृ. 37

भाषा से जनखदान का काम पाने की लालसा हर पीडित व शोषित लोगों में जगती है ।

स्त्री की भाषा अलग है । क्योंकी उसकी भाषा में प्रकृति की गंध है। वह सहन की, मुक्ति की भाषा से ओत-प्रोत है । पुरुष से अलग स्त्री की भाषा विकास की ओर ही नहीं ताकती बल्कि उसमें विकास से घृणित हुए लोगों की वेदना भी शामिल है ।

विकास से उत्पन्न प्रकृति विरोधी भाषा

भाषा समाज का एक अभिन्न हिस्सा है । मानव-मानव के बीच भावनाओं व विचारों का आदान-प्रदान भाषा के माध्यम से ही सफल होता है । भाषा कभी सकारात्मक ढंग से, तो कभी नकारात्मक ढंग से विश्लेषित होती है । भाषा प्रतिरोध भी करती है, और साथ ही साथ प्रतिरोध के भिन्न तरीकों को भी अपनाती है । पारिस्थितिक विमर्श में प्रतिरोध की गंभीरता दिखाई देती है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में इस प्रतिरोध की भाषा दिखाई देती है । प्रकृति विरोधी भाषा का विश्लेषण इसके अन्तर्गत किया जाता है । प्रकृति के खिलाफ उठती आवाज़ प्रकृति विरोधी भाषा है । प्रकृति पर हो रहे शोषण को भाषा के माध्यम से परिप्रेक्षित किया जाता है । वह भाषा अलग और भिन्न है । प्रकृति का शोषण आज एक ज्वलंत समस्या बन गई है । प्रकृति पर सबसे ज्यादा शोषण भी हो रहा है । स्त्री ने प्रकृति के ऊपर होनेवाले शोषण को अपना शोषण समझकर इसके प्रतिरोध की भाषा को

अपनाया है। स्त्री ने उस मूक भाषा को पहचाना और उस विमर्श को अपनी आवाज़ दी । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में (Eco-Feminism) स्त्री अपनी आवाज़ में प्रकृति के शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाती है । उपन्यासों में इस शोषण का प्रतिरोध हुआ है और उसकी भाषा की अपनी खूबी है । प्रकृति मात्र उपभोग की वस्तु बन कर रह गई है । इसका उदाहरण 'अनबीता व्यतीत' में देखने को मिलता है । उपन्यास में पात्र समीरा का पिता पक्षियों का कारोबार करता है । वह पक्षियों का आयात-निर्यात करता है जिससे उसकी बेटी समीरा बहुत दुखी होती है । विकास व पूँजीवाद ने प्रकृति को अपने वश में करने का अथाह परिश्रम किया है और यह श्रम ज़ारी है । नीली झील में पक्षियों का आना समीरा को काफी पसंद था । लेकिन उसके पिता के इस षड्यंत्र से वह वाकिफ हो जाती है कि पिता पक्षियों का कारोबार करने वाला है । "यानी जो भी मुर्गाबी पनाह पाने के लिए हमारी झीलों पर आएगी, वह अब जिंदा बच के नहीं जाएगी । इस ग्लोबलाइज़ेशन ने हमारा नज़रिया ही बदल दिया है... अपनी खुशहाली और ऐशो-आराम के लिए दूसरे की मौत ज़रूरी हो गई हैं...."[1] यानी प्रकृति विरोध भाषा का प्रयोग इस उपन्यास में हर कहीं दिखाई देता है । अर्थात् प्रकृति का विरोध हर प्रकार से है चाहे वह जंगल का विनाश हो या पशु-पक्षियों की प्रजाति को समाप्त करने का कार्य। इन सब कारणों से प्रकृति ही नष्ट होती है, और जो मानव के नाश का भी कारण बनती है । लेकिन मानव इन सब से अभिज्ञन हो कर अपनी रौ में विकास का मज़ा उठा रहा है ।

1. कमलेश्वर - अनबीता व्यतीत, पृ. 122-123

विकास का प्रतिरोध

विकास ने गांव की, पहाड की मिट्टी में रंग धोल दिया है । वह मिट्टी आज लाल हो गई है क्योंकि हर तरफ विकास की बढती तेज़ रफ्तार ने संस्कृति का ढाँचा बदल दिया है । गाँव की संस्कृति व सभ्यता आज मिट्टी में मिल गई है अर्थात् सहज संस्कृति का रूप बदल चुका है । उपन्यास 'पहाड़ चोर' में पहाड की चोरी होती है, विकास के नाम पर पहाड का खनन होता है, पहाड़ जो गाँवों की पहचान है, उनके जिंदा रहने की वजह है, आमदनी का हिस्सा है, उस पहाड़ को विकास के नाम पर लूटा जाता है। सडक पहाड के गाँवों के लिए बनती है, सडक लाती है शहर से जुड़ी संस्कृति, सभ्यता और नए तरीके का जीवनयापन । गाँव की जनता ने कभी अंग्रेज़ी टूथपेस्ट नहीं किया था । लेकिन जैसे ही शहरी सभ्यता का प्रवेश होता है, गाँव के लोग अपनी सहज संस्कृति को भूल जाते हैं । उपन्यास का पात्र साबरा अपनी संस्कृति को भूल कर विकास की संस्कृति को अपनाता है । वह अन्य पात्र रामपत से अपनी शहरी संस्कृति का रौब भी दिखाता है "तिमूर की दातौन से दाँत पिसनेवाला बुदऊ क्या पूछना चाहता है ? उससे जो अंग्रेज़ी टूथपेस्ट करता है... अंग्रेज़ी टूथपेस्ट माने 'कोलगेट'। वो भी बुरूस से.... मुँह झाग से भर जाता है... हल्के, मीठे और गुदगुदे झाग से.. और सुगंध भरा एहसास रहता है दिन भर... कहाँ सीखी उसने दाँत साफ करने की यह आधुनिक विधा?"[1] उपन्यास का गाँव झंण्डूखाल अपनी

1. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 32

इतिहास की जडों से जुडा था । लेकिन अब वह नई धारा से जुड गया है। "सभ्यता से निष्कासित और इतिहास की अंधेरी खाई में खोया झंडूखाल समय और सभ्यता की धारा से जुड गया।"[1] यानी विकास की संस्कृति से गाँव अब शहर में तबदील हो रहे हैं ।

दूसरी ओर विकास ने मानव की सोचने-बूझने की शक्ति भी समाप्त कर दी है । मानव स्वार्थ केन्द्रित हो गया है, अब वह मात्र अपने अस्तित्व को ही बनाए रखना चाहता है । उपन्यास 'रह गई दिशाएँ इसी पार' में मनुष्य अपनी सीमातीत लिप्सा की पूर्ति के लिए पूरी दुनिया का इस्तेमाल करता है, फिर भी उसकी लिप्सा का अंत नहीं होता । मानव ने अपने सुख के लिए कई वैज्ञानिक तकनीकों का आविष्कार किया है, लेकिन वह इन आविष्कारों का दुरुपयोग कर रहा है, जिससे पृथ्वी का और संपूर्ण मानव राशी का अस्तित्व संकट में है । उपन्यास में दो तरह के इन्सान हैं, यानी जीवन को अलग-अलग तरीके से बिताने वाले दो भाई बिस्नू बिजारिया और किस्नू बिजारिया। बिस्नू लौकिक सुख से अपना जीवन व्यतीत करता है और अजर-अमर बनने के लिए वैज्ञानिक अधिकारों का प्रयोग करता है, दूसरी ओर किस्नू बिजारिया धर्म से अपना सुख लूटता है यानी अलौकिक जीवन में उसका विश्वास है । उपन्यास में, मानव द्वारा कृत नए-नए आविष्कारों से कितने जीव-जन्तुओं की ज़िन्दगी खत्म होती है इसका ज़िक्र भी है । आज

---

1. सुभात पंत - पहाड चोर, पृ. 28

की संस्कृति विकास से घुल मिल गई है । हरित भाषा में प्रकृति के अस्तित्व को लेकर चिंता है, इस उपन्यास में भाषा का एक उदाहरण देखिए "ब्रह्मांड का अंत है पर इस मनुष्य की लिप्सा का कोई अंत नहीं । एक जीत के बाद उसे दूसरी जीत चाहिए । वह जितना ही सहज और सुखी होना चाहता है उतना ही जटिल और दुखी हो जाता है । कुछ गांठे खुलती है, कुछ और गांठे बन जाती है । जीत के लिए उसे जनशक्ति चाहिए, ऊर्जाओं का स्वामित्व चाहिए, तकनीक चाहिए, अर्थ मनोबल और कौशल चाहिए । राष्ट्र चाहिए ताकि, उस पर अपना वर्चस्व स्थापित कर के धर्म और अनुशासन का पाठ चाहिए ताकि दूसरे सिर न उठा सके, धर्म चाहिए, इस्केटस चाहिए, पनाहगाह चाहिए। मन फिर भी ढूँढा होने लगता है, मनोरंजन चाहिए या फिर वैराग्य की शरणस्थली। ये फिर भी कुछ देर के बाद उबाने लगते हैं । पदार्थ से उर्जा और उर्जा से पदार्थ में संक्रमण चलता रहता है, कुछ देर बाद ही राख की परत चढने लगती है - सुख यहाँ नहीं, कहीं दूर चिलक रहा है कहीं। कहाँ...? पता नहीं।"[1] उपन्यास में प्रकृति जन्य संस्करों के नष्ट होने की उसे खोने की बात पर जोर दिया गया है । दिशाएँ अब दूर रही हैं, यानी सहज संस्कार या संस्कृति दूर रही है, अब मात्र एक ही दिशा बाकी बची है, जिसमें स्वार्थता है, धोखा है, दरारें हैं और संस्कार विहिन, शून्य विहीन ज़िन्दगी है। संजीव की भाषा में देखिए "यहाँ न पूरब है, न पश्चिम, न उत्तर, न दक्षिण, न ऊपर, न नीचे, न कोई रिश्ता है, न कोई मूल्य, न कोई संस्कार।"[2]

1. संजीव - रह गई दिशाएं इसी पार, पृ. 114-115
2. संजीव - रह गई दिशाएं इसी पार, पृ. 303

उपन्यास 'दावानल' में भी प्रकृति को विकास के नाम पर चूसा जाता है । संपर्क - मार्ग बनाने के लिए पेडों को काटना ज़रूरी है । नदी के ऊपर पुल बनाने की इच्छा गांववालों में जगती है ताकि संपर्क मार्ग बनाया जाए और विकास की गर्म हवा गाँव में प्रवेश कर सके । इसके लिए चार देवदार के पेडों को काटने की ज़रूरत आ पडी "सचमुच पुल का काम तेज हो गया। संपर्क-मार्ग तेजी से बनने लगा । नदी के दोनों तरफ काम चलने लगा । लोहे के भारी-भारी गर्डर उस पार सड़क किनारे उतर गए । एक तरफ की लैडिंग भी तैयार हो गई । .... दूसरी तरफ जहाँ पुल को लैंड करना था, वहाँ तीन वर्ग मीटर क्षेत्र में देवदार के चार पेड खडे थे । लोग इंतज़ार कर रहे थे कि पेड कटेंगे और दूसरी तरफ की लैडिंग भी जल्दी तैयार हो जाएगी।"[1] यानी विकास से उपजी संस्कृति ने जंगल को तबाह कर दिया है। विकास का होना ज़रूरी है लेकिन उस विकास से प्रकृति का या उससे जुडी संस्कृति का नाश नहीं होना चाहिए । उपन्यास 'पहाड चोर' में भी विकास की संस्कृति के आने की खुशी दिखाई देती है जैसे ही मोहन बऊ और पटवारी जो विकास का परवाना लेकर गाँव आए थे उन्हे रामपत काका ने झट से उन्हे आदर दिया । क्योंकि विकास की यह नींव आज उन्हीं के आंगन से शुरु होनी थी। रामपत के आंगन में मीटिंग है । रामपत विकास के आने की सूचना से फूला नहीं समाता और अपने को धन्य भी मानता है । उनका सारा परिवार इस बात से गर्व महसूस कर रहे थे कि आज विकास के लिए पहला कदम उन्ही

1. नवीन जोशी - दावानल, पृ. 231

के आंगन में तय होगा । "रामपत सातवें आसमान पर चढ़ गया । गाँव की प्रगति का बिगुल उसके ही आंगन में बजेगा । पता नहीं किस जनम के सुकारज फलीभूत हुए हैं कि गाँव के बदलते हुए भाग्य का दस्तावेज़ उसी के घर में लिखा जाना है । उसके तीनों बेटे रग्धू, धीरी और पुन्नी भी अपनी आस्तीनें गुलटकर अकड के घोडे पर सवार हो गए और रग्धू की पत्नी सुखिया आंगना लीपकर ओसरे में बैठी धडकते दिल से इन्तज़ार करने लगी।"[1] संक्षेपतः कहा जा सकता है कि विकास से उत्पन्न संस्कृति की भाषा अलग हैं, उसमें स्वार्थता की बू आती है । शोषण की अमानवीयता और क्रूरता इस विकास के पीछे की सच्चाई है, जिससे कभी भी मुँह नहीं फेरा जा सकता । उपर्युक्त भाषा में सुख, लिप्सा, भोग, अजर, जैसे शब्द काम करते हैं ।

विकास के खिलाफ उठते शब्द

यह बात सौ प्रतिशत सही है कि विकास ने तरक्की की कई राहें खोली है, लेकिन इससे यह मतलब तो नहीं निकलता कि उससे हुए भारी शोषण व अमानवीयता के आगे हम आँखे बंद कर लें । विकास का सबसे ज़्यादा आघात प्रकृति पर ही पडा है, वह प्रकृति जहाँ हम जीते हैं, साँस लेते हैं । मानव आज अपने सुख के लिए प्रकृति की शक्ति को ठुकरा रहा है । लेकिन वह यह बात भूल चुका है कि उसका अस्तित्व इसी प्रकृति पर निर्भर

1. सुभात पंत - पहाड चोर, पृ. 14

हैं । पारिस्थितिक स्त्रीवादी उपन्यासों में विकास के खिलाफ, उसके शोषण के खिलाफ आवाज़ बुलंद है । प्रकृति के दर्द को समझ कर, अपनी भाषा का सहारा देकर स्त्री ने इस लक्ष्य को अपना माना है । उपन्यास वनतरी में वनतरी अपने जंगल को अपना घर मानती है । वह जंगल में ही अपना जीवन-यापन करती है । उसे जंगल से बहुत अधिक प्यार है मिथिल जो उसी जंगल का रहनेवाला है, वह आदिवासी की ही तरफ अपना हक सरकार से माँगता है लेकिन सरकार षड्यंत्रों में पड कर उसका हक छीन लेती है । वनतरी अपने जीवन को जंगलों में ही व्यतीत करना चाहती है इसलिए वह शहर से वापिस जंगल की ओर आ जाती है । वनतरी प्रकृति पर हो रहे शोषण के खिलाफ कहती है "यह जंगल मेरा घर ही तो है । यदि सारे परहिया चोर निकल गए । तो तुम पीछे क्यों हो ? तुम भी लगा दो आग इस जंगल में । जल जाए यह कीमती फलदार वृक्ष जिनकी दोह में हमने जीना सीखा है।"[1] यहाँ घर शब्द का अर्थ सामूहिक बोध से जुडा है । संपूर्ण प्रकृति की साझेदारी इसके साथ है, लेकिन आज घर का अर्थ बदल गया । अणुपरिवार का हर सदस्य अपनी दुनिया में सिमट जाता है । वहाँ पारस्परिक संबंध नहीं है । आदमी घर में ही अकेला है ।

उपन्यास 'रह गई दिशाए इसी पार' में विकास की संस्कृति ने किस प्रकार जीवित व्यक्तियों को मुर्दा बना दिया है, इसकी चर्चा है । परिवार का हर पात्र नई संस्कृति व नई सोच के परिणाम है । हर व्यक्ति निर्वासित है,

1. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव - वनतरी, पृ. 20

अपने समाज से, अपनी सभ्यता से । अपने अस्तित्व को पहचानने की कसौटी विकास की चकाचौध में खो गई । उपन्यास का अतुल मैंशन श्मशान बन गया है । निर्वासन की इस त्रासदी से जूझते हुए लोगों की बिडम्बना देखिए "लाश की तरह सोयी मम्मी, बिल्ली की तरह चलती नानी, मूर्ति की तरह बैठी दादी, जीवन और मृत्यु के बीच झूलते देबू ठाकुर, प्रेत की तरह भटकते चाचा और पिता - यह अतुल मैंशन है या कोई श्मशान भूमि ?"[1] यानी प्रत्येक मानव का जीवन अस्तित्व विहीन हो गया है । अस्तित्व शब्द यहाँ विचारणीय है । आज के ज़माने में अस्तित्व के लिए भरसक कोशिश करने वाले खुद अपने अस्तित्व को मिटाने के साथ दूसरों के अस्तित्व को भी तहस-नहस करता है ।

उपन्यास 'एक ज़मीन अपनी' में विकास की तेज रफ्तार से भागती आबादी का ज़िक्र है । जो सिर्फ भोगी जा रही है, उसे नहीं पता कि धरती अब थक चुकी है । वह भी विरोध करना जानती है । शहर पर विकास के दुष्परिणाम को यों व्यक्त किया गया है "यह शहर बेमुख्वत क्यों नहीं हो जाता? क्यों नहीं यह विद्रोह कर देता कि अब बस करो ? मेरी देह इतना बोझ सहन नहीं कर सकती ? मेरी सांसे अवरुद्ध हो रही है ? मैं धंस रहा हूँ... धंस गया तो ? लेकिन किसी को कुछ सुनाई नहीं देता ।"[2] प्रकृति स्वयं अपने शोषण का विद्रोह करती है, उसके खिलाफ आवाज़ उठाती है ।

1. संजीव - रह गई दिखाए इसी पार, पृ. 222
2. चित्रा मुद्गल - एक ज़मीन अपनी, पृ. 96

'पहाड चोर' उपन्यास का यह सत्य इस बात को उद्‌घाटित करता है । 'धार, जिसमें पहाड की आत्मा बहती थी, जो हर पल, हर क्षण और सतत, जब तक वह जिंदा रही, जीवन बांटती रही और अपने अन्तः संघर्ष फिर से यही भावना लिए पुनर्जीवित हुई थी, का सौम्य चेहरा टूट गया । वह खदान से बने गट्‌टों और विवरों में बिलबिलाते जल दवाब से प्रचंड-उच्छृंखल बरसाती नाले में बदल गई और उसका विद्रोही पानी तटबंध को तोड़कर क्रुद्ध सर्पों की तरह फुफकारते हुए गांव में घुस गया।"[1] यानी प्रकृति के शोषण के खिलाफ प्रकृति स्वयं अपना बदला ले सकती है । प्रलय और भूकंप इसके उदाहरण हैं ।

निष्कर्षतः कहें तो प्रकृति के शोषण के खिलाफ विद्रोही भाषा का प्रयोग उपन्यासों में हुआ है । यह भाषा अपने आप में सशक्त है, क्योंकि इन वाक्यों में या इस भाषाओं में प्रकृति के शोषण के खिलाफ आवाज़ है जो हरित भाषा को बुलंद करती है ।

स्त्री की भाषा हरित भाषा है, इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि उसकी भाषा में प्रकृति की आत्मा बसती है । प्रकृति की भाषा को पहचानने की कुव्वत उसके अंदर है । वह आदिवासी, प्रकृति के काफी निकट है । उपन्यास कठगुलाब' में स्मिता व असीमा गोधड गाँव में जा कर अपनी अस्मिता की तलाश में सफल होती है । गोधड गाँव में आदिवासी लोगों के

1. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 354

साथ संबंध जोडती है । उनके हर कार्य में हाथ बटाती है, शोषण से मुक्त करती है । उन्हें शिक्षा का तोहफा प्रदान करती है । "वहाँ गोधड नाम के कस्बे में गरीब औरतों के लिए कुछ लघु उद्योग खोलने और बच्चों के लिए स्कूल चलाने की योजना है।"[1] यानी गोधड गाँव की सेवा करते-करते वह प्रकृति से सीधे जुड गई । उसे 'बा' का दर्जा दिया गया । गाँव के सब लोग उसे माँ के रूप में पहचानने लगे । यह एक माँ की संवेदना है, क्योंकि जिस प्रकार माँ बिन स्वार्थ के अपने बच्चों की देखभाल करती है, उसी प्रकार स्मिता बा ने भी गोधड गाँव की देखभाल की थी । "अब तो आलम यह था कि गाँव का बूढे से बूढा आदमी भी, स्मिता को बा कहकर पुकारने लगा था। कभी-कभी स्मिता खुद अपने को बा कहकर संबोधित कर उठती। सोचती हो न हो एक रात, सोते-सोते, बिना जाने, स्मिता मर गयी और उसकी निर्जीव देह में उसकी माँ ने प्रवेश कर लिया होगा।"[2] यहाँ माँ स्त्री पूरे एक गाँववासीयों को बचाकर माँ का दर्जा हासिल करती है । माँ बनने के लिए बच्चा देने की ज़रूरत नहीं । पूरे गाँव की रक्षा कर स्मिता उन सबकी माँ बनती है । स्मिता ने गाँववासियों को प्रकृति से मिलाया, लोक जीवन से मिलाया, यंत्र युग ने मनुष्य को निकम्मा बनाया, अपने कुटीर उद्योगों को भुला दिया लेकिन प्रकृति की ओर उसकी वापसी या सामाजिक जीवन की ओर वापसी, स्त्रियों के माध्यम से हुई ।

---

1. मृदुला गर्ग - कठगुलाब, पृ. 234
2. मृदुला गर्ग - कठगुलाब, पृ. 258

उपन्यास 'रह गई दिशाए इसी पार' में भी 'जलकार्षिक' नामक पौधे का जिक्र है । यह पौधा स्त्री ही की तरह है, वह खुद को हरा-भरा ही नहीं रखता, बल्कि अपने आस-पास को भी हरा रखता है । उपन्यास की पात्र बेला जो मछुआरों की देवी बन कर उन्हें शोषण से मुक्त करवाने का संघर्ष करती है । वह सबको प्रकृति की ओर यानी जीवन की ओर वापिस आने की प्रेरणा भी देती है । अजय जीवन से प्रेम करता है, वह बेला के प्रति आकर्षित है क्योंकि बेला मात्र एक स्त्री नहीं, उसमें जलकार्षिक जैसे पौधे के गुण भी बसते हैं । संसार ने जहाँ विकास की गंगा में डुबकी लगाई है, वहाँ मानव मात्र ही एक जीवी रह गया है, अपने स्वार्थ की पूर्ति के चलते वह पूरे संसार को एक बाज़ार मानता है । इस संदर्भ में 'बाज़ार' शब्द विचारणीय है। उपन्यास में पात्र जिम जो अपने अस्तित्व की तलाश में भटकता हुआ जी रहा है, वह सपने में बाज़ार देखता है । क्योंकि आज पूरी दुनिया बाज़ार है, सब मनुष्य, जीव जन्तु, माँस या मछली की तरह बिक्री के साधन मात्र के रह गए हैं । अजय 'जलकार्षिक' नाम पौधे पर शोध करता है, उसका व्यापक अर्थ है-रेगिस्तान को हरा-भरा करनेवाला पौधा । आज संपूर्ण संसार रेगिस्तान बन गया है, मूल्यों की च्युति और संवेदना की कमी ने संसार के हर कोने में सूखा फैला दिया है । 'जलकार्षिक' इस रेगिस्तान को हरा-भरा करने का एक जज़बा रखती है ।

हरित भाषा स्त्री की ही हो सकती है, क्योंकि पुरुष जब भाषा का

प्रयोग करता है तो उसमें पूँजीवादी सत्ता की बू आती है । विकास की रणनीति दिखाई देती है । स्त्री की भाषा में हरित भाषा की छवि गहरी है । स्त्री को बेजुबान पक्षियों की भाषा समझ में आती है, इसका उदाहरण 'अनबीता व्यतीत' में देखने को मिलता है । उपन्यास में नानी माँ के पास काकातुओं का जोडा है, वह उन्हें अपने बच्चों की तरह दुलारती है, प्यार करती है । किंतु नाना साहब शिकार के शौकीन है, वे जानवरों को मार कर मजा लेते हैं । नानी माँ को यह बिल्कुल पसंद नहीं । जब काकातुओं को भूख लगती है तो वे उन्हें अपनी भाषा में पुकारते हैं, उनकी भाषा केवल नानी माँ के समझ में आती है 'नानी माँ के काकातुओं का जोडा अपनी भाषा में उन्हें पुकार रहा था । वे अपने झूलों पर बैठे बार-बार नानी माँ को देखते, झूलों को अपनी आदत के मुताबिक जोर-जोर से हिलाते, चहक रहे थे । उनकी आवाज़ तेज़ से तेजतर होती जा रही थी ।"[1] अनामिका अपने विचारों में स्त्री-भाषा को यानी हरित भाषा को एक नया रूप देने की कोशिश करती है । लिखती हैं "स्त्री भाषा के पास है क्योंकि उसमें ब्रिदिंग स्पेस होता है । यह बोलने का उत्साह ही नहीं रखता, सुनने का धीरज भी रखता है, कंधे पर हाथ -रखकर सुख-दुख बतिया सकता है, सही जगह प्रश्न उठा सकता है, विस्मय व्यक्त कर सकता है, कान्ता-सम्मत उपदेश दे सकता है, 'अतिप्रश्न मत कर, गार्गी' आदि हज़ार अनर्तल धमकियाँ सुनकर भी वो हँस देता है किन्तु बोलना नहीं छोडता, प्रत्यक्ष नहीं बोल पाता तो परोक्ष बोलता है,

1. कमलेश्वर - अनबीता व्यतीत, पृ. 20-21

बिंबों-प्रतीकों से गुँथी हुई कविता, पहेलियाँ, मुकरियों की महाकूट भाषा, चिडियों की भाषा, स्मृतियों की भाषा ! एक 'पंक्ति में कहें तो सम्वादधर्मी होती है स्त्री भाषा, मुच्छड भाषणधर्मिता से अघायी हुई, एक हँसमुख दोस्त भाषा।"[1] यानी स्त्री की भाषा संपूर्ण प्रकृति से जुडी है । वह हर नए प्रतीकों से, बिंबों से प्रकृति के साथ तालमेल रखने में माहिर है । निष्कर्तः स्त्री की वेदना, स्नेह, करुणा, सहनशक्ति, ने उसकी भाषा में वह मर्म पैदा कर दिया है जिससे वह प्रकृति के और निकट आ गई है ।

स्त्री विरोध की भाषा

उपन्यासों में स्त्री के विरोध को लेकर कई प्रकार की बातों का जिक्र हुआ है । स्त्री जब प्रकृति के लिए लडती है, अपने समाज में शोषित हो रहे, पीडितों के लिए संघर्ष करती है तो उसके खिलाफ आवाज़ उठती है, उसे निम्नतर करार करने की जदोजहद चलती है । पुरुष उसकी अस्मिता पर, अस्तित्व पर वार करता है । उपन्यास 'धार' में मैना की माँ ने जब शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाई तो उसे 'डायन' करार दिया गया । इस प्रकार उपन्यास में स्त्री के विरोध में अश्लील भाषा का प्रयोग भी हुआ । पुरुष वर्चस्ववादी समाज के प्रतिनिधि के रूप में महेन्द्र बाबू और बबन दिखाई देते हैं । मैना जब पैसा माँगने जाती है तो उसे अश्लीलता का कहकहा सहना पडता है । "इस बेचारी के गड्ढे पर कब्जा भी कर लिये, पैसा भी नहीं दिये ।"[2] उपन्यास 'चाक' में सारंग और

1. अनामिका - स्त्री विमर्श का लोकपक्ष, पृ. 143
2. संजीव - धार, पृ. 116

रंजीत के बीच पति-पत्नी का रिश्ता था, पर यह रिश्ता कहीं न कहीं खोखला था, इसी कारण सारंग, श्रीधर से अपना संबंध जोडती है । यह संबंध सारंग के लिए कभी भी गल्त न था । वह उसे पवित्र मानती थी । इसलिए उसके इस संबंध को लेकर उसके ससुर की कोई आपत्ति नहीं दिखती । रंजीत सारंग को इस संबंध के लिए ललकारता है और कहता है "साली आ इधर। बाहर निकल बदकार । तेरी माँ को.... बहनचो!"[1] स्त्री के मात्र भोग्य । बनाने की संस्कृति की भाषा 'रह गई दिशाएं इसी पार' में देखने को मिलती है । स्त्री को बाज़ार में मछली की तरह बेचा व खरीदा जाता है । यह स्त्री शोषण का एक बहुत बडा पहलू है । पैशन की रंग-बिरंगी दुनिया भी पुरुष सत्ता के आधीन है, वे स्त्रियों को अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करते हैं । उन लोगों की मात्र यही इच्छा होती है कि वह अपना उल्लू सीधा करें । देखिए "यौन उद्योग में कडी प्रतियोगिता है । रोज़ नये स्वाद के लिए नयी-नयी लडकियाँ चाहिए । किस्म-किस्म की लड़कियाँ, गौरी, काली, मोटी, पीली, नीली और बिल्लौरी और सपनीली आँखोंवाली, और शर्मीली... जवानियाँ वैसे भी दो-पाँच साल में ढल जाती है, सो हमेशा फ्रेश माल चाहिए। दुनिया भर में करोडों लड़कियाँ जवान हो रही हैं । बनी रहे तीसरी दुनिया की गरीबी, बनी रहें पश्चिम-पूरब की स्वेच्छाचारी वृत्तियाँ, लडकियों की कोई कमी नहीं । फैशन, शोज़ मॉडलिंग, रीमिक्सिंग.. कितना कपडा ? कैसे ढँके.. कि देह और एक्स्पोर्ड हो जाय । मछलियों की तरह ही धंधा है

1. मैत्रेयी पुष्पा - चाक, पृ. 325-326

जवान लडकियों का। खेप-दर-खेप लाकर उलीचते रहते है। फिर छांटी जाती है, प्रोसेसिंग में उनके ब्रेन को निकाल देते हैं, सप्लाई होती है, एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट होता है। कुछ दिनों में मर जाती हैं या मार दी जाती है, मछलियाँ भी, लडकियाँ भी...।"[1] यानी स्त्री का अर्थ मात्र भोग के लिए उपयोग की जाने वाली सामग्री है । उसे किसी भी प्रकार व्यापार का साधन बनाया जा सकता है । उपन्यास 'वनतरी' में भी, वनतरी उपन्यास की प्रमुख पात्र है, वह उस जंगल की बेटी है । जंगल में उसका मित्र मिथिल भी है, वे दोनों मिलकर जंगल के शोषण के खिलाफ संघर्ष करते हैं । जंगल की संपदा व खनिज को ज़मीन्दार लूटते हैं, साथ ही जंगल की लडकियों की ज़िन्दगी भी खतरे में है, उनके साथ बलात्कार जैसी वारदातें होती ही रहती हैं । ज़मीन्दारों से मिला साहू वनतरी से वाद-विवाद करता है । वनतरी जब तेल लेने जाती है तो साहू उसका अपमान करता है, जब वह उसका प्रतिरोध करती है तो साहू कहता है ''देख री वनतरिया, अब तू बहुत चढकर बोलने लगी है । देह में इतनी गर्मी है, तो कहो ठाकुर को खबर कर दूँ । बहुत दिनों से बेताब हैं । एक ही रात में सारी गर्मी निथर जाएगी।"[2] अर्थात् वह वनतरी के इज्जत पर हाथ डालना चाहता है । उसकी यह भाषा सीधे वनतरी के आबरू पर प्रहार करती है । उपन्यास 'दर्दपुर' में भी स्त्री के शोषण को व्यक्त किया गया है । भाषा में प्रतीक और बिंबों का सहारा ले कर, मन की भावनाओं को व्यक्त किया जाता है । 'दर्दपुर' में देखिए "लकडी से नहीं

1. संजीव - रह गई दिशाए इसी पार, पृ. 226-227
2. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव - वनतरी, पृ. 50

पूछा जाता है कि वह किसकी है?.... या क्या उसे जलाया जाना चाहिए या नहीं.... या क्या वह जलाया जाना पसंद करेगी या नहीं ? उसे ज्यों ही मौका मिले, लूटा जाता है, जलाया जाता है । गर्माया जाता है खुद को, आनन्द विभोर किया जाता है खुद को... ठीक स्त्रियों की तरह।"[1] यानी स्त्री विवश है उसके खिलाफ कई जुमले इन उपन्यासों में देखने को मिलते हैं । स्त्री के लिए रंडी, चालबाज, डायन, बदचलन, वेश्या, जैसे शब्दों का प्रयोग इन उपन्यासों के अन्तर्गत हुआ है । बात सीधी तरह साफ है कि यदि कोई स्त्री अपने शोषण के खिलाफ या अत्याचार, शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाती है या संघर्ष करती है तो उसे इन नामों की संज्ञा से अभिहित करार कर दिया जाता है । अपनी इच्छा की पूर्ति करने में यदि स्त्री आगे बढती है तो वह समाज में गलत साबित हो जाती है । उसके खिलाफ या उसके विरोध में फिर भाषाओं का परिवर्तन हो जाता है । भाषा बदल कर गाली-गलौच या अश्लीलता का रूप ले लेती है ।

जातियों और जनजातियों के शोषण केलिए प्रयुक्त भाषा

उपन्यासों में जाति के विरोध की भाषा को भी अंकित किया गया है। दीकू और सौताल जातियाँ हैं जो वे आदिवासी के अन्तर्गत आनेवाले हैं । उन पर भी विचार हुआ है । उपन्यास 'धार' में दो आदिवासी जातियों का जिक्र हुआ है । मैना जो नायिका है, वह सौताल है, लेकिन दूसरा दीकू भी

1. क्षमा कौल - दर्दपुर, पृ. 21

है जो इन सौंतालो को अपने से नीच मानता है । मैना इस सौंताल वर्ग की मुखिया है, वह उन लोगों को सलाह-मशविरा देती है, कि कैसे कोयले की खोज करनी है और उसकी खरीद-फरोत कैसी होती है । उपन्यास में ज़मीन्दार महेन्द्र बाबू है जो आदिवासी जातियों में फूट डलवा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है । वह (महेन्द्र बाबू) अपने इलाके में ज़्यादा भ्रष्टाचार नहीं कर पाता क्योंकि मैना इस शोषण को रोकने की जदोजहद में है। सौंतालों की लडकी मैना अपने वर्ग को शोषण से बचाना चाहती है । इसलिए महेन्द्रबाबू लिखते हैं "आप लोग समझते क्यों नहीं, मैं इस औरत के रहते इस इलाके में कोई काम नहीं कर सकता । ऐसी औरत मैंने देखी नहीं जो बाप और मर्द को दलाल कहकर छोड दे । जेल में बच्चा पैदा करें और आदमी फंसाकर ले आए । सौतालों की लीडर बनती है स्साली।"[1] यानी सौतालों की इच्छा शक्ति के विरोध में ज़मीन्दार अपना षड्यंत्र रचते रहते हैं । मैना अपनी बिरादरी को यानी सौंताल वर्ग को इज्जत की रोटी देना चाहती है, वह कोयला की चोरी के खिलाफ है, वह कोयला का काम बिना किसी बेइमानी से करना चाहती है, जब शर्मा जेल में बंद हो जाता है, जो उन सौतालों का सहायक था, तब उसकी बिरादरी घबरा जाती है । मैना बिल्कुल निडर खडी रहती है, वह ईमानदारी की रोटी खाना चाहती है और अपनी बिरादरी से कहती है "सोचा, इज्जत का रोटी खाये सब, बहुत पत्तल चाटा, लेकिन कुत्ता का जात...। कान खोल कर सुन लो, जिसको गू खाना

1. संजीव - धार, पृ.74

हो खाये, लेकिन हमसे सटा तो ठीक नई होगा । तुम अपना का मालिक ! हम अपना का !"[1] उपन्यास में पंडित जो सौतालों का हमदर्द बनता है वो मैना को सहायता देता है, वह कहता है कि हम तुम सबकी भलाई चाहता है लेकिन मैना सब समझती है, समझती है कि पंडित के साथ दीकू मिले हुए हैं कहती है "दिकू मोंग सेता मोंग !दिकू की आँख कुत्ते की आँख है)... "ए पंडित, दिकू का चाल मत चलो, कै दे रआ है, हाँ तीर चल जायेगा तीर "[2] किंतु आदिवासी की सबसे बडी हार यह है कि वह एक जुट नहीं, वह अलग-अलग वर्ग में बंटा हुआ है । सरदार निहांल सिंह इस पर व्यंग्य भी करता है "आदिवासी सब तो लाल झंडा, तिरंगा झंडा में बंटा हुआ है।"[3] मैना पर शक करते हुए शर्मा मजाक में भी कहते थे कि मैना सौतालों की अपनी नहीं। क्योंकि मैना आदिवासी के जैसे भाग्य में, अंधविश्वास में भरोसा करके नहीं बैठती । वह संघर्ष में विश्वास करती है, उसका अटूट विश्वास संघर्ष से जुडा है । इसलिए शर्मा कहते हैं "न तुम्हारा रूप सौंतालों से मिलता है न रंग, न भाषा, न आचरण, तुम किसी और ही नस्ल की हो, उस नई नस्ल की जो अपनी मिट्टी, हवा-पानी से उखड कर देश के महानगरों और औद्योगिक कस्बों की तलछट बनी जीने को अभिशप्त है, जिनका न ठाँप है, न ठिकाना"[4] उपन्यास 'इदन्नमम्' में भी जातियों की चर्चा है, अलग-अलग जातियों के लोग गाँव में काम ढूँढने आए हैं, उनका जीवन घुमन्तु हैं । यह

1. संजीव - धार, पृ. 91
2. वही - पृ. 92
3. वही - पृ. 92
4. वही - पृ. 110

अपनी 'टपरियाँ' यानी घर बनाते हैं जो अस्थाई घर होता है, जिसे कभी भी उखाडा जा सकता है । उपन्यास की नायिका मंदा ने राऊतों की टपरियाँ देखी हैं । ढाई फुट उंचाई की दीवारें, धान के पयाल से छवी और गोबर से लिपी ढलवाँ छतें । द्वार इतने संकरे कि आदमी लैट-बैठकर ही अंदर प्रवेश कर पाए । इन वर्गों के लोग मेहनती होते हैं । वे अभिलाष नामक ज़मीन्दार के क्रेशर पर काम करने आए हैं । यह वर्ग अलग-अलग अन्दरुनी भागों से संबंध रखते हैं "ये क्रेशर पर लगे फुटकर मज़दूर ललितपुर जिले के अन्दरुनी भागों से आए राऊत-सहारिया जाति के हैं । ललितपुर ही क्यों, सागर, गुना, टीकमगढ, छतरपुर आदि जिलों के वन प्रान्तों के बाशिन्दा हैं ये लोग और यहाँ सोलिंग (मोटा पत्थर) तोडने का काम करते हैं । पहाड फोडकर रोटी कमाते हैं।"[1] यानी ये वर्ग अपना जीवन इस प्रकार के पहाडों को तोडकर व्यतीत करते है । गाँव की बोली, इन वर्गों की बोली, भाषा के सौन्दर्य को निखार सकती है । लालबहादूर वर्मा लिखते हैं "भाषा गाँव में बनते गुड जैसी - ठेठ का ठाठ, खांटी, 'आफ्त तो जो थी कि वहाँ जिनावर नहीं आदमी बसते थे । जे कहो कि करम कांकरी है हमारे जीवन में । बोली का भाषाई संस्कार-सौन्दर्य।"[2]

उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में भी कज्जा वा कबूतरी जाति के विरोध को प्रकट किया गया है । कज्जा यानी उच्च जाति के लोग, वे पुलिस के साथ मिलकर कबूतरी जाति का शोषण करते हैं । अल्मा, या कदमबाई

1. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम्, पृ. 258
2. मैत्रेयी पुष्पा - तथ्य और सत्य, पृ. 122

कबूतरा जाति की प्रतिनिधि है । "कबूतराओं की बदनुमा हालत, कज्जाओं की घृणा और हृदयहीनता, पुलिस का अमानुषिक बर्बर रूप, चंबल के बीहडों से निकलकर डाकुओं का विधानसभाओं में प्रवेश, पुलिस अपराधियों और राजनीति का गठबंधन आदि पर टुकडा-टुकडा प्रकाश डालकर यह उपन्यास के एक कोलाज का रूप दे डालता है।"[1] सत्य तो यह है कि अल्मा, जंगलिया, कदमबाई, रामसिंह आदि अपनी जाति के कारण शोषण के शिकार हुए हैं तो धीरज, केहरसिंह, मंसाराम जैसे कज्जा अपनी किसी दुर्बल स्थिति के कारण शोषण के शिकार हुए । पुलिस इस कबूतरा जाति पर शोषण व अमानवीय अत्याचार करती है । एक दम से एक दिन कबूतरा के गाँव में सिपाही आ धमके और गोली चलाने लगे । लोग डर के मारे भागने लगे । दृश्य देखिए "बच्चे कहाँ? मुर्गियाँ कहाँ ? कबूतरियों को अपना संसार याद आने लगा । बकरी... बकरी का सिर उड गया । अरहर की पत्तियाँ हरी से लाल हो गई । सरमन की औरत रो भी न सकी । डंडेवाला पीछे था... जांधों में डंडा घुसाने लगा । सरमन की औरत पूरी ताकत लगाकर चीखी - सखियाऽऽआ! सखिया के चेहरे पर दाद के रोगी जैसा भाव था।"[2]

संक्षेप में देखे तो वर्ग विरोधी भाषा का ज़िक्र इन उपन्यासों में हुआ है । वर्ग चाहे कोई भी हो, शोषण की परिणति होनी चाहिए । शोषण हर हाल

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - तथ्य और सत्य, पृ. 122
2. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 44

में शोषण ही होता है । चाहे वह आदिवासी वर्गों का हो या दलित जाति का, शोषण एक अमानवीयता ही है । शोषण के खिलाफ उठते शब्द, भाषा को एक नई उर्जा प्रदान करते हैं ।

भाषा में वह शक्ति है जो एक-दूसरे के विरोध को बडी बारीकी से संप्रेक्षित कर सकती है । भाषा और संप्रेषण एक ऐसा मिश्रण है जिसे एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता । जाति के विरोध में भी यह भाषा काम करती है, एक जाति का विरोध जब दूसरी जाति करती है तो उस भाषा की बारिकियों को समझना एक हद तक आसान नहीं होता । अल्पसंख्यक की जाति पर होने वाला शोषण जाति आधारित भी हो सकता है । उपन्यासों में जाति विरोधी भाषा का प्रयोग हुआ है । हिन्दू-मुस्लिम जाति या धर्म का विरोध देखा जा सकता है । एक जाति यानी उच्च जाति दूसरी नीची जाति का शोषण करती हुई नज़र आती है । उपन्यासों में विस्थापन की स्थिति की अवस्था ज़्यादातर इस जाति विरोध के कारण हुई है ।

विस्थापन का दर्द उसी स्थान पर होता है, जब स्वार्थता उपजती है । स्वार्थता ने जाति के नाम पर कई शोषण किए हैं । उपन्यास 'वनतरी' में मिथिल के साथ शोषण होता है उसकी ज़मीन जायदाद सब एक हरिजन को दे दी जाती है । क्योंकि वह (मिथिल) एक ब्राह्मण गरीब युवक है । इसलिए कुल मिलाकर मिथिल को ज़मीन के अधिकार से हाथ धोना पडता है । इस उपन्यास में बिनेसुर तूरी हरिजन है मिथिल गरीब ब्राह्मण । दोनों को जाति

के नाम पर बरगलाया जाता है । गरीब मिथिल ब्राह्मण से बदला लेने के लिए उसकी ज़मीन पर, ज़मीन्दार बिनेसुर तुरी को बिढा देते हैं । इसलिए उमेश बाबू जो वहाँ के अधिकारी हैं वे बिनेसुर को समझाते हैं । "तुम हरिजन हो, मैं जानता हूँ । मगर दया की भीख क्यों माँगते हो ? तुम्हें पूरा सम्मान मिलना चाहिए । मगर यह जाति के आधार पर दिया संरक्षण तुम्हारा सम्मान नहीं, इसमें तुम्हारा अपमान है।"[1] यानी जाति के नाम पर शोषण की इस अवस्था का विरोध उमेश बाबू करते हैं । यह शोषण गरीब ब्राह्मण मिथिल के प्रति एक अत्याचार है ।

उपन्यास 'दर्दपुर' में कश्मीरी भट्टों के ऊपर हुए शोषण का ज़िक्र है। उन्हें कश्मीर से बाहर निकालने की कोशिश वहाँ के मुसलमानों ने की थी । यहाँ यह बात सांप्रदायिकता का जामा भी पहन सकती है । लेकिन जाति का विरोध, खासकर हिन्दू भट्टों के विरोध में लिखी गई भाषा का नमूना देखिए "भट्टों, दफा हो जाओ... फोरैन... कुछ घंटों के अंदर.... अंदर.... नहीं तो कत्लेआम....। हिन्दूस्तानी जासूसों....हिन्दुस्तानी कुत्तों...दफा हो जाओ.... जान प्यारी है तो दफा हो जाओ।"[2] यानी कश्मीर में हिन्दू भट्टों की अपनी कोई अस्मिता नहीं, मुसलमान जाती के नाम पर शोषण करते हैं, उनकी स्त्रियों को भोगते हैं । इसी उपन्यास की पात्र सुमोना, गुलशनआरा हिन्दू व मुसलमान की सहिष्णुता पर विचार करते हैं । उनका प्रश्न है कि मुसलमान

1. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव - वनतरी, पृ. 68
2. क्षमा कौल - दर्दपुर, पृ. 79

पंडित के प्रति सहिष्णु क्यों नहीं होता ? सुमोना के इस प्रश्न पर गुलशनआरा अपनी सहिष्णुता का भाव यों करती है "मैं तुम्हारी इस धर्मनिरपेक्षता पर थूकती हूँ । मैं तुम्हारी तरह धर्मनिरपेक्षता की बोटी-बोटी काटकर कोओं को डालती हूँ । मुझे उग्रवाद ने मारा । मुझे मेरी सहिष्णुता ने मारा सुमोना । मैं इस उत्तर में मिल रही असहिष्णुता को मार डालूँगी... उग्रवाद को मार डालूँगी.. मैं चाहती हूँ मेरा प्रतिद्वन्दी भी मेरे प्रति सहिष्णु हो जाए और द्वन्द्व का निकारव हो जाय.... तब मुझे सहिष्णु होना बहुत-बहुत स्वीकार है... सहर्ष स्वीकार"[1] मतलब यह है कि गुलश्नआरा एक मुस्लिम है, लेकिन वह हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता का भाव रखती है । धर्म या जाति के नाम का शोषण वह नहीं चाहती । एक जाति को दूसरे जाति के प्रति आदर का भाव भी ज़रूरी है ।शायद जो आज एक विकराल रूप बन चुका है । उपन्यास 'शिगाफ' में भी हिन्दू-मुस्लिम धर्म और जाति के बीच टकराहट को देखा जा सकता है । विस्थापन की त्रासदी इस टकराहट का अंतिम सत्य है । जाति के नाम हुए विरोध ने हिन्दू-मुस्लिम के बीच शिगाफ (दरार) डाल दी है । ऐसी कई वारदातें सुनने को मिलती है कि जिसमें गैर-मुसलमान को जाति के नाम पर मार दिया गया हो । उपन्यास में अब्बू इस सत्य का उद्घाटन भी करते हैं "सैकडों गैर मुस्लिम लोग कुत्तों की तरह घेर लिए गए और शूट कर दिए गए । कश्मीर के अलगाववादी संगठनों ने पुलिस और सेना के छक्के छुडा दिए हैं । सोई पडी बस्ती में आग लग जाने पर जैसी भगदड

1. क्षमा कौल - दर्दपुर, पृ. 79

मचती है, वैसा ही कुछ मंजर देखा था मैंने । जिधर सुनो उधर... जिधर देखो उधर हज़ारों की तादाद में हिन्दू शहर, गाँव-कस्बे छोड रहे थे । बेशुमार मुसीबतें गले में बांधकर, अनजाने-अनदेखे प्रदेशों की तरफ बढ रहे थे । दरिंदगी की आग तमाम आसपास की चीज़ों को लील रही है।"[1] इस प्रकार जाति के विरोध को लेकर कई वारदातों का जिक्र इन उपन्यासों में हुआ है। भाषा ने अपने प्रतीकों और बिंबों से इस विरोध को और अधिक संवेदनीय बना दिया है ।

नव मानवीय मूल्यों के रूपायन में हरित भाषा

हरित भाषा की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें मानवता का हित छिपा है । मानव का कल्याण ही साहित्य का लक्ष्य है । साहित्य के क्षेत्र में मानव-प्रकृति और मानव-मूल्यों के बीच संबंधों का प्रश्न साहित्य और जीवन के अर्न्तसंबंधों के प्रश्न से जुडा हुआ है । वही दूसरी ओर मनुष्य का लौकिक सुख और कल्याण ही मानववाद का मूलभूत लक्ष्य है । मानववाद मानवहित की वकालत करता है । मानववादी विचारधारा पर विचार करते हुए पी. के. चन्द्रन लिखते हैं "मानववादी विचारधारा का उद्देश्य एक ऐसे विश्व का निर्माण करना है जिसमें मनुष्य की समानता हो । मनुष्य का प्रमाण मनुष्य ही हो, गरीबी का उन्मूलन हो और लोगों को भोजन, वस्त्र, निवास आदि की सुविधा हो, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, बौद्धिक और भावात्मक स्वतंत्रता का उपभोग हो और इस प्रकार एक नई मानव संस्कृति का उदय हो।"[2] मानवीय मूल्य की

1. मनीषा कुलश्रेष्ठ - शिगाफ, पृ. 96
2. पी.के. चन्द्रन - मधुमती, फरवरी, वर्ष 1992

स्थापना भाषा के माध्यम से गहरी मन में पैठती है। क्योंकि भाषा सीधे मन पर प्रभाव डालती है । हरित भाषा में यह खूबी छिपी है, जिससे मानवीय मूल्यों की स्थापना होती है ।यह मानवीय. मूल्य पुराने नहीं, इसमें प्रकृति के गुण भी छिपे हैं यानी हरित भाषा में नव मानवीय मूल्य का रूपायन होता है। राजेन्द्र यादव भाषा पर विचार करते हुए लिखते है कि "भाषा हम स्वयं नहीं गढते वह हमें बनी-बनाई मिलती है, जिसे न जाने कितनों ने कितने सालों में बनाया है । आप सिर्फ उसमें शामिल होकर अपना रंग देते हैं । वह आपके अपने भीतर होती है, मगर रचना में अपने आप में तोडकर उससे एक बाहरी तत्व की तरह जूझना पडता है ।"[1] हरित भाषा ने भाषा में अपना रंग शामिल कर लिया है, इस रंग में, मानव के मूल्यों को बचाए रखने की माँग प्रमुख है । इस हरित भाषा में मात्र मानव के हित की बात ही नहीं, बल्कि प्रकृति से जुडे हर जीवी की अच्छाई छिपी है । चाहे वह दलित, आदिवासी, स्त्री या हाशियेकृतों का कल्याण क्यों न हो ? सब इस के अंदर है । उपन्यास समय सरगम की ओर देखे तो, उसमें मानवीय मूल्यों की कहानी कही गई है । ईशान उपन्यास का एक पात्र अनाथ लडकियों का पिता है यानी वह दो लडकियों को पैसे दे कर पढ़ाता है जो मानव के अंदर का सबसे प्रमुख गुण है कि दूसरों की पीडा को अपनी पीडा समझना। ईशान का यही गुण आरण्या के अंदर भी छिपा हुआ है । आरण्या मानवीय-मूल्यों की थाती संभाले हुए है, इसलिए वह उन लडकियों के लिए तैयारियाँ करती हैं, उनसे

1. राजेन्द्र यादव - उपन्यास स्वरूप और संवेदना, पृ. 35

मिलने पर उन्हे भेंट देना चाहती है । "आरण्या ने सूजी, घी, बूरा-बादाम, किशमिश निकाले और हल्की आँच पर भूनकर लड्डू बना दिये।.... प्रॉक, मोजे, और जूते । रिबन । कैलेंडरो, पत्रिकाओं से फोटोज़ काटकर पुराने निमंत्रण पत्रों पर चिपका दीं । इकट्ठे रखे रंगदार कागज़ निकाले और दो लिफाफों में रख दिए । एकाएक महसूस किया, घर कुछ और-सा लग रहा है । बच्चों के आने की तैयारी की जा रही है।"[1] मतलब यह बच्चे उनके नहीं हैं न आरण्या के न उनके दोस्त ईशान के । लेकिन ईशान ने इन बच्चों को मानवीयता की खातिर गोद लिया है । वही दूसरी ओर 'दावानल' उपन्यास की डॉ. ज्योति को ही देखे तो पता चलेगा कि उन्होंने अपना जीवन, मानवीयता की भलाई के लिए होम कर दिया । डाक्टर ज्योति की शादी एक डॉक्टर से ही हुई थी, लेकिन उनकी यह शादी सफल न हो सकी । क्योंकि डॉ. ज्योति पहाडों में रहकर पहाडी औरतों की सेवा करना चाहती थी लेकिन पति ने उन्हें शहर दिल्ली में आकर अपना नर्सिंग होम चलाने की सलाह दी। डॉ. ज्योति मानवीय मूल्यों की पक्षधर थी, इसलिए वह पहाडी औरतों को छोड कर नहीं गई । उसका कहना है कि "वह बेचैन रहा करती है और फिर-फिर अलमोडा लौट आती - जहां के सरकारी अस्पताल में मरीजों की हालत उसके छुट्टी पर जाने से खराब हो गई रहती । उसे इन्हीं औरतों की सेवा करने में आनन्द और संतोष मिलता है । अपनी सार्थकता उसे यहीं मालूम देती है।"[2] उपन्यास दर्दपुर की सुधा भी दूसरों के दर्द को पहचानती है । वह

1. कृष्णा सोबती - समय सरगम, पृ. 115
2. नवीन जोशी - दावानल पृ. 112

भी निर्वासन से पीडितों की सहायता में लगी रहती है । 'कठगुलाब' उपन्यास की स्मिता व 'चाक' उपन्यास की सारंग यह सब स्त्रियाँ मानवीय मूल्यों की थाती संभाले खडी है । उनकी भाषा में मानवीयता रची-बसी है इसलिए उन्हें दूसरों के दर्द को जल्दी पहचानने में मदद मिलती है, उनकी भाषा में भी यह बात छिपी है । उनके लेखन की भाषा भी यही सिद्ध करती है । आदर्श मदान लिखते हैं "संवेदना, करुणा, दया, ममता, वात्सल्य आदि उत्कृष्ट मानवीय गुणों की थाली संभाले जब किसी महिला की कलम समाज के दर्द को अभिव्यक्ति देती है तो उसमें वैशिष्ट्य एवं अधिक प्रमाणिकता होती है ।

संक्षेप में कहे तो भाषा में वह शक्ति है जिससे हर सत्य को उद्‌घाटित किया जा सकता है । हरित भाषा की ज़रूरत पर ध्यान दे तो ज्ञात होगा कि पुरुष स्वार्थता की चकाचौंध में कहीं खो गया है, वह किसी भी पीडित व शोषित की आवाज़ सुनने में असमर्थ है, लेकिन स्त्री प्रकृति से जुडी है, उसमें मानवीय मूल्यों को पहचानने की कुव्वत ज़्यादा है, इसलिए वह उनकी भाषा सुन सकती है, पहचान सकती है उनकी मदद कर सकती है । उपन्यासों में जीत, लिप्सा, सुख, भोग, बाज़ार, स्वार्थता आदि शब्द सीधे हरितभाषा विमर्श की दृष्टि से प्रमुख माने जाते हैं ।

औद्योगिकीकरण व पूँजीवाद के इस दौर में हरित भाषा की सार्थकता है । यह भाषा मानवीयता के करीब है, इस भाषा में स्नेह, दया, ममता व निस्वार्थता है । जो किसी भी जीव को अपनी ओर आकर्षित करती है । इस

भाषा में प्रकृति से जुडने का संदेश है । यह दलितों के प्रति, आदिवासियों और हाशियेकृतों के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करती है । हर स्थिति में इस भाषा का लक्ष्य मानवीय मूल्यों की स्थापना है । यह मानवीय मूल्य पुराने नहीं, जिनमें जडता व स्थिरता आ गई है, यह नव मानवीय मूल्य है, जिसमें स्त्री आगे है जो इन मूल्यों को संभाले हुए है । इसमें प्रकृति से जुडी संस्कृति है, प्रकृति की वेदना है उससे जुडे हर एक जीवन के प्रति गहरी आलोचना है । जो उन्हे सिखाती है, इस पूँजीवादी संस्कृति से लडने की नई सोच । यही नई सोच हरित भाषा के केन्द्र में है अथवा प्रकृति के साथ जुडी सांस्कृतिक इस भाषा में गुँजायमान है । इसमे लोक जीवन और हाशियेकृतों की भाषा भी शामिल है ।

❖ ❖ ❖

उपसंहार

उपसंहार

वर्तमान समाज विकास की चकाचौंध में कहीं खो गया है । विकास की इस चकाचौंध ने मानव को मानव से अलग कर दिया है । विकास के नारे को बुलंद करते हुए बीसवीं शताब्दी का शुभारंभ हुआ था । लेकिन उसका अंत और इक्कीसवीं शताब्दी का आरंभ मानव अस्तित्व को लेकर भीषण आशंका से हुआ । विकास योजनाओं की अदूरदर्शिता, वैज्ञानिकता का दुरुपयोग, पूँजी की केन्द्रियता, प्रौद्योगिकी का क्रमातीत विकास और उपयोग से पृथ्वी तेज रफ्तार से पददलित होती जा रही थी । उसी प्रकार पृथ्वी से जुडे सहज जीवन बिताने वाले सब हाशिये पर धकेल दिए गए । पुरुषवर्चस्ववादी समाज में विकास की अंधी दौड में अधिकारी वर्ग सबसे आगे है । पूँजीवादी संस्कृति में स्वार्थता की बू आती है और इस संस्कृति में पुरुष समर्थ है । अधिकार व सत्ता का वह अधिकारी है, इस कारण वह अपने निजी स्वार्थ के लिए, विकास के नाम पर पृथ्वी का शोषण कर रहा है । पृथ्वी का शोषण मात्र उसका शोषण नहीं, वह उस पृथ्वी से जुडे हर वर्ग का शोषण है जो सहज और प्रकृत है ।

प्रकृति और स्त्री या यों कहिए पृथ्वी और स्त्री दोनों एक दूसरे की पूरक है । दोनों समान धर्मा हैं । औद्योगिकीकरण की गल्त व्यवस्था से दोनों पीडित हैं । दोनों का अस्तित्व संकट में पड गया है । यदि स्त्री व प्रकृति का अस्तित्व मिट्टी में मिल गया तो संपूर्ण प्रलय की चिता में स्वाहा हो

जाएगा इसलिए स्त्री ने इस संकटपूर्ण अवस्था को समझ लिया है वह अपने साथ शोषित होते हर जीव को, पीडित को, प्रकृति को, पूँजीवाद सत्ता की गलत व्यवस्था से बचाना चाहती है । इस सोच का नाम है इकोफेमिनिज़्म । इसने पहले सामाजिक आन्दोलन का रूप धारण किया और बाद में यह साहित्य में प्रविष्ट हुआ । इसने स्त्री-विमर्श और पारिस्थितिक विमर्श को एक साथ मिला दिया । इस विचारधारा को इकोफेमिनिज़्म अथवा पारिस्थितिक स्त्रीवाद नाम से अभिहित किया जाता है ।

पारिस्थितिक-स्त्रीवाद पुरुष से स्त्री की समानता तलाशने में नहीं, वह स्त्री के विमोचन की तलाश में है । क्योंकि स्त्री और प्रकृति के विमोचन से ही जैव-व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था द्वारा मनुष्य जीवन में संतुलन स्थापित हो सकेगा । सबसे प्रमुख मुद्दा यह है कि इकोफेमिनिज़्म में पुरुष को भी पूँजीवादी व्यवस्था के चुंगल से बचाने की सोच निहित है । यानी कि देखा जाए तो मार्क्स ने जो दायित्व मज़दूरों को सौंपा है, वही दायित्व इकोफेमिनिज्म ने स्त्री को सौंपा । मौन वंसत, ग्रीन पीस बेल्ट, चिपको आन्दोलन, नर्मदा बचाओ अन्दोलन, प्लाचिमडा में संपन्न आन्दोलन, इन सब में स्त्री द्वारा मनुष्य और प्रकृति को बचाने की कोशिश है । इन आन्दोलनों में स्त्रियों ने मात्र प्रकृति की रक्षा का आह्वान ही नहीं किया बल्कि उससे जुडे हर वर्ग को शोषण से मुक्त करवाने का प्रयास किया ।

फ्रेंच महिला फ्रान्सवा द यूबोण ने इसे एक दार्शनिक व्यवस्था दी है । उनके अनुसार स्त्री पर आधारित भूमि ही सबको सुरक्षा प्रदान करेगी । मेधा पाटकर, वेदना शिवा, वंगारे मथाई, रेचलकर्सन, महाश्वेता देवी, अरुंधति रॉय, मैलग्मा आदि के कामों से उन्हे इकोफेमिनिस्टों की श्रेणी में माना जा सकता है । यह विमर्श मानव हित के लिए है क्योंकि इस विमर्श की अंतर्दृष्टि मानव को विनाश से बचाने की है जिसमें स्त्री की सहजता व सहिष्णुता का सहारा ले कर प्रकृति को शोषण से मुक्ति दिला कर, उससे जुडे हाशियेकृतों की भलाई शामिल है । यह एक मूल्यवादी विचार है । इसका अपना राजनैतिक पक्ष भी है । इस मुहिम में पहले स्त्री को अपनी अस्मिता तलाश करनी थी, यानी यदि वह खुद को पहचानेगी तभी वह प्रकृति की संरक्षक बन पाएगी । स्त्री की स्थिति एवं मानसिकता में आए बदलाव ने पिछले तीन दशकों से चली आ रही पुरुष सत्तात्मक समाज-व्यवस्था की जड़ें हिला दी है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद में स्त्रीवाद एक प्रमुख तत्व है । क्योंकि रेडिकल नारीवाद का विस्तार समलैंगिक नारीवाद और पारिस्थितिक स्त्रीवाद (Eco-Feminism) के क्षेत्रों में हुआ है । हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र में विशेषतः समकालीन उपन्यासों में इकोफेमिनिज्म के विभिन्न आयामों से रू-ब-रू हुआ जा सकता है । उपन्यास 'कठगुलाब' में मृदुला गर्ग इस सत्य का उद्‌घाटन करती हैं कि स्त्री द्वारा ही समस्त लोक का, याने पीड़ितों का, कल्याण संभव है । उपन्यास की पात्र स्मिता व असीमा मिलकर गोधड गाँव

का निर्माण करती है । वे अपने अस्तित्व को समाज-सेवा और प्रकृति से मिलकर काम करते हुए पहचानने की कोशिश करती है और सफलता भी प्राप्त करती है । उसी प्रकार उपन्यास 'धार' की मैंना, उपन्यास 'इदन्नमम्' की 'मंदा' और उपन्यास 'चाक' की सारंग ऐसी प्रमुख व सशक्त पात्र हैं जिन्होंने अपने अस्तित्व को ही मज़बूत नहीं बनाया बल्कि उनसे जुडे हर शोषितों को शोषण से मुक्त करवाने का प्रयास भी किया है । उपन्यास 'वनतरी' में नायिका वनतरी अपने अस्तित्व को बनाए रखती है और साथ ही साथ जंगल के भविष्य को भी बचाने का प्रयास करती है । अर्थात् उपन्यास की नायिकाएं अपने अस्तित्व को मज़बूत करती हैं और प्रकृति को और उससे जुडे पीडितों को किसी न किसी प्रकार से पूंजीवादी सत्ता की गलत व्यवस्था से बचाने का आह्वान भी करती है ।

वही दूसरी ओर, मानव ने अति आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित, नवीनतम तकनीकी ज्ञान व प्रौद्योगिकी का विकास कर अपने हाथ में सबसे प्रभावी हथियार प्राप्त कर लिया है जिसके बल पर अब वह प्रकृति को भी अपना दास मानता है । इससे यह बात साफ हो जाती है कि मानव ने प्रकृति का दुरुपयोग करना शुरु कर दिया है । प्रकृति से जुडे उसके जीवों का शोषण भी बडे पैमाने पर हो रहा है । जैविक एवं अजैविक (Biotic & Abiotic) दोनों तत्वों पर इस शोषण का प्रभाव है । मानव प्रकृति पर निर्भर होने के बजाय यंत्रों पर आश्रित हो गया या यूँ कहिए कि यंत्रों के आधीन हो

गया है। परिणाम स्वरूप जिस रफ्तार से प्रकृति पैदा होती है, उसी रफ्तार से मानव प्रकृति को तहस-नहस कर रहा है । जब मानवीय हस्ताक्षेप प्रकृति पर होता है, तो इसका घातक परिणाम पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों व मनुष्यों पर भी पडता है । पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रखना ही आज की सबसे बडी माँग है । उपन्यास 'दावानल' में पारिस्थितिक शोषण को बखूबी पेश किया गया है । जंगलों की कटाई पेडों का शोषण आदि इस उपन्यास की प्रमुख चिंता है । उपन्यास में चिपको आन्दोलन की गौरा देवी और उनके इस आन्दोलन को एक कहानी का रूप भी दिया गया है । उसी प्रकार सुभाष पंत का 'पहाड चोर' उपन्यास भी इस दृष्टि से प्रमुख है । चूना पहाड को डाइनामाइट से तोड कर, विकास के नाम पर पूरे गाँव का शोषण होता है। पूरा गाँव विनाश की कगार पर खडा हो जाता है, गाँव की प्रकृति, हवा, पानी, सब विषैली हो जाती है । पानी की धार सूख जाती है । इस प्रकार उपन्यास 'पहाड़ चोर' में पारिस्थितक शोषण को दर्शाया गया है । उपन्यास 'धार' में भी हवा के दूषित व मलिन होने की कहानी है । तेजाब की फेक्टरी के आने से, वहाँ की प्रकृति विषैली हो जाती है । ज़मीन बंजर बन जाती है, जंगल नष्ट हो जाते हैं । अतः इन उपन्यासों में पारिस्थितिक शोषण को बडी बारीकी से दर्शाने का प्रयास हुआ है । पारिस्थितिक स्त्रीवाद इस मुहिम में अपना हाथ आगे बढा चुका है क्योंकि पारिस्थितिकी को बचाने की सबसे पहली जिम्मेदारी स्त्री की है । हासोन्मुख पारिस्थितिकीय तंत्र को संभालने

और भविष्य के विकास की नीति को तय करने के लिए इस अवधारणा को आधार बनाना अतिआवश्यक है ।

पारिस्थितिक-स्त्रीवाद हाशियेकृतों के जागरण, उद्धार एवं रक्षा पर ध्यान देता है । विकास योजनाएँ सबसे ज़्यादा आदिवासी, दलित व अल्पसंख्यकों को अपना शिकार बनाती हैं । उपन्यास 'रह गई दिशाएँ इसी पार' इसका पुख्ता उदाहरण है । उपन्यास में मछुआरों की निजी ज़िन्दगी पर प्रकाश डाला गया है और यह भी दिखाने की कोशिश हुई है कि किस प्रकार विकास ने मछुआरों की ज़िन्दगी को तहस-नहस किया है । उपन्यास की नायिका बेला मछुआरों की जाति को शोषण से मुक्त करवाना चाहती है । इस प्रयास में उसे संघर्ष करना पडता है, लेकिन वह पीछे नहीं हटती । उसी प्रकार विस्थापन की त्रासदी झेलते हिन्दू भट्टों की कहानी है, उपन्यास शिगाफ और उपन्यास दर्दपुर में । दोनों ही उपन्यासों में विस्थापन के दर्द व छटपटाहट को बडी मार्मिकता से पेश किया गया है । सरकारी विकास योजना के लिए जंगल की कटाई, खानखदान, बिजली संयत्रों के कारण पहाड उखड रहे हैं । उपन्यास 'पहाड चोर' में इस संकट को परखने की कोशिश हुई है ।

दूसरी ओर वनवासी विस्थापित हो रहा है । उनकी भूमि मिट्टी के मोल पर लेने वाली सरकार उनका पुनर्वास करने में असमर्थ है । आदिवासियों

का नेता न होने के कारण नक्लवादी, आतंकवादी, ईसाइयों ने जंगलों में सहारा लिया है उपन्यास 'धार' में भी एक पात्र 'मेरी' ईसाई धर्म अपना लेती है लेकिन वह अपने कष्टों से छुटकारा नहीं पाती । अंत में वह मैना से सहायता माँगती है, इसी प्रकार आदिवासी, व गरीबों को ईसाई अपना मोहरा बनाता है । अतः विकास ने, जिस प्रकृति, आदिवासी, दलित और स्त्री को शोषित किया है, उन्हें शोषण से मुक्त करवाने और मानवीय मूल्य को बनाए रखने और मानवता का संदेश देने में एक सशक्त हथियार है पारिस्थितिक स्त्रीवाद ।

पारिस्थितिक स्त्रीवाद में भाषा एक प्रमुख घटक है, भाषा की अपनी व्यापक अवधारणाएँ होती हैं। इसलिए वह मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश करती है । साथ ही वह भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण के बहुआयामी संदर्भों को सार्थक भी बनाती है । इसका सर्वोत्तम उदाहरण है इको-लिंग्विस्टिक्स। यह प्रायोगिक भाषा विज्ञान की सामाजिक कार्रवाईयाँ हैं । 1990 में भाषा विज्ञान की नई शाखा के रूप में इको-लिग्विस्टिक्स का उदय हुआ । माइकेल हालिडे ने पर्यावरण व्यवस्था पर विचार किया और उसे भाषा विज्ञान से भी जोडा । हालिडे के अनुसार इक्कीसवीं सदी के मुद्दों को सामने रखकर भाषाविज्ञान को प्रासंगिक बनाना है, विशेषकर पर्यावरण व्यवस्था में बडे पैमाने पर जो विनाश हो रहा है, उसे एक ज्वलंत विषय के रूप में देखना होगा । यानी कि संसार के सभी जीव-जन्तुओं और पर्यावरण

व्यवस्थाओं तथा मनुष्य एवं मनुष्य के बीच में संतुलन को बनाए रखने की ज़रूरत है । उनके बीच में एक पारस्परिक मेल-जेल होता ही है । वह भाषा के ज़रिए अभिव्यक्त किया जाता है । उस भाषा परक संतुलन के संस्कार को जांचने की प्रक्रिया है हरित भाषा । वर्तमान संदर्भ में संतुलित पर्यावरण व्यवस्था का नाश बडे पैमाने पर हो रहा है, इसलिए इस क्षेत्र में प्रयुक्त भाषा भी बदलती जा रही है ।

हरित भाषा, एक भाषा और उसके पर्यावरण के बीच के संबन्ध का अध्ययन है । बदलती दुनिया की गतिविधियों को अंकित करने में भाषा की जो शक्ति है, हरित भाषा उसे ढूँढ निकालती है । औद्योगीकरण के युग में भाषा वस्तु बन गयी है । 'संरचनावाद ने भाषा को अन्य परिस्थितियों से अलग कर दिया । लेकिन इस बदले परिवेश में, भाषा में, प्रयोग में अंकित पर्यावरण बोध को ढूँढ निकालना हरितभाषा विज्ञान अपना कर्तव्य समझता है । समकालीन हिन्दी उपन्यासों में हरित भाषा संबंधी अध्ययन को परखा जा सकता है । उपन्यासों में ऐसे कुछ शब्दों की बहुलता है जो हरित भाषा से सरोकार रखने वाले हैं । 'कठगुलाब' उपन्यास इसका सबूत है, उपन्यास में खुद 'कठगुलाब' शब्द को लिया जा सकता है । कठगुलाब कभी नहीं फूलता, वह बंजरता का प्रतीक है, लेकिन वह भी शोषण मुक्त एक, प्राकृतिक वातावरण में लहलहाकर फूलने लगता है । उपन्यास की पात्र स्मिता व असीमा इस संघर्ष में अपना योगदान देती हैं । अभी तक उसे बोने

का मौका भी उपन्यास में नही हैं । यांत्रिक एवं औद्योगिक जलवायु में सब बंजर होते जा रहे हैं, लेकिन सामूहिक सहयोग एवं ग्रामीण वातावरण में सब कुछ लहलहाने लगते हैं । 'कठगुलाब' उपन्यास की भाषा में प्रकृति की भाषा बहुत संजीदगी से अनावृत है । दूसरा उपन्यास 'धार' भी इस संदर्भ में प्रमुख है । उपन्यास 'धार' का शीर्षक स्त्री के स्नेह प्रवाह की शक्ति एवं तीक्ष्णता को प्रतिबिंबित करता है । इसमें पूरे एक गाँव को तेजाब की फैक्टरी से उत्पन्न विषैले वातावरण से बचाने के लिए खुद मैना और उसकी माँ तकलीफों को झेलती है । फिर भी वह जनकल्याणकारी कर्म से मुडती नहीं है । वे पूरे गाँव के मैल को दूर करना चाहती हैं । स्त्री की शक्ति की भाषा है, इस उपन्यास में । स्त्री के हाथ में है समाज की सुरक्षा । यह दिखाने में इस उपन्यास की भाषा सहायक है । औद्योगिक संस्कृति के खिलाफ स्त्री हरित भाषा को प्रयोग करती है । औद्योगिकीकरण व पूंजीवाद के इस दौर में हरित भाषा की सार्थकता है । यह भाषा मानवीयता के करीब है । इस भाषा में स्नेह, दया, ममता व निस्वार्थता है । जो किसी भी जीव को अपनी ओर आकर्षित करती है । इस भाषा में प्रकृति से जुडने का संदेश है । यह दलितों के प्रति, आदिवासियों और हाशियेकृतों के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करती है । हर स्थिति में इस भाषा का लक्ष्य मानवीय मूल्यों की स्थापना है । यह मानवीय मूल्य पुराने नहीं, जिनमें जडता व स्थिरता आ गई है । यह नव मानवीय मूल्य है, जिसमें स्त्री आगे है, जो इन मूल्यों को संभाले

हुए है, इसमें प्रकृति से जुडी संस्कृति है, प्रकृति की वेदना है उससे जुडे हर एक जीव के प्रति गहरी आलोचना है । जो उन्हें सिखाती है, इस पूँजीवादी संस्कृति लडने की नई सोच । यही एक नई सोच हरित भाषा के केन्द्र में है अथवा प्रकृति के साथ जुडी संस्कृति इस भाषा में गुंजायमान है यह लोकजीवन की हाशियेकृतों की भाषा है ।

निष्कर्षतः पारिस्थितिक स्त्रीवाद संपूर्ण दुनिया को बचाने का मंत्र लेकर पाश्चात्य देश में अवतरित हुआ । इस मूल्यवादी सिद्धान्त की अनिवार्यता आज बढ गई है । पाश्चात्य देशों के साथ अन्य विकासशील देशों में भी आज विकास के नाम पर जो दोहन संपूर्ण चराचरों का हो रहा है इसको रोकना मनुष्य के भविष्य के लिए बहुत ज़रूरी है । दुनिया को इस विपत्ति से बचाने का दायित्व स्त्री अपने ऊपर लेती है । यह एक अलग सोच का परिणाम है । क्योंकि स्त्री संपूर्ण दुनिया के जीवों को एक साथ सांमजस्य की डोरी में बाँध लेने में समर्थ है । वह हाशियोकृतों की अस्मिता को बचाए रखने का काम करती है, वह शोषितों को, जो शोषण से लाचार है, उन्हें शोषण से बचाकर एक संतुलित जीवन-शैली को बचाने का प्रयत्न करती है। वहाँ द्वन्द्व की नहीं, समन्वय की दृष्टि व्याप्त है । ममता, अहिंसा और बहनापे को हथियार बना कर स्त्री समस्त संसार में संतुलन करना चाहती है ।

दुनिया की सृष्टि के लिए स्त्री में सबसे पहले विवेक का उदय होना

चाहिए । एक विवेकी स्त्री ही प्रत्येक चराचर की रक्षा कर संपूर्ण दुनिया में एक संतुलित स्थिति स्थापित कर सकती है । उसके ज़रिए एक सामूहिक अवस्थिति संभव होगी । इस स्थिति में सब परस्पर मानने और सम्मान करने के लिए तैयार हो जाते हैं । अंधाधुध स्वार्थ से उत्पन्न भयानक जो स्थिति है वह शांत वातावरण में परिणत हो जाएगा । स्त्री की शक्ति और प्रयत्न को इस लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए समकालीन उपन्यासों में जो कोशिश हो रही है उसके ज़रिए स्त्रीवाद का दायरा बढता जा रहा है । स्त्री की आस्थावादी, मानव रक्षा, एवं बहनापे का यह विशाल दृष्टिकोण, साहित्य की दुनिया में उम्मीद प्रदान कर रहा है ।

❖ ❖ ❖

परिशिष्ट

पर्चा प्रस्तुति

1. समकालीन हिन्दी उपन्यास का लोकपक्ष
2. उपन्यास 'कठगुलाब' पारिस्थितिक स्त्रीवाद के संदर्भ में एक अध्ययन
3. उपन्यास 'धार' में पारिस्थितिक स्त्रीवाद के विविध आयाम
4. समकालीन हिन्दी उपन्यास की हरित भाषा

शोधार्थी द्वारा प्रकाशित लेख

1. यथार्थ की रस्सी से बुने हुए लोग - अनुशीलन (शोध पत्रिका) जुलाई 2013
2. समकालीन उपन्यासों का लोकपक्षः इकोफेमिनिज़्म के संदर्भ में - अनुशीलन (शोध पत्रिका) जुलाई 2014
3. प्रणाम कविता - मूलः सुगतकुमारी (अनु. जी सुजीता - गाँधी स्मृति एवं दर्शन समिति, 2014)
4. स्त्री लेखनः कल आज और कल - अनुशीलन (शोध पत्रिका) जुलाई 2015
5. भाषा साहित्य और संस्कृति की एक रूपता का सवाल - अनुशीलन (जनवरी 2014)

संदर्भ ग्रंथसूची

संदर्भ ग्रन्थसूची

आधार ग्रंथ

1. संजीव — धार
राधाकृष्ण प्रकाशन
प्राइवेट लिमिटेड
अंसारी मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 1990

2. नवीन जोशी — दावानल
सामयिक प्रकाशन
जटवाडा,
नेताजी सुभाष मार्ग
दरियागंज, नई दिल्ली
सं. 2008

3. कृष्णा सोबती — समय सरगम
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, सं. 2008

4. संजीव — रह गई दिशाएं इसी पार
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, सं. 2011

5. मैत्रेयी पुष्पा — चाक
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, सं. 1997

6.	मृदुला गर्ग	कठगुलाब भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया लोदी रोड, नई दिल्ली सं. 2009
7.	मैत्रेयी पुष्पा	अल्मा कबूतरी राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली, सं. 2000
8.	सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव	वनतरी साहित्य संसद प्रकाशन आर. जेड, 35 बी, गली नं. ए, कैलाश पुरी एक्सटेंशन, नई दिल्ली सं. 2009
9.	मनीषा कुलश्रेष्ठ	शिगाफ राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली, सं. 2010
10.	कमलेश्वर	अनबीता व्यतीत लोकभारती प्रकाशन 15 ए. महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद, सं. 2005
11.	मैत्रेयी पुष्पा	बेतवा बहती रही किताबघर, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 1994

12. संजीव — पॉव तले की दूब
वाग्देवी प्रकाशन
बीकानेर, सं. 2005

13. चित्रा मुद्गल — एक ज़मीन अपनी
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2006

14. अलका सरावगी — शेष कादंबरी
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, सं. 2001

15. सुभाष पंत — पहाड चोर
राजपाल एण्ड सन्स
कश्मीरी गेट, नई दिल्ली
सं. 2005

16. मैत्रेयी पुष्पा — इदन्नमम्
राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि.
नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, सं. 1999

17. क्षमा कौल — दर्दपुर
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, सं. 2004

18. शरद सिंह — पिछले पन्ने की औरतें
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली
सं. 2007

19. भगवान दास मोरवाल — रेत
राजकमल प्रकाशन
नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, सं. 2008

20. अनामिका — दस द्वारे का पिंजरा
राजकमल प्रकाशन
नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली, सं. 2008

21. चित्रा मुद्गल — आवां
सामायिक प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 1999

22. नासिरा शर्मा — कुइयांजान
सामयिक प्रकाशन
सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 2007

आलोचनात्मक ग्रंथ

1. डॉ. के. वनजा — इको फेमिनिज़्म
वाणी प्रकाशन, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 2013

2. डॉ. के. वनजा — हरित भाषा वैज्ञानिक विमर्श
वाणी प्रकाशन, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 2015

3. डॉ. के. वनजा — साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, वाणी प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली
सं. 2011

4.	सविता सिंह	अपने जैसा जीवन राधाकृष्णा प्रकाशन जगतपुरी, दिल्ली, सं. 2001
5.	शशिकला राय	कथा समय (सृजन और विमर्श) किताब घर प्रकाशन अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली, सं. 2008
6.	रमणिका गुप्ता	आदिवासीः विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लि. अंसारी रोड, दिल्ली सं. 2008
7.	प्रभा खेतान	बाज़ार के बीच, बाज़ार के खिलाफ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2004
8.	विभा देवसरे	स्वागत है बेटी मेधा बुक्स-नवीन शहदरा नई दिल्ली, सं. 2002
9.	मृणाल पांडेय	जहाँ औरते गढी जाती है राधाकृष्ण प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली सं. 2006
10.	रमणिका गुप्ता	आदिवासीः अस्मिता का संकट, सामयिक प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2012

11. (सं) दया दीक्षित	मैत्रेयी पुष्पा (तथ्य और सत्य) सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली सं. 2010
12. डॉ. हरिशचन्द्र सिंह	पर्यावरणीय अध्ययन ग्रीनलीफ पब्लिकेशन राधाकृष्ण मंदिर, वाराणासी सं. 2009
13. सं. शंभुनाथ द्विवेदी	हिन्दी उपन्यासों में दलित जीवन पूजा पब्लिकेशन प्रकाशन कानपुर, सं. 2013
14. डॉ. जशवंभभाई जी पड्या	हिन्दी साहित्यः नव विमार्श ज्ञान प्रकाशनठ कानपुर, सं. 2009
15. नासिरा शर्मा	औरत के लिए औरत सामयिक प्रकाश, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2003
16. ममता किरण	वृक्ष था हरा भरा किताब घर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2012
17. मैनेजर पांडेय	उपन्यास और लोकतंत्र वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली सं. 2013

18. रोहिणी अग्रवाल — साहित्य की ज़मीन और स्त्री-मन के उच्छवास
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2014

19. मैत्रेयी पुष्पा — मेरे साक्षात्कार
किताबधर प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2010

20 (संपा) सुधा अरोडा — औरत की कहानी
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, सं. 2008

21. मृणाल पांडेय — परिधि पर स्त्री
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 1996

22. (संपा) दिनेश नंदिनी डालमिया — नए आयामों को तलाशती नारी, नवचेतन प्रकाशन
उत्तम नगर, दिल्ली
सं. 2003

23. रमणिका गुप्ता — आदिवासी स्वर और नई शताब्दी
वाणी प्रकाशन, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 2002

24. निर्मल वर्मा — ढलान से उतरते हुए
भारतीय ज्ञानपीठ,
लोदी रोड, दिल्ली, सं. 1987

25. भगवान गन्हाडे — आदिवासी मोर्चा
वाणी प्रकाशन, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 2015

26. प्रभा खेतान	उपनिवेश में स्त्री (मुक्त कामना की दस वार्ताए) राजकमल प्रकाशन, सुभाष मार्ग नई दिल्ली, सं. 2003
27. मैनेजर पांडेय	भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2013
28. मैनेजर पांडेय	आलोचना में सहमति - असहमति वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2013
29. मैनेजर पांडेय	हिन्दी कविता का अतीत और वर्तमान नाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2013
30. सुधा अरोडा	आम औरत जिंदा सवाल सामयिक प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली सं. 2009
31. साधना आर्य, निवेदिता मेनन	नारीवादी राजनीति (संघर्ष एवं मुद्दे) दिल्ली विश्वविद्यालय, सं. 2001
32. सिमोन द बुआर	स्त्री उपेक्षिता हिन्द पाकेट बुक सं. 1998

33. रेखा कस्तवार	स्त्री चिंतन की चुनौचियां राजकमल प्रकाशन, सुभाष मार्ग नई दिल्ली, सं. 2006
34. अनामिका	मन मांझने की ज़रूरत सामयिक प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली सं. 2006
35. तसलीमा नसरीन	नष्ट लडकीः नष्ट गद्य वाणी प्रकाशन, दरियागंज सं. 1995
36. (सं) राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा	औरत उत्तरकथा राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2002
37. रमणिका गुप्ता	दलित चेतनाः साहित्यिक एवं सामाजिक चेतना समीक्षा प्रकाशन गाँधी नगर, नई दिल्ली, सं. 2001
38. डॉ. सुधा बी	हिन्दी कथा साहित्य में रूढिमुक्त स्त्री गोविन्द पचौरी प्रकाशन, जवाहरलाल पुस्तकालय हिन्दी पुस्तक, मथुरा
39. सुभाष सेतिया	स्त्री अस्मिता के प्रश्न कल्याणी शिक्षा परिषद दरियागंज, नई दिल्ली सं. 2006

40. डॉ. एन. मोहनन
समकालीन हिन्दी कहानी
शिल्पायन प्रकाशन
शाहदरा, दिल्ली, सं. 2007

41. रोहिणी अग्रवाल
समकालीन कथा साहित्य
(सरहदें और सरोकार)
आधार प्रकाशन प्राइवेट
लिमिटेड, पंचकूला
हरियाणा, सं. 2007

42. मैत्रेयी पुष्पा
खुली खिडकियां
सामयिक प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली
सं. 2003

43. अरविंद जैन
महिला लेखन का
समाजशास्त्रीय अध्ययन
प्रकाशक प्राइवेट लिमिटेड
मथुर बिहार, दिल्ली
सं. 2001

44. राजेन्द्र यादव
आदमी की निगाह में औरत
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2001

45. राजेन्द्र यादव
उपन्यास स्वरूप और
संवेदना
वाणी प्रकाशन, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 1997

46. राकेश कुमार
नारीवादी विमर्श
आधार प्रकाशन
हरियाणा, सं. 2001

47. डॉ. गोपा जोशी — भारत में स्त्री असमानता (एक विमर्श) हिन्दी माध्यम, कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय सं. 2006

48. लिला दुबे — लिंगभाव का मानव वैज्ञानक अन्वेषण (प्रतिच्छेदी क्षेत्र) वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2004

49. अरविंद जैन — औरत-अस्तित्त्व और अस्मिता सारांश प्रकाशन प्रइवेट लि. सं. 2001

50. कृष्णदत्त पालीवाल — उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2008

51. सुदेश बत्रा — प्रतिरोध के स्वर राम पब्लिशिंग हाऊस जयपुर, सं. 2012

52. अनामिका — पानी जो पत्थर पीता है प्रकाशन संस्थान, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2005

53. वृदा करात — जीना है तो लडना होगा सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2007

54. डॉ. दर्शन पांडेय
नारी अस्मिता की परख
संजय प्रकाशन, अंसारि रोड
दरियागंज, नई दिल्ली,
सं. 2004

55. (सं) सुमन कृष्णदत्त
इक्कीसवीं सदी की ओर
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
नई दिल्ली, सं. 2005

56. प्रमीला के.वी
स्त्री यौनिकता बनाम
अध्यात्मिकता
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
नई दिल्ली, सं. 2010

57. डॉ. वीना रानी यादव
हिन्दी उपन्यासों में स्त्री
अस्मिता की अभिव्यक्ति
एकता अपार्टमेंट,
गीता कोलनी,
सं. 2006

58. मैत्रेयी पुष्पा
चर्चा हमारा
सामयिक प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली,
सं. 2009

59. डॉ. उषा यादव
हिन्दी की महिला उपन्यासों
की मानवीय संवेदना
राधाकृष्ण प्राइवेट लिमिटेड
दरियागंज, नई दिल्ली,
सं. 2009

60. राधा कुमार
स्त्री संघर्ष का इतिहास
वाणी प्रकाशन, दरियागंज
सं. 2002

61. डॉ. विजय कुमार रोडे — उतरशती के उपन्यासों में दलित विमर्श
दिव्य डिस्ट्रीब्यूटेर्स प्रकाशन
कानपुर, सं. 2014

62. नीलाभ — प्रतिमानों की पुरोहिती
सदानीरा प्रकाशन
खुसरो बाग रोड
इलाहाबाद

63. राजेन्द्र यादवः अर्चना वर्मा — अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2001

64. डॉ. प्रीति प्रभा गोयल — भारतीय नारीः विकास की ओर मिनर्वा पब्लिकेशन
जोधपुर, सं. 2009

65. कात्यायनी — दुर्ग द्वार पर दस्तक
परिकल्पना प्रकाशन
लखनऊ, सं. 1997

66. डॉ. अमर ज्योति — महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारीवादी विमर्श
अन्नपूर्णा प्रकाशन
कानपुर, सं. 1999

67. तसलीमा नसरीन(अनु. सुशीला गुप्ता) — औरत का कोई देश नहीं
वाणी प्रकाशन, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 2009

68. (सं) जगदीश चतुर्वेदी, सुधा सिंह — स्त्री अस्मिता-साहित्य और विचारधारा
आनन्द प्रकाशन
कोलकत्ता, सं. 2004

69. अनामिका — स्त्री विमर्श का लोकपक्ष
वाणी प्रकाशन, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 2012

70. एलाडबम विजय लक्ष्मी — समकालीन हिन्दी उपन्यासः समय से साक्षात्कार
राधाकृष्ण प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली,
सं. 2006

71. (सं) राजकिशोर — स्त्री के लिए जगह
वाणी प्रकाशन, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 1994

72. कुसुम त्रिपाठी — और इतिहास रचा है तुमने
कल्याणी शिक्षा परिषद
दरियागंज,
नई दिल्ली, सं. 2010

73. मृदुला सिन्हा — मात्र देह नहीं औरत
सामयिक प्रकाश, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 2007

74. रमणिका गुप्ता — आधी दुनिया
बी.एम. एन. प्रकाशन
लघुनऊ, सं. 2001

75. शैलन्द्र, रजनी गुप्त	आजाद औरतः कितनी आज़ाद सामयिक प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2008
76. क्षमा शर्मा	स्त्री का समय मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा नई दिल्ली, सं. 2001
77. उषा महाजन	बाधकों के बावजूदः नई औरत मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा नई दिल्ली, सं. 2001
78. (सं) रमणिका गुप्ता	आदिवासी कौन? राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि अंसारी मार्ग, दरियागंज सं. 2008
79. डॉ. नामवर सिंह	आधुनिक हिन्दी उपन्यास राजकमल प्रकाशन नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, सं. 2010
80. डॉ. एन. मोहनन	समकालीन हिन्दी उपन्यास वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2013
81. (सं) शरण कुमार लिबाले	दलित साहित्य वेदना और विद्रोह, वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2010

82. दीप्ती शर्माः डॉ. महेन्द्र कुमार — पर्यावरण शिक्षण एवं जनचेतना अर्जुन पब्लिकेशन हाऊस दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2009

83. डॉ. बी. एल. शर्मा — मानव एवं पर्यावरण मलिक एंड कंपनी जयपुर, सं. 2004

84. रमाकांत पांडेय — जैवमंडल अनुभव पब्लिकेशन, नवीन शाहदरा सुभाष पार्क, दिल्ली सं. 2012

85. वीरेन्द्र पेन्यूली — पर्यावरण और वनसंरक्षण (समस्या एवं समाधान) तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली

86. प्रेमचंद चंदोला — प्रदुषण पृथ्वी का ग्रहण हिमाचल पुस्तक भंडार सरस्वती भंडार, गाधीनगर, दिल्ली, सं. 2008

87. गोविंद चातक — पर्यावरण और संस्कृति का संकट, तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 1992

89. डॉ. महेश गुप्त — लोक साहित्य का शास्त्रीय अनुशीलन नेहा प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2008

90. नीलम गुप्ता — छोटी ढबरी और नर्मदा
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2004

91. प्रो. हरिमोहन — पर्यावरण और लोक अनुभव
टी.एस. बिष्ट प्रकाशन
तक्षशिला प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2007

92. डॉ. सुजाता बिष्ट — पर्यावरण प्रदूषण और इक्कसवीं सदी
तक्षशिला प्रकाशन
हिन्दी पार्क, दरियागंज
सं. 1992

93. वजीर्निया वुल्फ — अपना एक कमरा
वाणी प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली,
सं. 2011

94. (सं) प्रो. श्रीराम शर्मा — समकालीन हिन्दी साहित्य विविध विमर्श
वाणी प्रकाशन, दरियागंज
नई दिल्ली, सं. 2009

95. डॉ. श्रीनिवास सिंह — पर्यावरण प्रौद्योगिकी
ग्रामोदय प्रकाशन
पांडव रोड, विश्वास नगर
दिल्ली, सं. 2012

96. डॉ. अरुण कुमार त्रिपाठी — मेधा पाटकर (नर्मदा आंदोलन और आगे)

97. डॉ. प्रभा दीक्षित	स्त्री अस्मिता के सवाल साहित्य निलय प्रकाशन कानपुर, सं. 2011
98. सरला माहेश्वरी	नारी प्रश्न राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि. दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2007
99. राजकिशोर	स्त्रीत्व का उत्सव वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2003
100. चित्रा मुद्गल	लहखानों में बंद अक्स कल्याणी शिक्षा परिषद जटवाडा, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2012
101. शुभु पाटवा	पर्यावरण की संस्कृति वाग्देवी प्रकाशन बीकानेर, सं. 1993
102. राज किशोर	स्त्री-पुरुष कुछ पुनर्विचार वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं. 2006
103. डॉ. भरत सगरे	हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में आदिवासी जनजीवन दिव्य डिस्ट्रीब्यूटेर्स (कानपुर), सं. 2014
104. (सं) डॉ. शोभा वेरेकर	हिन्दी उपन्यास नारी विमर्श अभय प्रकाशन, हंसपुरम कानपुर, सं. 2010

मलयालम पुस्तकें

1.	सारा जोसफ	आत्मरोषकलुम आकुलतकलुम ग्रीन बुक्स, प्रा. लि. लिटिल रोड, त्रिशूर सं. 2009
2.	एन. अजुत कुमार	परिस्थिति संगठनकलुम, परिस्थि प्रवर्तकरुम विनायक बुक हाउस कोट्टयम, सं. 2013
3.	वंगारी मथाई (अनु - कबनी)	तलकुनीकाते औरू पेन्निडे आत्मकथा (ग्रीन बेल्ट प्रस्थान नायिका) समता ए कलटिव फॉर जेडर जसरिस त्रिशूर, सं. 2012
4.	क्रिस विल्यमस (अनु. रति. मेनन)	परिस्थितियोमं सोश्यलि डी.सी. बुक्स, कोट्टयम सं. 2013

पत्र-पत्रिकाऐं

1.	अनुशीलन	- जुलाई - 2014
2.	नया ज्ञानोदय	- मार्च - 2010
3.	मधुमती	- जनवरी - 1999
4.	इरावती	- अक्तूबर-दिसंबर 2013
5.	आलोचना	- मार्च - 2013

6. मधुमती - जून - 1992
7. अंतिम जन - जून - 2013
8. हिन्दूस्तान जबान - दिसंबर - 2013
9. मधुमती - जून-जुलाई - 2010
10. आज-कल - जून - 1986
11. नई धारा - जून - जुलाई - 2013
12. भाषा - अगस्त - 2005
13. साक्षात्कार - जुलाई - 1999
14. मधुमती - जनवरी - 1995
15. मधुमती - सितंबर - 2011
16. अनूशिल - जुलाई - 2013
17. आलोचना - मार्च - 2014
18. नया ज्ञानोदय - मार्च - 2009